॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज हीरक जयन्ती प्रकाशन माला

पुष्प संख्या ६४

श्री समन्तभद्राचार्य विरचित

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

प्रेरणा स्रोत :

प० पू० १०८ उपाध्याय मुनि श्री भरतसागरजी महाराज

हिन्दी टीका :

आर्यिका १०५ श्री आदिमती माताजी

दि. ....
क्रमांक ....

प्रकाशक :

श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वद् परिषद्

सोनागिर (म० प्र०)

आद्य वक्तव्य

रागद्वेष द्वयीदीर्घा नेत्राकर्षण कर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ।।

यद्यपि जीव टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव वाला है तथापि अनादि काल से कर्म संयुक्त होने से रागी द्वेषी होता हुआ अपने स्वभाव से च्युत होकर संसार परिभ्रमण कर रहा है।

यह लोकोक्ति है कि—

जिस तरह मंदराचल को दीर्घ नेत्राकर्षण के कारण बहुत काल तक समुद्र में घूमना पड़ा था। अर्थात्–अन्य सम्प्रदाय में यह कथा प्रसिद्ध है कि जब मंदराचल को विशाल नेत्र धारण करने की इच्छा हुई तब नारायण ने नेतरी से समुद्र का मन्थन किया, जिससे मंदराचल को बहुत काल तक समुद्र में घूमना पड़ा था। उसी प्रकार अज्ञान के कारण जो जीव राग-द्वेष में संलग्न रहते हैं इष्ट अथवा प्रिय पदार्थों में प्रेम अनिष्ट एवं अप्रिय पदार्थों में द्वेष रखते हैं वे चिरकाल तक संसार में जन्म मरणादि के अनेक कष्ट उठाते रहते हैं।

संसार दुःखमय है इस दुःख से छुटकारा तब तक नहीं हो सकता जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती। कर्ममुक्ति ही वास्तव में मुक्ति है।

मोक्ष प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हुए आचार्यों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता को मोक्ष का मार्ग बतलाया है। इन तीनों के माध्यम से द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मों का अभाव होता है क्योंकि सम्यग्दर्शनादिक आत्मा के स्वभाव होने से धर्म कहलाते हैं तथा इनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अधर्म कहे जाते हैं। धर्म से मोक्ष और अधर्म से संसार प्राप्त होता है। अतः मोक्षाभिलाषी जीवों को रत्नत्रयरूप धर्म को धारण करना चाहिए।

इस ग्रन्थ में तीनों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। जैनागम में चारों अनुयोगों में विभिन्न दृष्टि कोण से सम्यग्दर्शन पर प्रकाश डाला गया है। प्रथमानुयोग और चरणानुयोग की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का स्वरूप इस प्रकार है—

परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु का तीन मूढता, आठ मदों से रहित और आठ अंगों से सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं वे सच्चे देव कहलाते हैं । वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि को अवधारण कर गणधरादिकों के द्वारा गुम्फित आगम को शास्त्र कहते हैं । तथा जो विषयों की आशा और आरंभ परिग्रह से रहित निष्परिग्रही एवं ज्ञान-ध्यान और तप में लवलीन साधु गुरु कहलाते हैं । इन तीनों के अवलम्बन से प्राणी संसाररूपी कारावास एवं अनादि कर्मबन्धन से परिमुक्त हो सकता है ।

करणानुयोग में—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होने वाली श्रद्धागुण की स्वाभाविक परिणति को सम्यग्दर्शन कहा है । करणानुयोग के सम्यग्दर्शन हो जाने पर नियम से प्रथमानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन हो जाता है । किन्तु शेष अनुयोग के सम्यग्दर्शन होने पर करणानुयोग के अनुसार सम्यग्दर्शन हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है ।

द्रव्यानुयोग—में जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्व एवं पुण्य-पाप सहित नौ पदार्थ के यथावत श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है तथा इसी अनुयोग के अंतर्गत अध्यात्म ग्रन्थों में परद्रव्यों से भिन्न अपने आत्म द्रव्य की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है ।

बन्ध मोक्ष के प्रकरण में करणानुयोग का सम्यग्दर्शन अपेक्षित है अन्य का नहीं । किन्तु यह सम्यग्दर्शन पुरुषार्थपूर्वक प्राप्त नहीं किया जा सकता है, पुरुषार्थपूर्वक तो प्रथमानुयोग चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग के अनुसार प्रतिपादित सम्यग्दर्शन को ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि जीव बुद्धिपूर्वक परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु की शरण ग्रहण करता है, उन पर श्रद्धान रखता है आगम का अभ्यास करता हुआ तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करता है इस प्रकार अनुकूल सामग्री प्राप्त हो जाने पर करणानुयोग के अनुरूप सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तब उस जीव के संवर और निर्जरा होने लगती है ।

सम्यग्दृष्टि जीव अपनी ज्ञान वैराग्यशक्ति के कारण सांसारिक कार्य करता हुआ जल में रहने वाले कमल के सदृश निर्लेप रहता है । स्वरूप की ओर दृष्टि रखने

से सम्यग्दृष्टि जीव अनंत संसार के कारणभूत बन्ध से बच जाता है। सम्यग्दृष्टि की कषाय का संस्कार छह माह से ज्यादा नहीं रहता यदि किसी के छह माह से अधिक कषाय का संस्कार बना है तो वह नियम से मिथ्यादृष्टि है। सम्यक्त्वी जीव अन्याय अभक्ष्य का त्यागी होता है यह भय आशा स्नेह लोभ से भी कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु को नमन नहीं करता है।

सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन करते हुए समंतभद्राचार्य ने कहा है कि सम्यग्दृष्टि की नरक में उत्पत्ति नहीं होती, हां यदि सम्यग्दर्शन होने के पहले नरकायु का बन्ध कर लिया तो वह प्रथम नरक के नीचे नहीं जाता है, यदि मनुष्य और तिर्यंचायु का बंध हो गया तो भोगभूमि का मनुष्य-तिर्यंच होगा कर्मभूमि का नहीं। सम्यग्दर्शन के काल में यदि मनुष्य व तिर्यंचों की आयु का बन्ध होता है तो नियम से देवायु का ही बंध होता है। सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी गति की स्त्रीपर्याय में जन्म नहीं लेता। मनुष्य और तिर्यंचगति में नपुंसक भी नहीं होता, भवनत्रिक में पैदा नहीं होता, इस प्रकार सम्यग्दृष्टि का बाह्य आचरण और आंतरिक भावना बदल जाती है।

सम्यग्ज्ञान—सम्यग्दर्शन के होते ही ज्ञान में भी समीचीनता आ जाती है, मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत सात तत्त्व बतलाए हैं उनका संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जो पदार्थों को न्यूनता रहित अधिकता रहित विपरीतता रहित ज्यों का त्यों संदेह रहित जानता है उसे आगम के ज्ञाता पुरुष सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है।

जिस प्रकार सूर्य के उदित होते ही उसका प्रताप और प्रकाश एक साथ ही प्रकट होता है उसी प्रकार मिथ्यात्व के दूर होते ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं फिर भी दीपक और प्रकाश के सदृश दोनों में कारण और कार्य की अपेक्षा भेद है। अर्थात् सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन होने के पहले भी जीव में ज्ञान है किन्तु वह ज्ञान समीचीन नहीं है उसके द्वारा तत्त्वों का यथार्थस्वरूप नहीं जाना जा सकता। सम्यग्दर्शन के होते ही जीव के अन्दर जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है।

सम्यग्ज्ञान के पांच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमें आदि के चार ज्ञान क्षायोपशमिकज्ञान हैं और अन्तका केवल-

ज्ञान क्षायिक है । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान हैं, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान देशप्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है ।

मतिज्ञान—जो पांचों इन्द्रिय और मनकी सहायता से पदार्थों को जानता है वह मतिज्ञान है, इसके अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा की अपेक्षा चार भेद हैं, ये चारों ज्ञान बहु-बहुविध आदि बारह प्रकार के पदार्थों को विषय करते हैं इसलिए अड़तालीस भेद हुए ये पांचों इन्द्रियों और मन से होता है अतः दो सौ अठासी भेद हुए ।

अवग्रह के दो भेद हैं—व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह । अस्पष्ट पदार्थ का व्यञ्जनावग्रह ही होता है तथा यह चक्षु व मन से नहीं होता इसलिए बहु आदि बारह को चार से गुणा करने पर अड़तालीस भेद व्यञ्जनावग्रह के होते हैं, एवं अर्थावग्रह के दो सौ अठासी इस प्रकार सब मिलकर मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं ।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञान के बाद अस्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिए हुए जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं यह ज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, इस श्रुतज्ञान के पर्याय, पर्यायसमास आदि की अपेक्षा बीस भेद हैं । अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट की अपेक्षा दो भेद हैं । अंगबाह्य के अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्ट के आचारांगादि बारह भेद हैं । तथा यह द्रव्यश्रुत चार अनुयोगों में विभक्त है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग इन चारों अनुयोगों का अभ्यास करके व्यक्ति समीचीन ज्ञान को दृढ़ कर सकता है ।

अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तो अपने-अपने आवरणों के क्षय होने पर स्वयं प्रकट हो जाते हैं, उनमें मनुष्यों का पुरुषार्थ नहीं चलता, केवल पुरुषार्थ के बल पर तो श्रुतज्ञान को प्रकट किया जा सकता है । अतः अप्रमादी बन कर श्रुताभ्यास करना चाहिए ।

अवधिज्ञान—जो इन्द्रिय, मन तथा अन्य पदार्थों की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानता है वह अवधिज्ञान है । अवधिज्ञान चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है यह ज्ञान भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनों प्रकार का होता है, इसका अंतरंग कारण अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम है । अवधिज्ञान के देशावधि परमावधि सर्वावधि ये तीन भेद होते हैं । देशावधि चारों गतियों में हो सकता है परन्तु परमावधि-सर्वावधिज्ञान चरमशरीरी मुनियों के होते हैं ।

मन:पर्ययज्ञान—जो इन्द्रियों की सहायता के बिना दूसरे के मन में स्थितरूपी पदार्थ को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिये स्पष्ट जानता है उसे मन:पर्यय-ज्ञान कहते हैं, यह ज्ञान मुनियों के होता है। मन:पर्ययज्ञान के दो भेद हैं–ऋजुमति, विपुलमति। ऋजुमति प्रतिपाती है, विपुलमति अप्रतिपाती। ऋजुमति की अपेक्षा विपुल-मति अधिक विशुद्ध है। ऋजुमति तो सामान्य मुनियों के भी हो सकता है परन्तु विपुलमति उन्हीं मुनियों के होता है जो तद्भवमोक्षगामी हैं। इसका अंतरंग कारण मन:पर्ययज्ञानावरण का क्षयोपशम है।

केवलज्ञान—जो मोहनीय और शेष घातिया कर्मों के सर्वथाक्षय हो जाने पर तेरहवें गुणस्थान में प्रकट होता है, यह ज्ञान क्षायिक है तथा बाह्य पदार्थों की सहायता के बिना लोकालोक के समस्त पदार्थों को और उनकी त्रिकाल सम्बन्धी अनन्त पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान असहाय है, यह ज्ञान गुण की सर्वोत्कृष्टपर्याय है सादी अनन्त है इस ज्ञान को प्राप्त करने वाला मनुष्य अधिक से अधिक देशोनपूर्वकोटि वर्ष के भीतर नियम से मोक्ष चला जाता है यह ज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है।

अत: पांचों ज्ञान प्रमाणरूप हैं। प्रमाण के परोक्ष और प्रत्यक्ष की अपेक्षा दो भेद हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान प्रत्यक्षज्ञान हैं।

अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान देश प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है।

सम्यक्चारित्र—चारित्र के दो भेद हैं–निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र। अपने शुद्ध स्वरूप में रमण (निश्चल) होने को निश्चयचारित्र कहते हैं।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पंच पापों से निवृत्त होने को व्यवहार चारित्र कहते हैं। यह चारित्र सकल विकल के भेद से दो प्रकार का है। पंच पापों का सर्वथा त्यागरूप सकलचारित्र कहलाता है यह मुनियों के होता है। और पंच पापों का एक देश त्याग विकलचारित्र कहलाता है, यह गृहस्थों के होता है। सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही होती है, इसके बिना चारित्र में समीचीनता नहीं आती।

गुरुवर आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज की कृपा से हुआ जिन्होंने मुझे आर्यिका दीक्षा देकर उद्धार किया, तथा स्व. आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराजजी की सदैव अनुकम्पा रही इनके चरण सानिध्य में रहकर आगम के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ एवं ग्रन्थों के कार्य करने की प्रेरणा मिली ऐसे महान सन्तों के चरणों में विनम्र शत-शत नमन है ।

संसार सिन्धु से पार करने के लिए हस्तावलम्बन स्वरूप विश्व विख्यात धर्म प्रभाविका सरस्वती की प्रतिमूर्ति आर्यिका रत्न ज्ञानमति माताजी जो मेरी आद्यगुरु हैं जिन्होंने संरक्षण एवं अध्ययन कराकर मुझ पर अनन्त उपकार किया है, मैं परमोपकारिणी गुरुमाता के चरणों में वन्दन करते हुए यह भावना करती हूं कि इनकी सदैव कृपा रहे ।

लेखन कार्य कराने की प्रेरणा आर्यिका श्रुतमतीजी की सदा रहा करती है ये स्वस्थ रहकर स्वयं अध्ययन करते हुए जिनवाणी की सेवादि कार्यों में सदा भाग लें यह मेरी हार्दिक भावना है ।

इस ग्रन्थ के संशोधक डा० चेतनप्रकाश पाटनी हैं जिन्होंने अनेक ग्रन्थों का संशोधन एवं संपादन किया है आपको जिनवाणी के प्रकाशन की विशेष अभिरुचि है, आपके माध्यम से अनेक महत्वपूर्ण कृतियां प्रकाशित हुई हैं ।

मेरी यह भावना एवं आशीर्वाद है कि ये सतत जिनवाणी माता की सेवा करके सम्यग्ज्ञान की गरिमा को बढ़ाते रहें ।

—आ० आदिमती

परिमाणव्रत इन तीन को गुणव्रत बतलाया है। 'तत्त्वार्थसूत्रकार ने सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाणव्रत तथा अतिथिसंविभाग इन चार को शिक्षाव्रत कहा है। परन्तु रत्नकरण्ड में देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य इन चार को शिक्षाव्रत कहा है। कुन्दकुन्द स्वामी ने सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना इन चार को शिक्षाव्रत कहा है।

आचार्यों ने विकलचारित्र को ग्यारह प्रतिमाओं में विभक्त किया है इसका वर्णन समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्डश्रावकाचार के अन्तिम अध्याय में अच्छा किया है।

इस ग्रन्थ के रचयिता समन्तभद्राचार्य हैं। दिगम्बराचार्यों में इनका महत्वपूर्ण स्थान है ये न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, मंत्र, तन्त्र आदि सभी विद्याओं के पारगामी थे वाद-विवाद में अत्यन्त पटु थे। तिरूमकूड ुनरसीपुर के शिलालेख नं० १०५ में भी आपका उल्लेख इस प्रकार किया है—

समन्तभद्रस्संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विषः॥

अर्थात् वे समन्तभद्र मुनीश्वर किसके द्वारा संस्तुत्य नहीं हैं जिन्होंने वाराणसी नगरी के राजा के आगे जिनशासन से द्वेष रखने वाले प्रतिवादियों को पराजित किया था।

इस प्रकार समन्तभद्राचार्य के कृतित्व एवं व्यक्तित्व को बतलाने वाले अनेक उल्लेख पाये जाते हैं, इन्होंने सर्वत्र विहार कर जिनधर्म की महती धर्म प्रभावना की और सच्चे जिनधर्म की प्रतिष्ठा की।

यद्यपि मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन का प्रथम स्थान है, उसकी उत्पत्ति, भेद, प्रभेदों का वर्णन अनेक आगम ग्रन्थों में पाया जाता है तथापि इस ग्रन्थ में समन्तभद्राचार्य ने जो रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है उसका वर्णन जनोपयोगी किया है। इस ग्रंथ के संस्कृत टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य हैं।

इस ग्रन्थ की हिन्दी टीकादि कार्य करने की प्रेरणा पं० ज्योतिषाचार्य धर्मचन्द शास्त्री की रही मैंने अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार इस कृति का कार्य श्रावकोपयोगी हितकर जान किया, उसमें मेरा कुछ भी श्रम नहीं है यह कार्य तो स्व. महान सन्त

विषयानुक्रमणिका

विषय	श्लोक	पृष्ठ
मङ्गलाचरण	१	१
ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा	२	६
धर्म और संसार का मार्ग	३	६
सम्यग्दर्शन का स्वरूप	४	११
आप्त का स्वरूप	५	१४
आप्त में नहीं होने वाले दोष	६	१६
आप्त की नामावली	७	२२
राग के बिना आप्त उपदेश कैसे देते हैं इसका समाधान	८	२५
शास्त्र का स्वरूप	९	२७
गुरु का स्वरूप	१०	२९
निःशंकित अङ्ग का स्वरूप	११	३१
निःकांक्षित अङ्ग का स्वरूप	१२	३३
निर्विचिकित्सा अङ्ग का स्वरूप	१३	३५
अमूढदृष्टि अंग का स्वरूप	१४	३७
उपगूहन अंग का स्वरूप	१५	३८
स्थितिकरण अंग का स्वरूप	१६	४०
वात्सल्य अंग का स्वरूप	१७	४२
प्रभावना अंग का स्वरूप	१८	४३
आठ अंगों में प्रसिद्ध पुरुषों के नाम	१९–२०	४६
अंजन चोर की कथा		४८

विषय	श्लोक	पृष्ठ
अनन्तमति की कथा		५०
उद्दायन राजा की कथा		५२
रेवती रानी की कथा		५४
जिनेन्द्र भक्त सेठ की कथा		५६
वारिषेण की कथा		५८
विष्णुकुमार मुनि की कथा		६२
वज्रकुमार की कथा		६६
अंगों की उपयोगिता	२१	६८
लोक मूढ़ता का स्वरूप	२२	७०
देव मूढ़ता का स्वरूप	२३	७३
पाखंड मूढ़ता का स्वरूप	२४	७७
आठ मद के नाम	२५	७६
मद करने से हानि का वर्णन	२६	८१
मद किस प्रकार जीता जा सकता है इसका वर्णन	२७	८३
सम्यग्दर्शन की महिमा	२८	८७
धर्म अधर्म का फल	२६	८६
सम्यग्दर्शन से युक्त जीव कुदेव को नमस्कार नहीं करता	३०	६१
मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्रधानता	३१	६४
सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का होना असम्भव है	३२	६६
मोही मुनि की अपेक्षा निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ	३३	६८
सम्यक्त्व के कल्याण तथा मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी वस्तु दूसरी नहीं	३४	१००
ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता	३५	१०२

विषय	श्लोक	पृष्ठ
सम्यग्दृष्टि से जीव श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं	३६	१०४
सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रपद प्राप्त करते हैं	३७	१०७
सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती पद प्राप्त करते हैं	३८	११०
सम्यग्दृष्टि जीव धर्म चक्र के प्रवर्तक तीर्थंकर होते हैं	३९	११४
सम्यग्दृष्टि जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं	४०	११७
सम्यग्दर्शन की महिमा का उपसंहार	४१	१२०

द्वितीय अधिकार

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप	१	१२४
प्रथमानुयोग का स्वरूप	२	१२६
करणानुयोग का स्वरूप	३	१२८
चरणानुयोग का स्वरूप	४	१३०
द्रव्यानुयोग का स्वरूप	५	१३१

तृतीय अधिकार

चारित्र कौन धारण कर सकता है	१	१३३
रागद्वेष की निवृत्ति से हिंसादि की निवृत्ति होती है	२	१३५
चारित्र का लक्षण	३	१३६
चारित्र के भेद	४	१३८
विकल चारित्र के भेद	५	१३९
अणुव्रत के ५ भेद	६	१४०
अहिंसाणुव्रत का लक्षण	७	१४२
अहिंसाणुव्रत के अतिचार	८	१४५
सत्याणुव्रत के लक्षण	९	१४८
सत्याणुव्रत के अतिचार	१०	१५०
अचौर्याणुव्रत के लक्षण	११	१५३

विषय	श्लोक	पृष्ट
अचौर्याणुव्रत के अतिचार	१२	१५४
ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण	१३	१५८
ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार	१४	१५६
परिग्रह परिमाण व्रत का लक्षण	१५	१६१
परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार	१६	१६४
अणुव्रत धारण करने का फल	१७	१६६
अणुव्रतों में प्रसिद्ध पुरुषों की नामावली	१८	१६७
यमपाल चांडाल की कथा		१७१
धनदेव की कथा		१७२
नीली की कथा		१७३
जयकुमार की कथा		१७५
पांच पापों में प्रसिद्ध पुरुषों की नामावली	१६	१७५
धनश्री की कथा		१८१
सत्यघोष की कथा		१८२
तापस की कथा		१८४
यमदण्ड की कथा		१८७
श्मश्रुनवनीत की कथा		१८८
आठ मूल गुणों के नाम	२०	१८८
गुणव्रत के लक्षण	२१	१६०
दिग्व्रत का लक्षण	२२	१६२
दिग्व्रत की मर्यादा	२३	१६४
दिग्व्रत में मर्यादा के बाहर	२४	१६५
अणुव्रतों में महाव्रतों की कल्पना	२५	१६६
महाव्रत का लक्षण	२६	१६८

विषय	श्लोक	पृष्ठ
दिग्व्रत के अतिचार	२७	२००
अनर्थदण्डव्रत का लक्षण	२८	२०१
पांच अनर्थदण्ड के नाम	२९	२०२
पापोपदेश का उपदेश	३०	२०३
हिंसा दान का लक्षण	३१	२०५
अपध्यान का लक्षण	३२	२०६
दु:श्रुति का लक्षण	३३	२०७
प्रमादचर्या का लक्षण	३४	२०९
अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार	३५	२१०
भोगोपभोग परिमाण व्रत का लक्षण	३६	२११
भोग और उपभोग का लक्षण	३७	२१४
मद्य मांस और मधु त्याग का निर्देश	३८	२१४
अभक्ष त्याग	३९	२१६
अनिष्ट तथा अनुपसेव्य छोड़ने योग्य	४०	२१७
नियम और यम का लक्षण	४१	२१८
नियम की विधि	४२/४३	२१९
भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार	४४	२२१

चतुर्थ अधिकार

शिक्षाव्रतों के नाम	१	२२४
देशावकाशिक का लक्षण	२	२२५
देशावकाशिक की मर्यादा	३	२२६
देशावकाशिक काल की मर्यादा	४	२२७
देशावकाशिक मर्यादा के बाद क्या	५	२२९
देशावकाशिक के अतिचार	६	२३०

विषय	श्लोक	पृष्ठ
सामायिक के लक्षण	७	२३२
सामायिक के समय का निर्देश	८	२३३
सामायिक के योग क्षेत्र निर्देश	९	२३४
सामायिक की वृद्धि किन भावों से करें	१०–१४	२३६
सामायिक के अतिचार	१५	२४३
प्रोषधोपवास शिक्षा व्रत का लक्षण	१६	२४५
उपवास के दिन का कर्तव्य	१७	२४७
प्रोषधोपवास में करने योग्य कार्य	१८	२४८
प्रोषधोपवास का लक्षण	१९	२५१
प्रोषधोपवास के अतिचार	२०	२५२
वैयावृत्य का लक्षण	२१	२५३
वैयावृत्य का विस्तार	२२	२५६
दान का लक्षण	२३	२५७
दान का फल	२४–२६	२६२
दान के चार भेद	२७	२६६
चार दानों में प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम	२८	२६९
श्रेणिक राजा की कथा		२७३
वृषभ सेना की कथा		२७४
कौण्डेश की कथा		२७६
सूकर की कथा		२७७
जिन पूजा भी वैयावृत्य का अंग	२९	२७८
पूजा का फल प्राप्त करने वाले मेंढ़क का निर्देश	३०	२८०
मेंढ़क की कथा		२८१
वैयावृत्य के अतिचार	३१	२८२

पञ्चम अधिकार

विषय	श्लोक	पृष्ठ
सल्लेखना का लक्षण	१	२८५
सल्लेखना को प्रयत्न के साथ	२	२८७
सल्लेखना विधि	३—७	२८८
सल्लेखना के पांच अतिचार	८	३०२
सल्लेखना का फल	९	३०५
नि:श्रेयस का लक्षण	१०	३०६
नि:श्रेयस-मोक्ष में रहने वाले पुरुषों का निर्देश	११—१३	३०७
अभ्युदय का लक्षण	१४	३११
ग्यारह प्रतिमा का निर्देश	१५	३१२
दर्शन प्रतिमा का स्वरूप	१६	३१४
व्रत प्रतिमा का स्वरूप	१७	३१५
सामायिक प्रतिमा का स्वरूप	१८	३१७
प्रोषधोपवास प्रतिमा का स्वरूप	१९	३२३
सचित्त त्याग प्रतिमा का स्वरूप	२०	३२५
रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा का स्वरूप	२१	३२७
ब्रह्मचर्य प्रतिमा का स्वरूप	२२	३२९
आरम्भ त्याग प्रतिमा का स्वरूप	२३	३३०
परिग्रह त्याग प्रतिमा का स्वरूप	२४	३३३
अनुमति त्याग प्रतिमा का स्वरूप	२५	३३५
उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का लक्षण	२६	३३६
श्रेयोज्ञाता का स्वरूप	२७	३३९
रत्नकरण्ड की आराधना का फल	२८	३४०
अंतिम कामना	२९	३४१

❁ श्री वीतरागाय नमः ❁

श्री समन्तभद्रस्वामी–विरचित

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

श्री प्रभाचन्द्राचार्यनिर्मित टीकालंकृत

समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं,
जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम् ।
निबन्धनं रत्नकरण्डके परं,
करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

श्री समन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूत रत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादि-रत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरि-समाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—

नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥

'नमो' नमस्कारोऽस्तु । कस्मै ? 'श्रीवर्धमानाय' अन्तिमतीर्थंकराय तीर्थंकर समुदायाय वा । कथं ? अव-समन्ताद्वृद्धं परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ वर्धमानः । 'अवाप्योरल्लोपः' इत्यवशब्दाकारलोपः । श्रिया बहिरंगयाऽन्तरंगया च समवसरणानन्तचतुष्टयलक्षणयोपलक्षितो वर्धमानः श्रीवर्धमान इति व्युत्पत्तेः, तस्मै । कथंभूताय ? 'निर्धूतकलिलात्मने' निर्धूतं स्फोटितं कलिलं ज्ञानावरणादिरूपं पाप-मात्मन आत्मनां वा भव्यजीवानां येनासौ निर्धूतकलिलात्मा तस्मै । 'यस्यविद्या' केवल-ज्ञानलक्षणा । किं करोति ? 'दर्पणायते' दर्पण इवात्मानमाचरति । केषां ? 'त्रिलोकानां' त्रिभुवनानां । कथं भूतानां ? 'सालोकानां' अलोकाकाशसहितानां । अयमर्थः—यथा दर्पणो निजेन्द्रियागोचरस्य मुखादेः प्रकाशकस्तथा सालोक त्रिलोकानां तथा विधानां तद्विद्या प्रकाशिकेति । अत्र च पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः, उत्तरार्धेन च सर्वज्ञतोक्ता ॥ १ ॥

टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र टीका के आरम्भ में मङ्गलपूर्वक टीका करने की प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं—

समन्तभद्रमिति— जो सब ओर से कल्याणों से युक्त हैं–अनन्त सुख से सहित है, समस्त जीवों को प्रतिबोधित करने वाले हैं, हितोपदेशी हैं अथवा समस्त पदार्थों के ज्ञाता सर्वज्ञ हैं, समस्त ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय करने वाले हैं–वीतरागी हैं ऐसे अरहन्त परमेष्ठी को प्रणाम कर मैं भव्य जीवों को प्रतिबोध की खानस्वरूप रत्नकरण्ड श्रावकाचार की उत्तम टीका करता हूं।

जिस प्रकार रत्नों की रक्षा का उपायभूत करण्डक-पिटारा होता है और वह रत्नकरण्डक कहलाता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि रत्नों की रक्षा का उपायभूत यह रत्नकरण्डक नामका शास्त्र है। इस शास्त्र की रचना करने के इच्छुक श्री समन्तभद्र-स्वामी निर्विघ्नरूप से शास्त्र की परिसमाप्ति आदि फल की अभिलाषा रख कर इष्ट देवता विशेष–श्री वर्धमान स्वामी को नमस्कार करते हुए कहते हैं—

नमइति—(निर्धूतकलिलात्मने) जिनकी आत्मा ने कर्मरूप कलंक को नष्ट कर दिया है और जिनका केवलज्ञान (सालोकानां त्रिलोकानाम्) अलोक सहित तीनों लोकों के विषय में दर्पण के समान आचरण करता है अर्थात् जो सर्वज्ञ हैं (तस्मै) उन (श्रीवर्धमानाय) अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमानस्वामी को अथवा अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मी से वृद्धि को प्राप्त होने वाले चौबीस तीर्थंकरों को (नमः) नमस्कार करता हूँ।

टीकार्थ—यहाँ वर्धमान शब्द के दो अर्थ किये हैं–एक तो अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान स्वामी और दूसरा वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों का समुदाय। प्रथम अर्थ तो वर्धमान अन्तिम तीर्थंकर प्रसिद्ध ही है और द्वितीय अर्थ में वर्धमान शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—**'अव समन्तात् ऋद्धं परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ'** जिनका केवलज्ञान सब ओर से परम अतिशय को प्राप्त है। इस प्रकार इस अर्थ में वर्धमान शब्द सिद्ध होता है। किन्तु **'अवाप्योरल्लोपः'** इस सूत्र से अव और अपि उपसर्ग के अकार का विकल्प से लोप होता है–व्याकरण के इस नियमानुसार 'अव' उपसर्ग के अकार का लोप हो जाने से वर्धमान शब्द सिद्ध हो जाता है। **श्रिया**—श्री का अर्थ लक्ष्मी होता है। लक्ष्मी भी अन्तरंग लक्ष्मी और बहिरंग लक्ष्मी इस प्रकार दो भेद रूप है। समवसरणरूप लक्ष्मी बहिरंग लक्ष्मी है और अनन्त चतुष्टयरूप अन्तरंग

लक्ष्मी कहलाती है। इस प्रकार श्री वर्धमान शब्द का अर्थ वृषभादि चौबीस तीर्थंकर होता है, उनके लिए मैं नमस्कार करता हूँ।

जिन अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान स्वामी अथवा वृषभतीर्थंकरादि चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार किया है, उनमें क्या विशेषता है इस बात को बतलाते हुए कहा है—**'निर्धूतकलिलात्मने'** अर्थात् जिनकी आत्मा से ज्ञानावरणादि कर्मरूप कलिलपापों का समूह नष्ट हो गया है, अथवा जिन्होंने अन्य भव्यात्माओं के कर्म-कलंक को नष्ट कर दिया है। जब यह जीव अपने दोषों का नाश कर देता है, तभी उसमें सर्वज्ञता प्रकट होती है और तभी वह हितोपदेश देने का अधिकारी होता है। इसलिये दूसरी विशेषता बतलाते हुए कहा है कि—**'यद्विद्यासालोकानां त्रिलोकानां दर्पणायते'** अर्थात् जिनकी केवलज्ञानरूप विद्या अलोकाकाश सहित तीनों लोकों को प्रकाशित करने के लिये दर्पण के समान है। यथा–मनुष्य को अपना मुख अपनी चक्षु इन्द्रिय से नहीं दिखता उसी प्रकार जो पदार्थ इन्द्रिय गोचर नहीं हैं उन्हें केवलज्ञान दिखा देता है अर्थात् केवलज्ञान में त्रिकालवर्ती सभी पदार्थ झलकते हैं।

यहां श्लोक के पूर्वार्ध में भगवान की सर्वज्ञता का उपाय बतलाया है और उत्तरार्ध में सर्वज्ञता का निरूपण किया गया है।

विशेषार्थ—इस कारिका के सम्बन्ध में चार बातें ज्ञातव्य हैं–आस्तिकता, कृतज्ञता, आम्नाय और मंगल कामना।

१. आस्तिक—शब्द का अर्थ **'अस्ति परलोक इति मतिर्यस्यासौ आस्तिकः'** इस निरुक्ति के अनुसार जीवात्मा के अस्तित्व और परलोक आदि पर श्रद्धान रखने वाला आस्तिक कहलाता है। यह पद्य ग्रन्थकर्त्ता की आस्तिकता को प्रकट करता है। जो जीवतत्त्व को नहीं मानता या जो निर्वाण अवस्था और उसके असाधारण कारणरूप धर्मों को स्वीकार नहीं करता, ऐसा नास्तिक बुद्धि का व्यक्ति सर्वज्ञ को नमस्कारादि करके अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त नहीं कर सकता। अतः इस पद्य के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकर्त्ता को यह बात सर्वथा मान्य है कि सर्वज्ञता, वीतरागता और हितोपदेशरूप गुणों का धारक कोई एक व्यक्ति अवश्य है। साथ ही वह हम सब छद्मस्थ संसारी जीवों के लिए आदर्श है, निर्वाण मार्ग का प्रदर्शक है। अतएव हमारे लिए नमस्कार करने योग्य है।

२. कृतज्ञता—अपने प्रति किये गये उपकार को मानना, उपकारी के प्रति सम्मान प्रकट करना और उसका निह्नव न करके गौरव के साथ उनके नाम आदि का उल्लेख करना आदि कृतज्ञता कहलाती है। यही कारण है कि शिष्ट ग्रंथकर्त्ता अपनी रचना के प्रारम्भ में अपने उस उपकारी का स्मरण करना परम कर्त्तव्य समझते हैं और श्रद्धा से उनका नामोल्लेख करते हैं।

इस ग्रन्थ में जो कुछ वर्णन किया जा रहा है उसके अर्थतः मूल वक्ता श्री वर्धमान स्वामी हैं। उन्होंने श्रेयोमार्ग का उपदेश दिया तथा उसकी ग्रन्थरूप से रचना करने वाले गणधर देव तथा अन्य आचार्यों के द्वारा वह अब तक प्रवाहरूप से चला आ रहा है। अतएव कृतज्ञ ग्रन्थकर्त्ता श्री समन्तभद्रस्वामी ने उनको यहाँ स्मरण किया है।

३. आम्नाय—यद्यपि इस शब्द के अनेक अर्थ हैं लेकिन यहाँ पर आचार्य परम्परागत (प्राचीन आचार्यों के द्वारा चली आई प्रवृत्ति के अनुसार) अर्थ का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि मर्यादा का रक्षण एक महान् गुण है और उसका भंग करना महान् दोष है।

अभिमत कार्य के प्रारम्भ में इष्टदेव का स्मरण करना महान् तार्किक आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अपने इस 'श्रावकाचार' के प्रारम्भ में भी उचित समझा है। क्योंकि वे न केवल तथाकथित परीक्षा प्रधानी ही थे अपितु परीक्षा प्रधानता से भी पूर्व आज्ञाप्रधानी और परम्परारूप मर्यादा के पालन करने वाले भी थे। यही कारण है कि अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों की मंगलाचरण करने की आम्नाय का उन्होंने भी यथावत् अनुसरण किया है।

४. मंगल कामना—मंगल शब्द के दो अर्थ प्रसिद्ध हैं—'**मं पाप गालयति—विनाशयति इति**' तथा '**मंगं-सुखं पुण्यं वा लाति ददाति इति**'। अर्थात् जो पापका नाश करता है और पुण्य की प्राप्ति कराता है, वह मंगल है। प्रारम्भ किये गये शुभ कार्यों के पूर्ण होने में अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएँ आने की सम्भावना रहा करती है; विघ्नों का कारण अन्तरायादि पाप कर्मों का उदय तथा साता आदि पुण्य कर्मों का अनुदय अथवा मन्दोदय है।

वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी परमात्मा आप्त परमेष्ठी के पवित्र गुणों के स्मरण से अन्तराय आदि पाप कर्मों की शक्ति क्षीण हो जाती है और सातावेदनीय आदि पुण्य

कर्मों के रस में प्रकर्षता हुआ करती है। अतः विघ्न उपस्थित करने में अन्तरंग कारण अन्तराय कर्म के निर्वीर्य हो जाने से अभिमत कार्य की सिद्धि निर्बाधरूप से हो जाती है। इसलिये समन्तभद्रस्वामी ने इस श्रावकाचार की रचना के प्रारम्भ में इष्ट गुणों के आधारभूत श्री वर्धमान स्वामी को नमस्कार किया है।

अरहन्त भगवान वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं, इन्हीं तीनों गुणों का उल्लेख कर श्री वर्धमानस्वामी को उन तीन गुणों से सहित बताया गया है। इसी पक्ष को लेकर कहा है—**'निर्धूतकलिलात्मने'**–**'कलि-कलह लाति दत्ते इति कलिलम्'** जो कलह-झगड़ा या विरोध का कारण है उसको कलिल कहते हैं। कलिलात्मा—यहां इस शब्द से आशय उन पापों से है जो संसार में शान्ति-भंग करने में मूल कारण हैं वे पाप जीव के साथ अनादिकाल से लगे हैं, उन पापों की संख्या सौ १०० कही गई है। यथा–घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियां नामकर्म की ५० और असातावेदनीय, नीच गोत्र तथा नरकायु। किन्तु स्नातक अवस्था वाले सर्वज्ञ हितोपदेशी तीर्थंकर भगवान के इनमें से ६३ प्रकृतियों का अभाव हो जाता है। घातिया कर्म की ४७ तथा अघातिया कर्म की १६, इनमें तीन आयु भी सम्मिलित है। इस प्रकार इन ६३ प्रकृतियों का नाश करके अरहन्त परमेष्ठी अवस्था प्राप्त होती है। यही कारण है कि इनको अपनी आत्मा से पृथक् कर देने वाला निर्धूतकलिलात्मा कहा गया है।

दूसरी बात यह है कि जो पाप कर्म अभी सत्ता में स्थित हैं, वे मोहनीय कर्म का नाश हो जाने से अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होते, वे कर्म या तो फल दिये बिना ही निर्जीर्ण हो जाते हैं या अन्य सजातीय पुण्य प्रकृति के साथ निकल जाते हैं। जैसे–असातावेदनीय-सातारूप में, इत्यादि।

सर्वज्ञता का वर्णन करने के लिए उनके ज्ञानको दर्पण की उपमा दी गई है। जिस प्रकार दर्पण पदार्थों के पास नहीं आता है फिर भी दर्पण की स्वच्छता के कारण उसमें समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान पदार्थों के पास नहीं जाता और पदार्थ भी अरहन्त भगवान के ज्ञान के पास नहीं जाते, फिर भी उनके ज्ञान में समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं।

आकाश के दो भेद हैं–लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाश के जितने क्षेत्र में जीव, पुद्गल आदि छहों द्रव्य रहते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं। यह लोक तीन सौ

तैंतालीस राजू प्रमाण है । तथा अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से तीन प्रकार का है । जहाँ पर केवल आकाश ही आकाश है, उसे अलोकाकाश कहते हैं । लोक और अलोक सर्वज्ञ के ज्ञान में स्वतः ही प्रतिबिम्बित होते रहते हैं ॥१॥

अथ तन्नमस्कारकरणानन्तरं किं कर्तुं लग्नो भवानित्याह—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम् ।
संसार दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

'देशयामि' कथयामि । कं ? 'धर्मं' । कथंभूतं ? 'समीचीनं' अबाधितं तदनुष्ठातॄणामिह परलोके चोपकारकं । कथं तं तथा निश्चितवन्तो भवन्त इत्याह 'कर्मनिबर्हणं' यतो धर्मः संसारदुःखसम्पादककर्मणां निबर्हणो विनाशकस्ततो यथोक्तविशेषणविशिष्टः । अमुमेवार्थं व्युत्पत्तिद्वारेणास्य समर्थयमानः संसारेत्याद्याह संसारे चतुर्गतिके दुःखानि शरीरमानसादीनि तेभ्यः 'सत्त्वान्' प्राणिन उद्धृत्य यो 'धरति' स्थापयति । क्व ? 'उत्तमे सुखे' स्वर्गापवर्गादि प्रभवे सुखे स धर्म इत्युच्यते ॥२॥

अब नमस्कार करने के बाद समन्तभद्रस्वामी ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा करते हुए धर्म का निरुक्त अर्थ बतलाते हैं—

देशयामीति । (अहम्) मैं (कर्मनिबर्हणम्) कर्मों का विनाश करने वाले (तं) उस (समीचीनं) श्रेष्ठ (धर्मं) धर्म को (देशयामि) कहता हूँ (यः) जो (सत्त्वान्) जीवों को (संसारदुःखतः) संसार के दुःखों से (उद्धृत्य) निकाल कर (उत्तमे सुखे) स्वर्ग–मोक्षादिक के उत्तम सुख में (धरति) धारण करता है–पहुँचा देता है ।

टीकार्थ—ग्रन्थकर्त्ता श्री समन्तभद्रस्वामी प्रतिज्ञा वाक्य कहते हैं कि मैं उस अबाधित श्रेष्ठ धर्म का कथन करता हूँ जो जीवों का इस लोक में और परलोक में उपकार करने वाला है तथा संसार के समस्त दुःख देने वाले कर्मों का नाशक है । इन विशेषणों से विशिष्ट यह धर्म है । इसी अर्थ का व्युत्पत्ति द्वारा समर्थन करते हुए कहते हैं–जो जीवों को चतुर्गतिरूप संसार में होने वाले शारीरिक, मानसिक एवं आगन्तुक आदि दुःखों से निकालकर स्वर्ग और मोक्ष के उत्तम सुख में धारण करता है उस समीचीन धर्म का कथन करता हूँ ।

विशेषार्थ—ग्रंथ की व्याख्या का मुख्य प्रयोजन है कि संसार के सभी प्राणी समस्त दुःखों से सदा के लिए उन्मुक्त हों और उत्तम शाश्वत सुख को प्राप्त करें, जैसा कि श्लोक के उत्तरार्ध में बतलाया गया है। प्रयोजन की सिद्धि का वास्तविक उपाय धर्म है अतएव उस धर्म के स्वरूप का ही आचार्य यहां निरूपण करेंगे। जैसा कि उनके प्रतिज्ञा वाक्य से स्पष्ट होता है।

सर्वज्ञ वीतराग श्री वर्धमान भगवान ने अर्थरूप से और श्री गौतम गणधर देव ने उस अर्थ का भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से वर्णन किया है। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। परसे आत्म बुद्धि हटाकर अपने ज्ञाता दृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान, अनुभव तथा ज्ञायक स्वभाव में ही प्रवर्तनरूप आचरण वह धर्म है, इस प्रकार सामान्य से सभी विषय मूलभूत वस्तु स्वभाव से ही सम्बन्धित हैं और उसी पर आधारित हैं। इसके सिवाय आत्मा का निर्वाण नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। तथा विशेषरूप से आत्मा की परिणति उत्तम क्षमादि दश लक्षणरूप, रत्नत्रयरूप तथा जीवों की दयारूप होती है तब आत्मा धर्मरूप कही जाती है। पर द्रव्य-क्षेत्र-कालादि तो निमित्त मात्र हैं।

संसार में धर्म की प्ररूपणा अनेक रूपों में अनेक लोग करते हैं परन्तु जो धर्म चतुर्गति के भ्रमण से छुड़ाकर उत्तम अविनाशी सुख में धारण करा दे, वही वास्तविक धर्म है। पंचपरमेष्ठी के प्रति श्रद्धा-भक्ति-उपासना शुभ राग है, पुण्य बन्ध का कारण है तथा रागद्वेष को बढ़ाने वाला राग अशुभ राग है और पापबन्ध का कारण है। किंतु इन दोनों ही प्रकार के बन्ध का अभाव होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। वहीं पर अनन्त सुख है। जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती तब तक स्वर्गादिक के सुख को आपेक्षिक सुख कहा जाता है किन्तु ज्ञानी जीवों का लक्ष्य उस ओर नहीं रहता, उनका लक्ष्य तो मोक्ष-प्राप्ति की ओर ही रहता है फिर जब तक मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती तब तक स्वर्गादिक के सुख स्वयं प्राप्त होते रहते हैं। जिस प्रकार किसान खेती तो धान्य-प्राप्ति के उद्देश्य से ही करता है परन्तु अन्न-प्राप्ति के साथ-साथ घास, पलाल उसे स्वयमेव प्राप्त हो जाता है; वह मात्र पलाल के लिए बीज नहीं बोता। इस कारिका में जो समीचीन विशेषण दिया है वह पापरूप एवं सर्वथा दुःखरूप अवस्थाओं से व्यावृत्ति के लिए दिया है जिसका इस लोक और परलोक में दुःख के सिवाय और कोई फल नहीं है।

लोक में गाय के दूध को भी दूध कहते हैं और आकड़ा आदि वनस्पतियों के दूध को भी दूध कहा जाता है। इसी प्रकार अमृत के समान अजर-अमर सुख शांति के प्रदाता रत्नत्रय को जिसका यहां वर्णन किया जाएगा। धर्म कहते हैं किन्तु लोक में मिथ्यात्व मोह, कषाय, अज्ञान तथा हिंसा आदि पापाचार को भी पाखण्डी जन धर्म शब्द से बोलते हैं, जो कि दुःखरूप संसार परिभ्रमण का कारण है। ऐसे धर्म को वास्तव में अधर्म ही समझना चाहिए। इस अधर्म से बचने के लिए समीचीन विशेषण दिया है।*

सत्पुरुषों का स्वभाव ही निरपेक्षतया परोपकार करने का हुआ करता है। वे सहज रूप से दूसरों की भलाई में प्रवृत्ति किया करते हैं। दूसरे का कल्याण करने में अपने लाभ-अलाभ का विचार करना मध्यम या जघन्य पुरुषों का काम है। अतएव ख्याति-पूजा-लाभ आदि किसी भी ऐहिक प्रतिफल की आकांक्षा के बिना केवल परोपकार की भावना ने ही ग्रंथकर्त्ता को इस कार्य के लिए प्रेरित किया है। यश लाभादिक के लिए जो ग्रन्थ निर्माण किया जाता है वह उत्तम पुरुषों में प्रशंसनीय नहीं माना जाता है। संसार के सभी सम्बन्धों से सर्वथा रहित जैनाचार्यों की कोई भी कृति या रचना ख्याति-पूजा-लाभ के लिए न तो अब तक हुई है और न वैसा होने का कोई कारण ही है। क्योंकि वे तो अध्यात्मनिरत वीतरागता के उपासक मुमुक्षु हुआ करते हैं। दुःखमय संसारकूप में पड़ते हुए जीवों को देखकर दयापूर्ण दृष्टि से प्रेरित होकर उनके उद्धार की भावनारूप परोपकार वृत्ति ही इस ग्रंथ के निर्माण का अन्तरंग हेतु है।

---

* परन्तु समीचीन शब्द से भी दो तरह के अर्थ का बोध होता है। एक तो शुभ और दूसरा शुद्ध। जो केवल संसार के सुखों का कारण है वह शुभ है, और जो अभ्युदय के लाभ के सिवाय अर्थात् उनका कारण होकर भी जो मुख्यतया संसार निवृत्ति का कारण है वह शुद्ध कहा जाता है। समीचीन विशेषण के द्वारा शुभ और शुद्ध दोनों का बोध होता है। अतः 'निबर्हण' शब्द के द्वारा शुद्ध धर्म का बोध यहाँ कराया गया है। क्योंकि शुभोपयोगरूप धर्म दो तरह से सम्भव है। एक सम्यक्त्व का सहचारी और दूसरा मिथ्यात्व का सहचारी। कर्मों की संवर निर्जरा तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि सम्यग्दर्शन के द्वारा आत्मद्रव्य में शुद्धता प्राप्त नहीं हो जाती। और जब तक आत्म द्रव्य में शुद्धता प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक जीव कर्मों का 'निबर्हण' नाश करने में समर्थ भी नहीं हो सकता।

इस प्रकार दोनों विशेषणों द्वारा धर्म का द्वैविध्य प्रकट किया गया है। शुभ-व्यवहार धर्म परम्परा से मोक्ष का कारण है और शुद्ध-निश्चय धर्म साक्षात् कारण है।

संसार के प्राणियों को वास्तविक हित से वंचित रखने वाली दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं । एक अन्तरंग और दूसरी बहिरंग । मन-वचन-काय की अपने-अपने इष्ट अनिष्ट विषयों में जो प्रवृत्ति है वह उसके अहित की बाह्य कारण है । और इन विषयों में जीव की जो इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती है वह अन्तरंग कारण है । मूलभूत यह अन्तरंग कारण भी और कुछ नहीं है जीव का अतत्त्व श्रद्धान ही है । अनादिकाल से जीव के साथ जो मोहकर्म लगा हुआ है, इसके उदय से जीव को तत्त्व का समीचीन श्रद्धान नहीं होता, अतत्त्व श्रद्धान को ही मिथ्यात्व कहते हैं । इस प्रकार अनादि अथवा सादि मोह, क्षोभ भाव ही जीव के अहित के कारण हैं । निसर्गतः परोपकार में निरत तत्त्वज्ञानी इसी दुःख अथवा अहित के वास्तविक कारण की निवृत्ति के लिए उपदेश दिया करते हैं । उसी का नाम धर्मोपदेश है ।।२।।

अथैवंविधधर्म स्वरूपतां कानि प्रतिपद्यन्त इत्याह—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा: विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ।।३।।

दृष्टिश्च तत्त्वार्थ श्रद्धानं, ज्ञानं च तत्त्वार्थ प्रतिपत्तिः, वृत्तं चारित्रं पापक्रियानिवृत्तिलक्षणं । सन्ति समीचीनानि च तानि दृष्टिज्ञानवृत्तानि च । 'धर्मं' उक्तस्वरूपं । 'विदुः' वदन्ति प्रतिपादयन्ते । के ते ? 'धर्मेश्वराः' रत्नत्रयलक्षणधर्मस्य ईश्वराः अनुष्ठातृत्वेन प्रतिपादकत्वेन च स्वामिनो जिननाथाः । कुतस्तान्येव धर्मो न पुनर्मिथ्यादर्शनादीन्यपीत्याह—यदीयेत्यादि । येषां सद्दृष्ट्यादीनां सम्बन्धीनि यदीयानि तानि च तानि प्रत्यनीकानि च प्रतिकूलानि मिथ्यादर्शनादीनि 'भवन्ति' सम्पद्यन्ते । का ? 'भवपद्धतिः' संसारमार्गः । अयमर्थः—यतः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपक्षभूतानि मिथ्यादर्शनादीनि संसारमार्गभूतानि । अतः सम्यग्दर्शनादीनि स्वर्गापवर्गसुखसाधकत्वाद्धर्मरूपाणि सिद्ध्यन्तीति ।।३।।

अब इस प्रकार का धर्म कौनसा है, यह कहते हुए धर्म का वाच्यार्थ बतलाते हैं—

सद्दृष्टिज्ञानेति (धर्मेश्वराः) धर्म के स्वामी जिनेन्द्रदेव (तानि) उन (सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को (धर्मं) धर्म (विदुः) जानते हैं—कहते हैं (यदीयप्रत्यनीकानि) जिनके विपरीत—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र (भवपद्धतिः) संसार के मार्ग (भवन्ति) होते हैं ।

टीकार्थ—तत्त्वार्थश्रद्धानरूप दर्शन, तत्वों की याथात्म्य प्रतिपत्तिरूप ज्ञान और पापक्रियानिवृत्तिरूप चारित्र इस रत्नत्रयरूप धर्म के स्वयं आराधक तथा दूसरे जीवों को उसका उपदेश देने वाले होने से जिनेन्द्र भगवान धर्म के ईश्वर कहलाते हैं। उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ही धर्म कहा है क्योंकि इन तीनों की एकता ही जीवों को संसार के दुःखों से निकालकर मोक्ष के उत्तम सुख में पहुँचा देती है। इन सम्यग्दर्शनादि तीनों से विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों संसारभ्रमण के मार्ग हैं। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनादि के प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शनादि संसार के ही मार्ग हैं इससे यह सिद्ध हुआ कि रत्नत्रय ही स्वर्ग और मोक्ष का साधक होने से धर्मरूप है।

विशेषार्थ—यह सभी समझ सकते हैं कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति जिस कारण से हुआ करती है उस कारण के अभाव में उस कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सृष्टि अथवा संसार का स्वरूप और उसके कारण अनुभव सिद्ध और दृष्टिगोचर भी हैं। भव शब्द संसार या सृष्टि का पर्यायवाची है। उसके मूलभूत या असाधारण कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं, जिनका अनादिकाल से यह जीव अनुभव कर रहा है। यह जन्म-मरण आदि के दुःखों से अथवा तापत्रय से रंचमात्र भी उन्मुक्त नहीं हो सका है। अतएव स्पष्ट है कि सभी तरह के दुःखों से छुटकारा पाने का वास्तविक उपाय इससे विपरीत ही होना चाहिए। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये ही धर्म हैं और ये ही संसार एवं संसार के दुःखों से जीव को छुड़ाकर उसे उत्तम सुखरूप अवस्था में पहुँचाने की सामर्थ्य रखते हैं।

संसार और उसके कारण दुःखरूप हैं, यह बात प्रायः सभी मतवालों ने स्वीकार की है। और तो क्या जीव के अस्तित्व और परलोक को नहीं मानने वाले भी संसार का परित्याग कर प्रव्रज्या धारण करने का उपदेश देते हैं और परिव्राजक होते हुए देखे जाते हैं। यदि उन्हें संसार सुखरूप प्रतीत होता तो वे स्वयं क्यों दीक्षित होते?

दुःख तथा सुख जीव की अवस्थाएँ हैं। इनका जीव के साथ जितना अति निकट सम्बन्ध है उतना अन्य किसी भी पदार्थ के साथ नहीं है। दुःख जीव का भाव होकर भी विभावरूप ही है। तथा सुखरूपभाव स्वभाव भी है और विभाव भी है। सातावेदनीय पुण्य कर्मों के उदय से इष्ट विषयों की प्राप्ति, अनुभूति होती है, वह विभावरूप सुख है। तथा किसी विवक्षित कर्म के या किन्हीं कर्मों के अथवा समस्त

कर्मों के अभाव से निज शुद्ध चैतन्यस्वरूप की जो अनुभूति होती है उसको स्वभावरूप सुख समझना चाहिए। इनमें से विभावरूप सुख तथा दुःख प्रायः सभी संसारी जीवों के अनुभव में नित्य आने वाले हैं। शुद्ध स्वभावरूप सुख का अनुभव इस जीव को अनादिकाल से अभी तक भी नहीं हुआ है। उसका अनुभव वास्तविक धर्म के प्रकट होने पर ही हुआ करता है। किन्तु इस धर्म की उद्‌भूति भी सांसारिक सुख-दुःख और उसके कारणों में हेयता का प्रत्यय हुए बिना नहीं हो सकती अतएव संसार और उसकी प्रवृत्ति के कारणों में हेयता का प्रत्यय कराते हुए युक्तिपूर्वक वास्तविक सुख के कारण-भूत धर्म के स्वरूप एवं भेदों का बोध करा देना इस कारिका का प्रयोजन है। सुख को प्राप्त करने तथा दुःखों से छुटकारा पाने की इच्छा रखते हुए भी स्वरूप और यथार्थ उपाय की अज्ञानता के कारण अभीष्ट लाभ नहीं होने से आकुलित हुए संसारी जीवों को परोपकारिणी बुद्धि से प्रेरित होकर आचार्य का प्रयोजन इस कारिका के निर्माण में वास्तविक सुख के उपायभूत धर्म से अवगत करा देना ही है।

सम्यग्दर्शनादि के समूह का नाम धर्म है। इस धर्म की पूर्णता आर्हन्त्य अवस्था प्राप्त होने पर ही हुआ करती है। जब तक ये तीनों सर्वांश में पूर्ण नहीं होते तब तक उनमें मोक्षरूप कार्य को सिद्ध करने की समर्थ कारणता भी नहीं आती। अतएव मुमुक्षु का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि जब तक सम्यग्दर्शनादि प्रकट नहीं होते तब तक उनको प्रकट करने का पूर्ण प्रयत्न करे। और प्रकट होने पर उनके प्रत्येक अंश को पूर्णतया निर्मल बनाने का प्रयत्न करे। इसलिए उनको और उनके भेदों अंशों अवस्थाओं एवं उनके बाधक कारण आदि को भी अवश्य जान लेना चाहिए। क्योंकि बिना जाने बाधक कारणों को दूर करने और साधक कारणों को प्राप्त करने का पुरुषार्थ नहीं बनता। ये सम्यग्दर्शनादि ही भव पद्धति को नष्ट करने वाले हैं। और उसके फलस्वरूप नानाविध दुःखों से परिमुक्त करने वाले हैं। इसलिए ये ही वास्तव में धर्म शब्द के वाच्यार्थ हैं और इन्हीं को आचार्य ने यहाँ धर्म शब्द से कहा है।

तत्र सम्यग्दर्शन स्वरूपं व्याख्यातुमाह—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

सम्यग्दर्शनं भवति। किं? 'श्रद्धानं' रुचिः। केषां? 'आप्तागमतपोभृतां' वक्ष्यमाणस्वरूपाणां। न चैवं षड्द्रव्य सप्ततत्त्वनवपदार्थानां श्रद्धानमसंगृहीतमित्याशंक-

नीयं आगमश्रद्धानादेव तच्छ्रद्धानसंग्रह प्रसिद्धेः । अबाधितार्थ प्रतिपादकमाप्तवचनं ह्यागमः । तच्छ्रद्धाने तेषां श्रद्धानं सिद्धमेव । किंविशिष्टानां तेषां ? 'परमार्थानां' परमार्थभूतानां न पुनर्बौद्धमत इव कल्पितानां । कथंभूतं श्रद्धानं ? 'अस्मयं' न विद्यते वक्ष्यमाणो ज्ञानदर्पाद्यष्टप्रकारः स्मयो गर्वो यस्य तत् । पुनरपि किंविशिष्टं ? 'त्रिमूढापोढं' त्रिभिर्मूढैर्वक्ष्यमाणलक्षणैरपोढं रहितं यत् । 'अष्टांगं' अष्टौ वक्ष्यमाणानि निःशंकितत्वादीन्यंगानि स्वरूपाणि यस्य ॥४॥

आगे सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं—

श्रद्धानमिति—(परमार्थानां) परमार्थभूत (आप्तागमतपोभृताम्) देव शास्त्र और गुरु का (त्रिमूढापोढं) तीन मूढताओं से रहित (अष्टांगं) आठ अंगों से सहित और (अस्मयम्) आठ प्रकार के मदों से रहित (श्रद्धानं) श्रद्धान करना (सम्यग्दर्शनम्) सम्यग्दर्शन (उच्यते) कहा जाता है ।

टीकार्थ—आप्त-देव-आगम-शास्त्र, तपोभृत-गुरु का जो आगम में स्वरूप बतलाया है, उन आप्त, आगम और तपोभृत का उसी रूप से दृढ़ श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है । आप्त आगम साधु का लक्षण आगे कहा जाएगा ।

यहाँ कोई शंका करे कि अन्य शास्त्रों में तो छह द्रव्य, सात तत्त्व तथा नौ पदार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, परन्तु यहाँ आचार्य ने देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहकर अन्य शास्त्रों में कथित लक्षण का संग्रह नहीं किया है तो इसका समाधान यह है कि आगम के श्रद्धान से ही छह द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थों के श्रद्धानरूप लक्षण का संग्रह हो जाता है । क्योंकि—**'अबाधितार्थप्रतिपादकमाप्तवचनं ह्यागमः'**—'अबाधित' अर्थ का कथन करने वाले जो आप्त के वचन हैं वे ही आगम हैं । इसलिये आगम के श्रद्धान से ही छह द्रव्यादिक का श्रद्धान संगृहीत हो जाता है । वे आप्त, आगम, गुरु परमार्थभूत हैं किन्तु बौद्धमत के द्वारा कल्पित सिद्धान्त परमार्थभूत नहीं है । वास्तव में, ज्ञान पूजा कुल जाति बल ऋद्धि तप और शरीर इन आठ मदों से रहित लोकमूढ़ता देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता से रहित और निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ अंगों से सहित श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन कहलाता है । आठ अंगों, आठ मदों और तीन मूढ़ताओं का लक्षण आगे कहेंगे ।

विशेषार्थ—सत्यार्थ आप्त-आगम-गुरु का तीन मूढ़ताओं रहित और आठ अंगों सहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। आप्त का सामान्यतया प्रसिद्ध अर्थ यह है कि—**'यो यत्रावञ्चकः स तत्र आप्तः'** अर्थात् जो जिस विषय में अवञ्चक है, वह उस विषय में आप्त है। जिसने अपने वास्तविक गुणों के घातक चार घातिया कर्मों को नष्ट करके अपने शुद्ध केवलज्ञानादि गुणों को प्राप्त कर लिया है, उसे **आप्त** कहा जाता है। और आप्त के द्वारा प्रतिपादित समस्त वस्तुतत्त्व का परिज्ञान जिसके द्वारा हो वह **आगम** है। जिस क्रिया के द्वारा आत्मा अपने समस्त दोषों से रहित होकर सर्वथा विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर ले, उसे **तप** कहते हैं। और असाधारण निर्जरा के कारणभूत तप के करने वाले **तपस्वी** कहलाते हैं। इस प्रकार आप्त, आगम और गुरु की श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। सम्यग्दर्शन को निर्दोष रखने के लिए तीन मूढ़ताओं और आठ मदों से दूर रहना चाहिए। तथा आठ अंगों का परिपालन करना चाहिए।

आगम में प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य को सम्यग्दर्शन का लक्षण बताया है। यह भी अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय के अभाव से सम्बन्ध रखता है। मतलब यह है कि अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय के अभाव से होने वाले प्रशमादिक भाव ही वास्तव में सम्यग्दर्शन के लक्षण माने गये हैं और यह संगत भी है। साथ ही इन प्रशमादि भावों से युक्त आस्तिक्य को भी लक्षण माना गया है।

करणानुयोग ग्रन्थों में मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात कर्म प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर जो आत्मश्रद्धान होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहा है।

द्रव्यानुयोग में—अपने-अपने वास्तविक स्वरूप सहित जीवादि सात तत्त्व, छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय और नौ पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा है। तथा इसी अनुयोग के अन्तर्गत आत्मतत्त्व का वर्णन करने वाले अध्यात्म ग्रन्थों में परद्रव्य से भिन्न शुद्ध आत्मतत्त्व का श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा गया है।

इस प्रकार विवक्षित भेद से पृथक्-पृथक् लक्षण किया जाता है किन्तु वास्तव में, इनमें कोई भेद नहीं है ॥४॥

तत्र सद्दर्शनविषयतयोक्तस्याप्तस्य स्वरूपं व्याचिख्यासुराह—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

'आप्तेन भवितव्यं' 'नियोगेन' निश्चयेन नियमेन वा । किं विशिष्टेन ? 'उत्सन्नदोषेण' नष्टदोषेण । तथा 'सर्वज्ञेन' सर्वत्र विषयेऽशेषविशेषतः परिस्फुट परिज्ञानवता नियोगेन भवितव्यं । तथा 'आगमेशिना' भव्यजनानां हेयोपादेय तत्त्व प्रतिपत्तिहेतुभूतागम प्रतिपादकेन नियमेन भवितव्यं । कुत एतदित्याह–'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्' 'हि' यस्मात् अन्यथा उक्तविपरीतप्रकारेण, आप्तता न भवेत् ॥५॥

आगे सम्यग्दर्शन के विषयरूप से कहे हुए आप्त का लक्षण कहते हैं—

आप्तेनेति—(नियोगेन) नियम से (आप्तेन) आप्त को (उच्छिन्नदोषेण) दोष रहित (सर्वज्ञेन) सर्वज्ञ और (आगमेशिना) आगम का स्वामी (भवितव्यं) होना चाहिए । (हि) क्योंकि (अन्यथा) अन्य प्रकार से (आप्तता) आप्तपना (न भवेत्) नहीं हो सकता ।

टीकार्थ—जिनके क्षुधा-तृषादि शारीरिक तथा रागद्वेषादिक दोष नष्ट हो गये हैं तथा जो समस्त पदार्थों को उनकी विशेषताओं सहित स्पष्ट जानते हैं तथा जो आगम के ईश हैं । अर्थात् जिनकी दिव्यध्वनि सुनकर गणधर द्वादशांगरूप शास्त्र की रचना करते हैं, इस प्रकार जो भव्य जीवों को हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान कराने वाले आगम के मूलकर्त्ता हैं वे ही आप्त-सच्चे देव हो सकते हैं, यह निश्चित है, क्योंकि जिनमें ये विशेषताएँ नहीं हैं, वे आप्त-सच्चे देव नहीं हो सकते ।

विशेषार्थ—संसार में आप्त के स्वरूप के विषय में अनेक मिथ्या मान्यताएँ प्रचलित हैं । किन्तु प्रकृत में आप्त से आशय श्रेयोमार्गरूप धर्म के वक्ता से है । और उस वक्ता में तीनों विशेषणों का रहना भी अत्यावश्यक है। इसलिए ग्रन्थकर्त्ता ने जोर देकर कहा है कि 'नान्यथाह्याप्तता भवेत्' अर्थात् अन्यथा आप्तपना हो ही नहीं सकता । जो स्वयं दोषी है वह अन्य जीवों को निराकुल-सुखी और निर्दोष कैसे बना सकता है । जो अनेक बाधाओं दोषों से युक्त होने के कारण महादुःखावस्था सहित है वे ईश्वर कैसे हो सकते हैं ?

सभी द्रव्यों और उनकी समस्त गुण-पर्यायों को जानने वाले अतीन्द्रिय ज्ञानी के सर्वज्ञपना पाया जाता है । किन्तु राग-द्वेष से मलीमस के नहीं । 'क्योंकि वक्ता की

प्रमाणता से ही वचनों में प्रमाणता आती है' इस प्रकार वक्ता की वास्तविक योग्यता का परिचय उपर्युक्त विशेषणों से भली प्रकार हो जाता है। देव के लक्षण में वीतरागता और सर्वज्ञता का होना अनिवार्य है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों के नाश हो जाने से अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तबल ये चार अनन्त चतुष्टय प्रकट हो जाने से आप्तपना आता है, इन्हीं को सच्चा देव कहते हैं। जो तीर्थंकर होकर अरहन्त अवस्था को प्राप्त होते हैं उनकी दिव्यध्वनि नियम से खिरती है और उसके आधार पर गणधरदेव द्वादशांग श्रुत की रचना करते हैं। जो अन्य पुरुष अरहन्त अवस्था प्राप्त करते हैं उनके दिव्यध्वनि खिरने का नियम नहीं है। हितोपदेशिता तो तीर्थंकर के ही होती है इसलिये आगमेशिता तीर्थंकर की अपेक्षा ही समझनी चाहिए।

आप्त शब्द का एक प्रसिद्ध अर्थ यह भी है कि जो जिस विषय में अवञ्चक है, वह उस विषय में आप्त माना जाता है। किन्तु यह बात भी दृष्टि में रहना जरूरी है कि अवञ्चकता के लिए वास्तव में अज्ञान, कषाय और दौर्बल्य इन तीनों दोषों का निर्हरण अत्यावश्यक है। इस कारिका में पारलौकिक आप्त का स्वरूप बताया है, वह पूर्ण निर्दोष है और लौकिक तथा पारलौकिक सभी विषयों की प्रामाणिकता पर प्रकाश डालता है। पारलौकिक आप्त से जो अविरुद्ध है वे ही लौकिक आप्त प्रामाणिक माने जा सकते हैं। न कि स्वतन्त्र और पारलौकिक आप्त के विरुद्ध भाषण करने वाले। यह बात पारलौकिक आप्त का असाधारण, सत्य निर्बाध और पूर्ण लक्षण कहे बिना नहीं मालुम हो सकती थी, इसलिये भी कारिका की रचना आवश्यक थी। इस कारिका में दिये गये तीनों विशेषणों के बिना किसी तरह आप्तपना बन नहीं सकता। इस सब का निष्कर्ष यही है कि पूर्ण वीतरागता प्राप्त किये बिना अज्ञान का सर्वथा विनाश हो नहीं सकता। अर्थात् सर्वज्ञता प्राप्त नहीं हो सकती और उसके बिना श्रेयोमार्ग का यथार्थ वर्णन नहीं हो सकता, आगमेशिता बन नहीं सकती क्योंकि वीतरागता और सर्वज्ञता इन दोनों गुणों को प्राप्त किये बिना यथार्थ आगम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यथार्थ वर्णन सर्वज्ञता के द्वारा ही हो सकता है और वही प्रमाण माना जा सकता है। किन्तु जब तक व्यक्ति समस्त दोषों का निर्मूलन नहीं कर देता तब तक सर्वज्ञता प्राप्त नहीं होती, सर्वज्ञता के पहले वीतरागता प्राप्त होती है। क्योंकि क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थान में वीतराग तो कहे जाते हैं किन्तु सर्वज्ञ नहीं कहे जाते। राग, द्वेष, मोह के

अभाव से प्राप्त हुई वीतरागता ही घातित्रय का अभाव करके सर्वज्ञता की सिद्धि करा देती है। अतएव सर्वज्ञपद अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन चार अनन्त चतुष्टय को प्रकट कर देता है।

इस तरह आप्त के विषय में ग्रन्थकार ने जो यह कहा है कि प्रकृत निर्दोषता आदि तीन विशेषणों से युक्त ही आप्त हो सकता है, अन्यथा आप्तपना बन नहीं सकता, यह सर्वथा युक्तियुक्त है। इस प्रकार देव के लक्षण में वीतरागता और सर्वज्ञता होना अनिवार्य है क्योंकि इन दोनों विशेषताओं के साथ ही आगमेशिता सम्भव है जो तीर्थंकर अरहन्त के पाई जाती है।

अथ के पुनस्ते दोषा ये तत्रोत्सन्ना इत्याशंक्याह—

क्षुत्पिपासाजरातंक जन्मान्तक भयस्मयाः।
न राग द्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥

क्षुच्च बुभुक्षा। पिपासा च तृषा। जरा च वृद्धत्वं। आतंकश्च व्याधिः। जन्म च कर्मवशाच्चतुर्गतिषूत्पत्तिः। अन्तकश्च मृत्युः। भयं चेहपरलोकात्राणागुप्ति मरण वेदनाऽऽकस्मिकलक्षणं। स्मयश्च जातिकुलादिदर्पः रागद्वेषमोहाः प्रसिद्धाः। च शब्दा-च्चिन्ताऽरतिनिद्राविस्मयमदस्वेद खेदा गृह्यन्ते। एतेऽष्टादशदोषा यस्य न सन्ति स आप्तः 'प्रकीर्त्यते' प्रतिपाद्यते। ननु चाप्तस्य भवेत् क्षुत्, क्षुदभावे आहारादौ प्रवृत्त्य-भावाद्देहस्थितिर्न स्यात्। अस्ति चासौ, तस्मादाहारसिद्धिः। तथा हि। भगवतो देह-स्थितिराहारपूर्विका, देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत्। जैनैनोच्यते—अत्र किमाहार-मात्रं साध्यते कवलाहारो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता 'आसयोगकेवलिन आहारिणो जीवा' इत्यागमाभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षे तु देवदेहस्थित्याव्यभिचारः। देवानां सर्वदा कवलाहाराभावेऽप्यस्याः सम्भवात्। अथ मानसाहारात्तेषां तत्र स्थितिस्तर्हि केवलिनां कर्मनोकर्माहारात् सास्तु। अथ मनुष्यदेह स्थितित्वादस्मदादिवत्सातत्पूर्विका इष्यते तर्हि तद्वदेव तद्देहे सर्वदा निःस्वेदत्वाद्यभावः स्यात्। अस्मदादावनुपलब्धस्यापि तदतिशयस्य तत्र संभवे भुक्त्यभावलक्षणोऽप्यतिशयः किं न स्यात्। किं च अस्मदादौ दृष्टस्य धर्मस्य भगवति सम्प्रसाधने तज्ज्ञानस्येन्द्रियजनितत्वप्रसंगः। तथाहिभगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वात् अस्मदादिज्ञानवत्। अतो भगवतः केवलज्ञान लक्षणातीन्द्रियज्ञानासंभवात् सर्वज्ञत्वाय दत्तो जलांजलिः। ज्ञानत्वाविशेषेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वे देहस्थितित्वाऽ-

विशेषेऽपि तद्देहस्थितेरकवलाहारपूर्वकत्वं किं न स्यात् । वेदनीयसद्भावात्तस्य बुभुक्षोत्पत्तेर्भोजनादौ प्रवृत्तिरित्युक्तिरनुपपन्ना मोहनीयकर्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने सामर्थ्यात् । 'भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा' सा मोहनीयकर्मकार्यत्वात् कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात् ? अन्यथा रिरंसाया अपि तत्र प्रसंगात् कमनीयकामिन्यादि सेवाप्रसक्तेरीश्वरादेस्तस्याविशेषाद्वीतरागता न स्यात् । विपक्षभावनावशाद्रागादीनां हान्यतिशयदर्शनात् केवलिनि तत्परमप्रकर्षप्रसिद्धेर्वीतरागतावद्वै भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र किं न स्यात्, तद्भावनातो भोजनादावपि हान्यतिशयदर्शनाविशेषात् । तथाहिएकस्मिन् दिने योऽनेकवारान् भुंक्ते, कदाचित् विपक्षभावनावशात् स एव पुनरेकवारं भुंक्ते । कश्चित् पुनरेकदिनाद्यन्तरितभोजनः, अन्यः पुनः पक्षमाससंवत्सराद्यन्तरितभोजन इति । किं च बुभुक्षापीडानिवृत्तिर्भोजनरसास्वादनाद्भवेत् तदास्वादनं चास्य रसनेन्द्रियात् केवलज्ञानाद्वा ? रसनेन्द्रियाच्चेत् मतिज्ञानप्रसंगात् केवलज्ञानाभावः स्यात् । केवलज्ञानाच्चेत् किं भोजनेन ? दूरस्थस्यापि त्रैलोक्योदरवर्तिनोरसस्य परिस्फुटं तेनानुभवसम्भवात् । कथं चास्य केवलज्ञानसम्भवो भुंजानस्य श्रेणीतः पतितत्वं प्रमत्तगुणस्थानवर्तित्वात् । अप्रमत्तो हि साधुराहार कथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति । नार्हन्भुञ्जानोऽपीति महच्चित्रम् । अस्तुतावज्ज्ञानसम्भवः तथाप्यसौ केवलज्ञानेन पिशिताद्यशुद्धद्रव्याणि पश्यन् कथं भुंजीत अन्तराय प्रसंगात् । गृहस्था अप्यल्पसत्त्वास्तानि पश्यन्तोऽन्तरायं कुर्वन्ति, किं पुनर्भगवाननन्तवीर्यस्तन्नकुर्यात् । तदकरणे वा तस्य तेभ्योऽपि हीनसत्त्वप्रसंगात् । क्षुत्पीडासंभवेचास्य कथमनन्तसौख्यं स्यात् यतोऽनन्त चतुष्टयस्वामिताऽस्य । नहि सान्तरायस्यानन्तता युक्ता ज्ञानवत् । न च बुभुक्षा पीडैव न भवतीत्यभिधातव्यम् 'क्षुधासमा नास्ति शरीर वेदना' इत्यभिधानात् । तदलमति प्रसंगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रपंचतः प्ररूपणात् ।। ६ ।।

आगे, वे कौनसे दोष हैं जो आप्त में नष्ट हो जाते हैं, ऐसी आशंका उठाकर उन दोषों का वर्णन करते हैं---

क्षुत्पिपासेति---यस्य (जिसके) (क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः) भूख, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मृत्यु, भय, गर्व (रागद्वेषमोहाः) राग, द्वेष, मोह और (च) चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, मद, स्वेद और खेद ये अठारह दोष (न) नहीं हैं (सः) वह (आप्तः) आप्त--सच्चा देव (प्रकीर्त्यते) कहा जाता है ।

टीकार्थ — क्षुधा-भूख, पिपासा-प्यास, जरा-बुढ़ापा, वात-पित्त तथा कफ के विकार से उत्पन्न रोग, कर्मों के उदय से चारों गतियों में उत्पत्ति का होना जन्म है। अन्तक-मृत्यु, इहलोकभय, परलोकभय, अत्राणभय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय और आकस्मिकभय ये सात भय हैं। जाति कुलादि के गर्व को स्मय-अहंकार कहते हैं। इष्ट-वस्तु के प्रति प्रीति-राग है, अनिष्ट वस्तु में अप्रीति का होना द्वेष है, शरीरादिक परवस्तुओं में ममकार बुद्धि का होना मोह कहलाता है। श्लोक में आये हुए च शब्द से चिन्ता-अरति, निद्रा, विस्मय, मद, स्वेद और खेद इन सात दोषों का ग्रहण होता है। इष्टवस्तु का वियोग होने पर उसे प्राप्त करने के लिए मन में जो विकलता होती है उसे चिन्ता कहते हैं, अप्रियवस्तु का समागम होने पर जो अप्रसन्नता होती है, वह अरति है। निद्रा का अर्थ प्रसिद्ध है। इसके पांच भेद हैं निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि। आश्चर्यरूप परिणाम को विस्मय कहते हैं। नशा को मद कहते हैं, पसीना को स्वेद कहते हैं, और थकावट को खेद कहते हैं, ये सब मिलकर अठारह दोष कहलाते हैं। ये दोष जिनमें नहीं पाये जाते हैं, वे ही आप्त कहलाते हैं।

यहाँ शंकाकार कहता है कि आप्त के क्षुधा की बाधा होती है, क्योंकि भूख के अभाव में आहारादिक में प्रवृत्ति नहीं होगी और आहारादिक में प्रवृत्ति न होने से शरीर की स्थिति नहीं रह सकेगी। किन्तु आप्त के शरीर की स्थिति रहती है। अतः उससे आहार की भी सिद्धि हो जाती है। यहां पर निम्न प्रकार का अनुमान होता है—

केवली भगवान की शरीर स्थिति आहारपूर्वक होती है क्योंकि वह शरीर स्थिति है, हमारी शरीर स्थिति के समान। जिस प्रकार हम छद्मस्थों का शरीर आहार के बिना स्थिर नहीं रहता उसी प्रकार आप्त भगवान का शरीर भी आहार के बिना स्थिर नहीं रह सकता। अतः उनके आहार अवश्य होता है और जब आहार है तो क्षुधा का मानना भी अनिवार्य होगा?

इस शंका के उत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि आप आप्त भगवान के आहार मात्र सिद्ध कर रहे हो या कवलाहार? प्रथम पक्ष में सिद्ध साधनता दोष आता है, क्योंकि सयोग केवली पर्यन्त तक के सभी जीव आहारक हैं ऐसा आगम में स्वीकार किया है। और दूसरे पक्ष में देवों की शरीरस्थिति के साथ व्यभिचार आता है क्योंकि देवों के सर्वदा कवलाहार का अभाव होने पर भी शरीर की स्थिति देखी जाती है।

यदि कोई यह कहे कि देवों के मानसिक आहार होता है उससे उनके शरीर की स्थिति देखी जाती है तो उसका उत्तर यह है कि केवली भगवान् के भी कर्म तथा नोकर्म आहार होता है उससे उनके शरीर की स्थिति रह सकती है। यदि यहाँ यह कहा जावे कि आप्त का शरीर हमारे शरीर के समान ही तो मनुष्य का शरीर है इसलिए जिस प्रकार हमारा शरीर आहार के बिना नहीं टिक सकता उसी प्रकार आप्त का शरीर भी आहार के बिना नहीं ठहर सकता। इसका उत्तर यह है कि यदि आहार की अपेक्षा आप्त भगवान के शरीर से हमारे शरीर की तुलना की जाती है तो जिस प्रकार केवली भगवान के शरीर में पसीना आदि का अभाव है उसी प्रकार हम छद्मस्थों के शरीर में भी पसीना आदि का अभाव होना चाहिए क्योंकि मनुष्य शरीरत्वरूप हेतु दोनों में विद्यमान है। इसके उत्तर में यदि यह कहा जावे कि हमारे शरीर में वह अतिशय नहीं पाया जाता जिससे कि पसीना आदि का अभाव हो, परन्तु केवली भगवान के तो वह अतिशय पाया हो जाता है जिसके कारण उनके शरीर में पसीना आदि नहीं होता, तो इसका उत्तर यह है कि जब केवली भगवान के पसीना आदि के अभाव का अतिशय माना जाता है तब भोजन के अभाव का अतिशय क्यों नहीं हो सकता ?

दूसरी बात यह है कि जो धर्म हम छद्मस्थों में देखा जाता है; वह यदि भगवान में भी सिद्ध किया जाता है तो जिस प्रकार हम लोगों का ज्ञान इन्द्रियजनित है उसी प्रकार भगवान का ज्ञान भी इन्द्रियजनित मानना चाहिए। इसके लिए निम्न प्रकार का अनुमान किया जाता है—'भगवते ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वात् अस्मदादिज्ञानवत्' भगवान का ज्ञान इन्द्रिय जनित है क्योंकि वह ज्ञान है हमारे ज्ञान के समान। इस अनुमान से अरहन्त भगवान के केवलज्ञानरूप अतीन्द्रियज्ञान असम्भव हो जाएगा और तब सर्वज्ञता के लिए जलाञ्जलि देनी पड़ेगी। यदि यह कहा जाए कि हमारे और उनके ज्ञान में ज्ञानत्व की अपेक्षा समानता होने पर भी उनका ज्ञान अतीन्द्रिय है तो इसका उत्तर यह है कि हमारे और उनके शरीरस्थिति की समानता होने पर भी उनकी शरीरस्थिति बिना कवलाहार के क्यों नहीं हो सकती ?

अरहन्त भगवान के असातावेदनीय का उदय रहने से बुभुक्षा—भोजन करने की इच्छा उत्पन्न होती है, इसलिए भोजनादि में उनकी प्रवृत्ति होती है, यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिस वेदनीय के साथ मोहनीय कर्म सहायक रहता है, वही बुभुक्षा के उत्पन्न करने में समर्थ होता है। भोजन करने की इच्छा को बुभुक्षा कहते हैं। वह

बुभुक्षा मोहनीय कर्म का कार्य है। अतः जिनके मोह का सर्वथा क्षय हो चुका है ऐसे अरहन्त भगवान के वह कैसे हो सकती है ? यदि ऐसा न माना जाएगा तो फिर रिरंसा–रमण करने की इच्छा भी उनके होनी चाहिए। और उसके होने पर सुन्दर स्त्री आदि के सेवन का प्रसंग भी आ जाएगा। उसके आने पर अरहन्त भगवान की वीतरागता ही समाप्त हो जाएगी। यदि यह कहा जाए कि विपरीत भावनाओं के वश से रागादिक की हीनता का अतिशय देखा जाता है। अर्थात् रागादिक के विरुद्ध भावना करने से रागादिक में ह्रास देखा जाता है। केवली भगवान के रागादिक की हानि अपनी चरम सीमा को प्राप्त है, इसलिए उनकी वीतरागता में बाधा नहीं आती? इसका उत्तर यह है कि यदि ऐसा है तो उनके भोजनाभाव की परम प्रकर्षता क्यों नहीं हो सकती, क्योंकि भोजनाभाव की भावना से भोजनादिक में भी ह्रास का अतिशय देखा जाता है। जैसे जो पुरुष एक दिन में अनेक बार भोजन करता है वही पुरुष कभी विपरीत भावना के वश से एक बार भोजन करता है। कोई पुरुष एक दिन के अन्तर से भोजन करता है और कोई पुरुष पक्ष, मास तथा वर्ष आदि के अन्तर से भोजन करता है।

दूसरी बात यह भी है कि अरहन्त भगवान के जो बुभुक्षा सम्बन्धी पीड़ा होती है और उसकी निवृत्ति भोजन के रसास्वादन से होती है तो यहाँ पूछना यह है कि वह रसास्वादन उनके रसना इन्द्रिय से होता है या केवलज्ञान से ? यदि रसना इन्द्रिय से होता है, ऐसा माना जाय तो मतिज्ञान का प्रसंग आने से केवलज्ञान का अभाव हो जाएगा। इस दोष से बचने के लिये यदि केवलज्ञान से रसास्वाद माना जाए तो फिर भोजन की आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि केवलज्ञान के द्वारा तो तीन लोक के मध्य में रहने वाले दूरवर्ती रसका भी अच्छी तरह अनुभव हो सकता है। एक बात यह भी है कि भोजन करने वाले अरहन्त के केवलज्ञान हो भी कैसे सकता है, क्योंकि भोजन करते समय वे श्रेणी से पतित होकर प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती हो जायेंगे। जब अप्रमत्त-विरत साधु, आहार की कथा करने मात्र से प्रमत्त हो जाता है, तब अरहन्त भगवान भोजन करते हुए भी प्रमत्त न हों यह बड़ा आश्चर्य है। अथवा केवलज्ञान मान भी लिया जाय तो भी केवलज्ञान के द्वारा मांस आदि अशुद्ध द्रव्यों को देखते हुए वे कैसे भोजन कर सकते हैं। क्योंकि अन्तराय का प्रसंग आता है। अल्पशक्ति के धारक गृहस्थ भी जब मांसादिक को देखते हुए अन्तराय करते हैं तब अनन्तवीर्य के धारक

अरहन्त भगवान क्या अन्तराय नहीं करेंगे ? यदि नहीं करते हैं तो उनमें भी हीनशक्ति का प्रसंग आता है। यदि अरहन्त भगवान के क्षुधा सम्बन्धी पीड़ा होती है तो उनके अनन्त सुख किस प्रकार हो सकता है ? जबकि वे नियम से अनन्तचतुष्टय के स्वामी होते हैं। जो अन्तराय से सहित है, उसके ज्ञान के समान सुख की अनन्तता नहीं हो सकती। अर्थात् जिस प्रकार अन्तराय सहित ज्ञान में अनन्तता नहीं होती उसी प्रकार अन्तराय सहित अरहन्त के सुख में अनन्तता नहीं हो सकती। 'क्षुधा पीड़ा ही नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लोक में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि **'क्षुधासमा नास्ति शरीर वेदना'** क्षुधा के समान दूसरी कोई शरीर पीड़ा नहीं है। इस विषय को यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है क्योंकि प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र में विस्तार से इसका निरूपण किया गया है।

विशेषार्थ—इस कारिका में जो अठारह दोषों का उल्लेख किया गया है उन दोषों से रहित होने पर ही वास्तव में आप्त की आप्तता मानी जाती है। जो इन दोषों से रहित नहीं हैं वे यदि अन्य दोषों से रहित भी हों तब भी उनमें सच्ची आप्तता नहीं मानी जा सकती। क्योंकि इन में से कुछ दोष घातिया कर्म निमित्तक हैं और कुछ अघातिया कर्म निमित्तक हैं जैसा कि बतलाया जा चुका है। यदि आप्त इन दोषों से रहित नहीं माने जाते हैं तो निश्चित है कि अन्य संसारी जीवों के समान वे अरहन्त भी उन कर्मों का फल भोगने वाले होंगे। इसलिये वे मोक्षमार्ग के प्रणेता भी नहीं कहला सकेंगे। जिस व्यक्ति में आप्तता का निदर्शन करना है उसमें सबसे पहले निर्दोषता का सद्भाव दिखाना जरूरी है। जिस तरह मलिनवस्त्र पर ठीक-ठीक रंग नहीं चढ़ता उसी प्रकार कर्मों से मलिन आत्मा में भी आप्तता का वास्तविक रंग नहीं चढ़ सकता है।

वेदनीयकर्म यथायोग्य कर्मों के उदय से उत्पन्न अवस्था का वेदन कराता है। जहाँ पर जिस कर्म का उदय-सत्त्व नहीं वहाँ पर तज्जनित अवस्था का वेदन नहीं हो सकता। भोजन में प्रवृत्ति भी संज्वलन कषाय के तीव्र उदय या उदीरणा तक ही हो सकती है, ऐसी अवस्था छठे गुणस्थान तक ही मानी गई है। इस गुणस्थान तक के जीव ही भूख-प्यासादि की बाधा को दूर करने के लिए भोजनादि में प्रवृत्ति करते हैं। इसके ऊपर के सभी जीव अप्रमत्त हैं। और वहाँ ध्यान अवस्था है। अतएव सयोग केवली भगवान के आहार में प्रवृत्ति मानना नितान्त असंगत है। और अवर्णवादरूप

होने से मिथ्यात्व के बन्ध का तथा संसार भ्रमण का कारण है। सम्पूर्ण कर्मों का राजा या शिरोमणि मोहनीय कर्म है अतएव जहाँ तक उसका अस्तित्व बना हुआ है वहाँ तक सभी कर्म बने रहते हैं। किन्तु उसके हटते ही सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। जब मोह के साथ सभी कर्मों का इस तरह का सम्बन्ध है तब मोह का निमित्त न रहने पर अन्य कर्म अपना फल देने में असमर्थ हो जायें तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह स्पष्ट है कि मोह का क्षय होते ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनों घातिया कर्म एक साथ क्षीण हो जाते हैं। विद्यमान आयु कर्म को छोड़कर क्षपकश्रेणी चढ़ने वाले जीव के अन्य किसी भी आयु का सत्त्व नहीं रहा करता, और बन्ध भी नहीं होता, केवल वेदनीय का भी जो बन्ध है वह भी उपचरित है वास्तविक नहीं, क्योंकि वास्तविक बन्ध में भी कम से कम अन्तर्मुहूर्त की स्थिति का पड़ना जरूरी है। किन्तु उपशान्तमोह और क्षीणमोह व्यक्ति के जो वेदनीय कर्म का बन्ध है वह मात्र एक समय की स्थिति वाला होता है। मोह के तीव्रोदय की अवस्था में ये अघातियाकर्म जैसा कुछ फल दिया करते हैं वैसा मोह के अभाव में मानना नितान्त असंगत है। अतएव मोह के तीव्र उदय और उदीरणा के साहचर्य के निमित्त से होने वाले क्षुधा, तृषा, रोग उपसर्ग आदि को जीवन्मुक्त सर्वज्ञ के बताना सर्वथा अप्रामाणिक है।

अथोक्तदोषैर्वर्जितस्याप्तस्य वाचिकां नाममालां प्ररूपयन्नाह—

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥७॥

परमे इन्द्रादीनां वन्द्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी। परं निरावरणं परमातिशयप्राप्तं ज्योतिर्ज्ञानं यस्यासौ परमज्योतिः। 'विरागो' विगतो रागो भावकर्म यस्य। 'विमलो' विनष्टो मलो द्रव्यरूपो मूलोत्तरकर्मप्रकृतिप्रपंचो यस्य। 'कृती' निःशेष हेयोपादेयतत्त्वे विवेकसम्पन्नः। 'सर्वज्ञो' यथावन्निखिलार्थ साक्षात्कारी। 'अनादिमध्यान्तः' उक्तस्वरूपप्राप्तप्रवाहापेक्षया आदिमध्यान्तशून्यः। 'सार्वः' इह परलोकोपकारकमार्गप्रदर्शकत्वेन सर्वेभ्यो हितः। 'शास्ता' पूर्वापरविरोधादिदोषपरिहारेणाखिलार्थानां यथावत्स्वरूपोपदेशकः। एतैः शब्दैरुक्तस्वरूप आप्त 'उपलाल्यते' प्रतिपाद्यते ॥७॥

आगे पूर्वोक्त दोषों से रहित आप्त की नामावली का निरूपण करते हैं—

परमेष्ठीति— (स आप्तः) वह आप्त (परमेष्ठी) परमेष्ठी (परंज्योतिः) परंज्योति (विरागः) विराग (विमलः) विमल (कृती) कृती-कृतकृत्य (सर्वज्ञः) सर्वज्ञ

(अनादिमध्यान्त:) अनादिमध्यान्त–आदि, मध्य तथा अन्त से रहित। (सार्व:) सार्व–सर्वहितकर्ता और (शास्ता) शास्ता–हितोपदेशक (उपलाल्यते) कहा जाता है, ये सब आप्त के नाम हैं।

टीकार्थ—'परमेइन्द्रादीनांवन्द्येपदे आर्हन्त्येपदे तिष्ठति इति परमेष्ठी' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो इन्द्रादिक के द्वारा वन्दनीय परमपद-अर्हन्तपद में स्थित रहते हैं वे परमेष्ठी कहलाते हैं 'परमातिशयप्राप्तं ज्योतिर्ज्ञानं यस्यासौ परमज्योति:' इस निरुक्ति के अनुसार निरावरण केवलज्ञान से सहित होने के कारण परमज्योति कहलाते हैं। 'विगतोरागो यस्य स: विराग:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रागरूप भावकर्म के नष्ट हो जाने से विराग कहलाते हैं। 'विगतो विनष्टो मल: पापं यस्य यस्माद्वा स विमल:' इस निरुक्ति के अनुसार मूलप्रकृति तथा उत्तरप्रकृतिरूप द्रव्यकर्म के नष्ट हो जाने से विमल कहलाते हैं। 'कृतं कृत्यं येन स कृती' इस प्रकार जो समस्त हेय-उपादेय तत्त्वों के विषय में विवेक सम्पन्न होने के कारण कृती कहलाते हैं। 'सर्वं जानातीतिसर्वज्ञ:' जो समस्त पदार्थों को साक्षात् जानने वाले होने से सर्वज्ञ कहे जाते हैं। 'न विद्यते आदि मध्यान्त:-यस्यसोऽनादिमध्यान्त:' इस प्रकार पूर्वोक्त स्वरूप वाले आप्त के, प्रवाह की अपेक्षा आदि-मध्य और अन्त से रहित होने के कारण वे अनादिमध्यान्त कहे जाते हैं।

चौंसठ चामर, छत्रत्रयादिक दिव्य सम्पदा से विभूषित तथा भव्य जीवों को धर्मोपदेश-रूप धर्मामृत का उपदेश देकर जन्म-जरा-मरण के सन्ताप को दूर करने वाले आप्त परमेष्ठी हैं। परमेष्ठी विशेषण भाग्य के अतिशय को प्रकट करता है क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति जो कि पुण्यकर्मों में सबसे महान है उसके उदय आने पर अथवा तत्सम अन्य असाधारण पुण्यकर्मों के उदय से रहित यह पद नहीं हुआ करता। इसलिए वह पद तीन लोक के अधीश्वर शतइंद्रों द्वारा वन्दनीय होता है। 'सार्वः' यह विशेषण शास्ता के वाणीसम्बन्धी अतिशय को प्रकट करता है। भगवान की वाणी यदि इस तरह के असाधारण अतिशय से युक्त नहीं होती तो तीन जगत् के जीवों का हित असम्भव ही था। 'परमज्योति' विशेषण शरीर के अतिशय को प्रकट करता है, जिनके शरीर की प्रभा कोटि सूर्य की प्रभा को भी तिरस्कृत करने वाली है। 'विराग' विशेषण यह द्योतित करता है कि राग-द्वेष-मोह के अभाव से उत्पन्न होने वाले सम्यक्त्वादि गुणों से सहित अरहन्त भगवान ही विरागी हैं। तथा घातियाकर्मों और क्षुधातृषादि अठारह दोषों से रहित एवं निगोद जीवों से रहित परमौदारिक, छायारहित, कान्तियुक्त शरीर से सहित अरहन्त भगवान विमल हैं। सभी प्रकार की भोगशक्ति से रहित मोह के अभाव से कृतकृत्यपना अरहन्त के प्रकट होता है। सर्वज्ञ शब्द स्पष्ट ही ज्ञानावरण के निःशेष क्षय को सूचित करता है। अनादिमध्यान्त शब्द दर्शनावरण के अभाव का सूचक है। इस प्रकार निकट भव्यों को हितकर उपदेश देने वाले शास्ता आप्त कहलाते हैं।※

सम्यग्दर्शनविषयभूताप्तस्वरूपमभिधायेदानीं तद्विषयभूतागमस्वरूपमभिधातु-माह—

※ भगवान की उस सर्वाधिक अतिशयवाली वाणी का ही यह प्रभाव है कि आज तक सब जीव सुरक्षित हैं और सदा रहेंगे। क्योंकि वास्तविक अहिंसा तत्त्व की आज जगत् में जो मान्यता है–उसका जो प्रसार है और जिसके कारण जगत के प्रायः सभी जीव निर्भय पाये जाते हैं वह उन तीर्थंकर की वाणी के प्रभाव का ही फल है। शेष पांच विशेषण उनके आत्मातिशय को प्रकट करते हैं। इन पांच में भी एक 'विमल' विशेषण द्रव्यकर्म के अभाव से उत्पन्न आत्मविशुद्धि और बाकी के चार विशेषण घातियाकर्मों के क्षय से प्रकट हुए अनन्त चतुष्टय को प्रकट करते हैं। कृति शब्द का कृतार्थ अर्थ फलितार्थ है, ऐसा मानकर विचार करने से प्रतीत होता है कि यह शब्द अन्तराय के अभाव को सूचित करता है क्योंकि मोह का अभाव हो जाने पर भी जब तक उस जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण के साथ-साथ अन्तराय का अभाव नहीं हो जाता, तब तक उस जीव को कृतकृत्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार से सभी शब्द अन्वर्थक हैं, सहेतुक हैं, और सप्रयोजन हैं।

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम् ।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ।। ८ ।।

'शास्ता' आप्तः । 'शास्ति' शिक्षयति । कान् ? 'सतः' अविपर्ययस्तादित्वेन समीचीनान् भव्यान् । किं शास्ति ? 'हितं' स्वर्गादितत्साधनं च सम्यग्दर्शनादिकम् । किमात्मानः किंचित् फलमभिलषन्नसौ शास्तीत्याह—'अनात्मार्थं' न विद्यते आत्मनोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् शासनकर्मणि परोपकारार्थमेवासौ तान् शास्ति । 'परोपकाराय सतां हि चेष्टितम्' इत्यभिधानात् । स तथा शास्तीत्येतत् कुतोऽवगतमित्याह 'विनारागैः' यतो लाभ पूजा ख्यात्यभिलाषलक्षणपरैर्रागैर्विना शास्ति ततोऽनात्मार्थं शास्तीत्यवसीयते । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमाह—ध्वनन्नित्यादि । शिल्पिकरस्पर्शाद्वादककराभिघातान्मुरजो मदलोध्वनन् किमात्मार्थं किंचिदपेक्षते ? नैवापेक्षते । अयमर्थः—यथा मुरजः परोपकारार्थमेव विचित्रान् शब्दान् करोति तथा सर्वज्ञः शास्त्रप्रणयनमिति ।।८।।

सम्यग्दर्शन के विषयभूत आप्त का स्वरूप कहकर अब उसके विषयभूत आगम का स्वरूप कहने के लिए श्लोक कहते हैं—

अनात्मार्थमिति—(शास्ता) आप्त भगवान (रागैर्विना) राग के बिना (अनात्मार्थं) अपना प्रयोजन न होने पर भी (सतः) समीचीन-भव्य जीवों को (हितं शास्ति) हित का उपदेश देते हैं क्योंकि (शिल्पिकर स्पर्शात्) बजाने वाले के हाथ के स्पर्श से (ध्वनन्) शब्द करता हुआ (मुरजः) मृदंग (किम्अपेक्षते) क्या अपेक्षा रखता है ? कुछ भी नहीं ।

टीकार्थ—अरहन्त भगवान विपर्ययादि दोषों से रहित श्रेष्ठ भव्य जीवों को दिव्यध्वनि के द्वारा स्वर्गादिक तथा उनके साधनरूप सम्यग्दर्शनादिक का उपदेश देते हैं किन्तु वे अपने लिए किंचित् भी फलाभिलाषारूप राग नहीं रखते हैं तथा उस उपदेश में उनका स्वयं का भी कोई प्रयोजन नहीं रहता । मात्र परोपकार के लिए उनकी दिव्य वाणी की प्रवृत्ति होती है । कहा भी है–'**परोपकाराय सतां हि चेष्टितम्**' अर्थात् सत् पुरुषों की चेष्टा परोपकार के लिए ही होती है । राग तथा निजी प्रयोजन के बिना आप्त कैसे उपदेश देते हैं ? इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हुए कहते हैं कि जैसे–शिल्पी के हाथ के स्पर्श से बजने वाला, मनुष्य के हाथ की चोट से शब्द करता हुआ मृदंग क्या कुछ चाहता है ? कुछ नहीं चाहता । तात्पर्य यह है कि जिस

प्रकार मृदंग परोपकार के लिए अनेक प्रकार के शब्द करता है, उसी प्रकार आप्त भगवान भी परोपकार के लिए ही दिव्यध्वनि के माध्यम से उपदेश देते हैं।

विशेषार्थ—यहां पर यह बतलाना अत्यन्त आवश्यक है कि आप्त निर्दोष-निर्मोह होकर भी श्रेयोमार्ग के उपदेश के कार्य में क्यों और किस तरह प्रवृत्त हुआ करते हैं? यद्यपि प्रयोजन अनेक तरह के हुआ करते हैं फिर भी उनको दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक स्वार्थ और दूसरा परार्थ। इनमें से कोई प्रयोजन तो उपदेश देने का आप्त को होना ही चाहिए। अन्यथा जिस तरह सृष्टि रचना, वक्तृत्व के सम्बन्ध को लेकर ईश्वर के विषय में यह आक्षेप उत्पन्न होता है कि बिना प्रयोजन कृतकृत्य ईश्वर सृष्टि रचना के कार्य में क्यों प्रवृत्त होगा? उसी तरह क्या कारण है कि प्रकृत में भी आक्षेप उपस्थित नहीं हो सकता?

अरहन्त भगवान वीतराग होने के कारण परोपकार को सराग भावनारूप दया से रहित हैं। उनकी दिव्यध्वनि में कारण है भव्य श्रोताओं के भाग्य के निमित्त की विवशता और उनकी तीर्थंकर-प्रकृति का उदय। किसी भी तरह की इच्छा के बिना ही उनके वचनयोग की प्रवृत्ति होती है। अतएव वे उपदेश करते हैं, इसलिए आचार्य ने कारिका के उत्तरार्ध में मृदंग का उदाहरण देते हुए मृदंग बजाने वाले के हाथ के स्पर्श का निमित्त और उससे होने वाली जड़ मृदंग की ध्वनि का अर्थान्तरन्यास के द्वारा उल्लेख कर दिया है।

संसारी प्राणी अधिकतर जितना भी कार्य करते हैं वे लोभ, लालच या प्रशंसादिवश करते हैं। यहां तक कि प्रयोजन बिना कोई भी कार्य करना बुद्धिमत्ता का सूचक नहीं माना गया है, इसलिए यह कहावत भी है कि—'**प्रयोजनमन्तरेण मन्दोऽपि न प्रवर्तते**' परन्तु अरहन्त भगवान अपने प्रयोजन के बिना, इच्छा बिना जगत् के प्राणि मात्र के लिए हितकर शिक्षा देते हैं। जिस प्रकार मेघ स्वप्रयोजन के बिना ही प्राणियों के पुण्य के उदय से जल वृष्टि करता है। उसी प्रकार आप्त भी भव्यजन के पुण्य के निमित्त से धर्म क्षेत्रों में विहार करते हुए धर्म से अनभिज्ञ जनों के लिए धर्मामृत की वर्षा करते हैं। इस प्रकार सत्पुरुषों का प्रयत्न परके उपकार के लिए होता है।

राग और निज प्रयोजन की इच्छा मोहकर्म के उदय से होती है। मोहकर्म का क्षय दशवें गुणस्थान में हो जाता है और दिव्यध्वनि तेरहवें गुणस्थान में

खिरती है इसलिये दिव्य ध्वनि में राग और निजप्रयोजन की कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती है ।

कीदृशंतच्छास्त्रं यत्तेन प्रणीतमित्याह—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥९॥

'आप्तोपज्ञं' सर्वज्ञस्य प्रथमोक्तिः । अनुल्लंघ्यं यस्मात्तदाप्तोपज्ञं तस्मादिन्द्रादीनामनुल्लंघ्यमादेयं । कस्मात् ? तदुपज्ञत्वेन तेषामनुल्लंघ्यं यतः । 'अदृष्टेष्टविरोधकं' दृष्टं प्रत्यक्षं, इष्टमनुमानादि, न विद्यते दृष्टेष्टाभ्यां विरोधो यस्य । तथाविधमपि कुतस्तत्सिद्धमित्याह—'तत्त्वोपदेशकृत्' यतस्तत्त्वस्य च सप्तविधस्य जीवादिवस्तुनो यथावस्थित स्वरूपस्य वा उपदेशकृत् यथावत्प्रतिदेशकं ततो दृष्टेष्टविरोधकं । एवंविधमपि कस्मादवगतं ? यतः 'सार्वं' सर्वेभ्यो हितं सार्वमुच्यते तत्कथं यथावत्तत्स्वरूपप्ररूपणमन्तरेण घटते । एतदप्यस्य कुतो निश्चितमित्याह—'कापथघट्टनं' यतः कापथस्य कुत्सितमार्गस्य मिथ्यादर्शनादेर्घट्टनं निराकारकं सर्वज्ञप्रणीतं शास्त्रं ततस्तत्सार्वमिति ॥९॥

वह शास्त्र कैसा होता है जिसकी रचना आप्त भगवान के द्वारा हुई है, यह बतलाते हुए शास्त्र का लक्षण कहते हैं—

आप्तोपज्ञमिति—(तत्) वह (शास्त्रं) शास्त्र (आप्तोपज्ञं) सर्व प्रथम आप्त भगवान के द्वारा कहा हुआ है (अनुल्लंघ्यम्) इन्द्रादिक देवों के द्वारा ग्रहण करने योग्य है अथवा अन्य वादियों के द्वारा जो अखण्डनीय है (अदृष्टेष्टविरोधकम्) प्रत्यक्ष तथा अनुमानादि के विरोध से रहित है (तत्त्वोपदेशकृत्) तत्त्वों का उपदेश करने वाला है (सार्वम्) सबका हितकारी है और (कापथघट्टनम्) मिथ्यामार्ग का निराकरण करने वाला है ।

टीकार्थ—'आप्तोपज्ञं' वह शास्त्र सर्व प्रथम आप्त के द्वारा जाना गया है एवं आप्त के द्वारा ही कहा गया है इसलिये इन्द्रादिक देव उसका उल्लंघन नहीं करते किन्तु श्रद्धा से उसे ग्रहण करते हैं । कुछ प्रतियों में 'तस्मादितरवादिनामनुल्लंघ्य' यह पाठ भी है । इसके अनुसार अन्य वादियों के द्वारा उल्लंघन करने योग्य नहीं है । 'अदृष्टेष्ट विरोधकम्' इष्ट का अर्थ प्रत्यक्ष तथा अदृष्ट का अर्थ अनुमानादि परोक्ष

प्रमाणों को ग्रहण किया है। आप्त के द्वारा प्रणीत शास्त्र इन प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों के विरोध से रहित है। तथा जीव अजीवादि सात प्रकार के तत्त्वों का उपदेश करने वाला है। अथवा अपने-अपने यथार्थ स्वरूप से सहित छह द्रव्यों का उपदेश करने वाला है। 'सर्वेभ्योहितंसार्वं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सब जीवों का हित करने वाला है यह यथावत् स्वरूप के प्ररूपण के बिना घटित नहीं हो सकता। और कुत्सित–खोटा मार्ग जो कि मिथ्यादर्शनादिक हैं उनका निराकरण करने वाला है। शास्त्र की ये सभी विशेषताएँ आप्तप्रणीत होने पर ही सिद्ध हो सकती हैं।

विशेषार्थ—इस भरत क्षेत्र में अभी हुण्डावसर्पिणी काल का प्रवर्तन है, इस काल दोष के निमित्त से अनेक प्रकार के द्रव्यरूप मिथ्याधर्मों की भी उद्भूति हो गई है। ऐसी अवस्था में प्राणी मात्र के हित की भावना से ग्रन्थप्रणयन में प्रवृत्त आचार्यों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि मुमुक्षु जीव भ्रान्तिवश अथवा विपरीत मार्ग का आश्रय लेकर अकल्याण को प्राप्त न हों, इसलिये असत्य सिद्धान्तों का निराकरण करने और सत् सिद्धान्तों के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान कराने वाला उपदेश देवें। वर्तमान में तीनसौ तरेसठ पाखण्डमत पाये जाते हैं। इन्होंने विभिन्न मान्यताओं के अनुसार अनेक प्रकार से खोटे शास्त्रों को रचकर जगत् को सत्यार्थ धर्म से भ्रष्ट किया है।

इसी आशय को लेकर परम कारुणिक आचार्य समन्तभद्र ने यहाँ पर आगम के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। आगम के विषय में लोगों को स्वरूपविपर्यास, फल-विपर्यास, भेदाभेदविपर्यास आदि अनेक प्रकार के विपर्यास बैठे हुए हैं। उन सबका निराकरण करने वाला 'कापथघट्टनम्' विशेषण है। आप्त शब्द का अर्थ तो पाँचवीं गाथा में बतला ही दिया है। आप्त परमेष्ठी की दिव्यध्वनि को सुनकर गणधरदेवादि आचार्य परम्परा से उसका प्रवाह चला आ रहा है। प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने समय के उपज्ञ होते हैं। अभी इस भरतक्षेत्र में जो आगम प्रवर्तमान है उसके उपज्ञ भगवान महावीर हैं, इस दृष्टि से आगम सादि सान्त भी है परन्तु प्रवाह की अपेक्षा अनाद्यनन्त है। यह कथन स्याद्वाद दृष्टि से अविरुद्ध एवं सत्य है, परन्तु स्याद्वाद को नहीं मानने वाले एकान्तवादी का कथन युक्ति पूर्ण नहीं है क्योंकि उसके मूलकर्त्ता आप्त नहीं हैं। 'आप्तोपज्ञ' इस विशेषण से स्वरूप विपर्यास के मूलभूत उस एकान्तवाद का खण्डन हो जाता है, तथा 'वेद' आदि की अनादिता का समर्थन भी नहीं हो सकता।

संसार के प्राणी स्वभाव से ही आप्त के वचनरूप आगम का उल्लंघन करते आ रहे हैं, इसी कारण से वे दुःखी हैं। जो आगम के वाक्यों के अनुकूल अपनी प्रवृत्ति को बनाता है, आगम का उल्लंघन नहीं करता वह अभ्युदय और निःश्रेयस् का पात्र बनता है। तथा ऐसे आगम के इष्ट विषय का कोई भी विरोध नहीं कर सकता, अथवा यह आगम इन्द्रियगोचर तथा इष्ट अभिलषित एवं अनुमेय विषयों का विरोध नहीं करता। इस प्रकार दृष्ट और इष्ट विषय का आगम विरोध नहीं करता। फिर भी आगम का वास्तव में मुख्य विषय क्या है? इसके लिये दो भेदरूप से प्रतिपादन किया—अभ्युदय अर्थात् स्वर्गादि सम्पदा की प्राप्ति और दूसरा निःश्रेयस् अर्थात् मोक्ष सुख का प्राप्त होना।

ऐसा यह आगम सबका हितकारक चतुर्गति के दुःखरूप खोटे मार्ग का निराकरण करने वाला, वास्तविक तत्त्वों का निरूपण करने वाला तथा प्राणीमात्र का हितकारक होता है ॥९॥

अथेदानीं श्रद्धानगोचरस्य तपोभृतः स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरत्न*स्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

विषयेषु स्रग्वनितादिष्वाशा आकांक्षा तस्या वशमधीनता। तदतीतो विषयाकांक्षारहितः। 'निरारम्भः' परित्यक्तकृष्यादिव्यापारः। 'अपरिग्रहो' बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः। 'ज्ञानध्यानतपोरत्न' ज्ञानध्यान तपांस्येव रत्नानि यस्य एतद्गुणविशिष्टो यः स तपस्वी गुरुः 'प्रशस्यते' श्लाघ्यते ॥१०॥

अब इसके पश्चात् सम्यग्दर्शन के विषयभूत तपोभृतगुरु का लक्षण कहते हैं—

विषयाशेति—(यः) जो (विषयाशावशातीतो) विषयों की आशा के वश से रहित हो, (निरारम्भः) आरम्भरहित हो (अपरिग्रहः) परिग्रह रहित हो और (ज्ञानध्यानतपोरत्नः) ज्ञान, ध्यान तथा तपरूपी रत्नों से सहित हो (सः) वह (तपस्वी) गुरु (प्रशस्यते) प्रशंसनीय है।

---

* 'ज्ञानध्यानतपोरक्तः' भी प्रचलित है।

टीकार्थ—जिनके स्पर्शनादि पंचेन्द्रिय के विषयभूत माला तथा स्त्री आदि विषयों की आकांक्षा सम्बन्धी आधीनता नष्ट हो गई है अर्थात् जो पूर्णरूपेण इन्द्रिय-विजयी हैं। तथा जिन्होंने खेती आदि व्यापार का परित्याग कर दिया है और जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित हैं, तथा ज्ञान ध्यान और तप ही जिनके श्रेष्ठ रत्न हैं, उन्हीं में जो सदैव लीन रहते हैं वे तपस्वी-गुरु प्रशंसनीय होते हैं।

विशेषार्थ—तपस्वी का स्वरूप बतलाकर जैनागम का प्रतिपाद्य विषय श्रेयोमार्ग का शक्यानुष्ठान और इष्टफल की प्रकटता को बताना इस कारिका का प्रयोजन है। अत: जो तपस्वी का लक्षण बतलाया है वह जैनागम का एक मूर्तिमान सार है। क्योंकि जैनागम की सफलता तपस्विता पर ही निर्भर है। संसारी प्राणी पंचेन्द्रिय के विषयों की आशा से अनुवासित है, आधीन है। इस कारण से उसे संसार के समस्त दु:खों को उठाते हुए भवभ्रमण करना पड़ता है, परन्तु जिन्होंने इन्द्रियों को अपने आधीन कर लिया है, जो विषय भोगों से विरक्त हो गये हैं वे आत्माराधक वन्दन करने योग्य हैं क्योंकि विषयासक्ति ही आरम्भ-परिग्रह में अनुरक्त करती है, और अनेक प्रकार से त्रस-स्थावर जीवों का घात कराकर पाप का संचय कराती है। इसलिए जो विषयों की आशा के वश हैं, वे गुरु कैसे हो सकते हैं? दूसरी बात यह है कि जो विषयों की आशा के वशवर्ती हैं वे उन विषयों का संग्रह करने के लिए अनेक तरह के आरम्भादि कार्यों में रत होते हैं अर्थात् व्यापार करते हैं, और उस कार्य में सावद्य-पापाचार होना अवश्यम्भावी है। तथा द्रव्यहिंसा, भावहिंसा, झूठ चोरी आदि पाप होते ही हैं, किन्तु जो विषयों की आशा छोड़ चुका है वह पाप कर्म क्यों करेगा?

ज्ञान, ध्यान, तपोरक्त साधु ही वास्तव में कर्म समूह की निर्जरा करता है। ज्ञान से अभिप्राय निरन्तर श्रुत का अभ्यास करते रहने से है क्योंकि मोक्षमार्गी को उसी से उपयोगी तत्त्व प्राप्त हो सकता है। ज्ञान की स्थिर अवस्था का नाम ध्यान है। कोई भी ज्ञान यदि अन्तर्मुहूर्त तक अपने विषय पर स्थिर रहता है तो उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान के चार भेद हैं—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान इनमें धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ही उपादेय एवं मोक्ष के हेतु हैं। कर्मों की निर्जरा के लिए मन का इन्द्रियों का और शरीर का भले प्रकार निरोध करना तप है। जिस प्रकार अग्नि के संयोग से स्वर्णपाषाण को विधिपूर्वक शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के तपश्चरणादि प्रयोगों के द्वारा आत्मा के अनादि कर्म कलंक को दूर कर उसे

परिशुद्ध किया जाता है, इस कारण मन, इंद्रिय और शरीर का सम्यक् निरोध करना चाहिए। इस प्रकार पूर्वार्ध के तीन विशेषण और उत्तरार्ध में कही गई तीन बातें ज्ञान-ध्यान-तप के लिए साधन हैं और ये साध्य हैं, क्योंकि संन्यासपने को सफलता ज्ञान-ध्यान-तप पर ही निर्भर है।

इदानीमुक्तलक्षणदेवागमगुरुविषयस्य सम्यग्दर्शनस्य निःशंकितत्वगुणस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पाय साम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥११॥

'रुचिः' सम्यग्दर्शनं। 'असंशया' निशंकितत्व धर्मोपेता। किंविशिष्टा सती? 'अकम्पा' निश्चला। किंवत्? 'आयसाम्भोवत्' अयसि भवमायसं तच्च तदम्भश्च पानीयं तदिव तद्वत् खड्गादिगत पानीयवदित्यर्थः क्व साकम्पेत्याह—'सन्मार्गे' संसारसमुद्रोत्तरणार्थं सद्भिर्मृग्यते अन्वेष्यत इति सन्मार्गं आप्तागमगुरुप्रवाहस्तस्मिन् केनोल्लेखेनेत्याह—'इदमेवाप्तागमतपस्विलक्षणं तत्त्वं'। 'ईदृशमेव' उक्तप्रकारेणैव लक्षणेन लक्षितं। 'नान्यत्' एतस्माद्भिन्नं न। 'न चान्यथा' उक्ततल्लक्षणादन्यथा परपरिकल्पितलक्षणेन लक्षितं, 'न च' नैव तद्घटते इत्येवमुल्लेखेन ॥११॥

अब सम्यग्दर्शन के निःशंकितत्व नामक गुण का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

इदमेवेति—(तत्त्वं) आप्त, आगम और तपस्वी रूप तत्त्व अथवा जीवाजीवादि तत्त्व (इदमेव) यही है (ईदृशमेव) ऐसा ही है (अन्यत्) (न) अन्य नहीं है (इति) इस तरह (सन्मार्गे) समीचीन मोक्षमार्ग के विषय में (आयसाम्भोवत्) लोहे के पानी के समान (अकम्पा) निश्चल (रुचिः) श्रद्धा (असंशया) निःशंकितत्व गुण (अस्ति) है ॥११॥

टीकार्थ—रुचि का अर्थ सम्यग्दर्शन अथवा श्रद्धा है। श्रद्धा, रुचि, स्पर्श, प्रतीति ये सब सम्यग्दर्शन के नामान्तर हैं। जिस प्रकार तलवार आदि पर चढ़ाया गया लोहे का पानी-धार निश्चल-अकम्प होती है उसी प्रकार सन्मार्ग में **'संसारसमुद्रोत्तरणार्थं-सद्भिर्मृग्यते-अन्विष्यते इति सन्मार्गः आप्तागम गुरु प्रवाहः तस्मिन्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार संसाररूप समुद्र से पार होने के लिए सत्पुरुषों के द्वारा जिसकी

खोज की जाय वह सन्मार्ग कहलाता है, इस तरह सन्मार्ग का अर्थ आप्त-आगम और गुरु परम्परा का प्रवाह है एवं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। उस सन्मार्ग के विषय में आप्त, आगम तपस्वी अथवा जीवादि पदार्थों का स्वरूप यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है, अन्य प्रकार भी नहीं है ऐसी जो निश्चल-अकम्प प्रतीति है, श्रद्धा है, वह सम्यग्दर्शन का निःशंकितत्व अंग कहलाता है। उक्त लक्षण से अन्य परवादियों के द्वारा कल्पित लक्षण सम्यक् नहीं है क्योंकि अन्य वादियों के द्वारा माने गये आप्त-आगम गुरु में समीचीन लक्षण नहीं पाये जाते हैं।

विशेषार्थ—संसार में गदा, त्रिशूल, चक्रादि आयुध और स्त्रियों में अति आसक्त क्रोधी-मानी-मायाचारी, लोभादि कषायों से युक्त ऐसे अनेक प्रकार के देव कहलाते हैं। और हिंसा तथा काम, क्रोधादि में धर्म की प्ररूपणा करने वाले ऐसे शास्त्र भी आगम कहे जाते हैं। अनेक प्रकार के पाखण्ड रचने वाले विषय-कषायों से युक्त ऐसे अभिमानी गुरु कहलाते हैं। किन्तु वास्तव में ये आप्त-आगम गुरु नहीं हैं; इस प्रकार का जिसको दृढ़ श्रद्धान है और जो अज्ञानी पाखण्डी लोगों की असत्य युक्तियों से कदापि चलायमान नहीं होता है तथा खोटे देवों के द्वारा अनेक प्रकार से उपद्रव करने पर भी जिसके परिणामों में विकृति नहीं आती है, खड्ग के जल के समान निश्चल परिणामी सत्यार्थ देव-शास्त्र गुरु और तत्त्वों के स्वरूप में मिथ्यादृष्टि के वचनरूप पवन से जो कभी भी संशयादि को प्राप्त नहीं होते, वे निःशंकित गुण वाले कहलाते हैं।

तत्त्व और सन्मार्ग के विषय में जब इतनी अकम्प और निःसन्देह श्रद्धा हुआ करती है तब अवश्य ही उसके उसी प्रकार की निर्मलता रहना स्वाभाविक है। अतएव अकम्पता का अर्थ निर्भयता भी है। और इसीलिए सम्यग्दर्शन की निःशंकता का अर्थ भय और चलायमानता संदिग्ध प्रतीति इनसे रहित है। आगम में भय सात माने गये हैं—'मेरे इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग न हो जाय अथवा ऐश्वर्य सम्पत्ति वैभवादि सदा रहेंगे कि नहीं, कहीं मैं दरिद्री न हो जाऊँ' इत्यादि चिन्ताएँ जो हृदय को दग्ध करती रहती हैं इसको **'इसलोकभय'** कहते हैं। आगे होने वाली सांसारिक पर्याय का नाम परलोक है उसके विषय में चिन्ता करना कि मेरा स्वर्ग में जन्म हो तो अच्छा, कहीं दुर्गति में जन्म न हो जाय इस प्रकार भी आकुलता से भयभीत होना **'परलोकभय'** है। वात पित्त कफ की विषमता अथवा धातु-उपधातु की कमी या अधिकता से शरीर में

वेदना होती है परन्तु इसके होने के पहले ही मोहोदयवश चित्त में व्याकुलता का होना कि मैं सदा नीरोग रहूँ मुझे कभी कोई वेदना न हो इस प्रकार निरन्तर चिन्तित रहना **'वेदनाभय'** है। वर्तमान पर्याय के नाश होने के पहले ही उसके नाश की शंका से और उसको सुरक्षित न रख सकने की भावनावश बौद्धों के क्षणिकवाद की तरह सदा आत्म नाश की शंका बनी रहना **'अत्राणभय'** है। मिथ्यात्व के उदय से जो सत् का नाश या असत् की उत्पत्ति की बुद्धि या मान्यतारूप एकान्तिक भावना रहा करती है इन विचार धाराओं से सदा अपने को अरक्षित मानना और व्याकुल बने रहना इसको **'अगुप्तिभय'** कहते हैं।

चार प्रकार के प्राणों का वियोग होने को मरण कहते हैं, ये प्राण निश्चित अवधि तक ही रहते हैं इसके पश्चात् इनका वियोग हो जाता है परन्तु अज्ञानी जीव इसके वियोग से डरता है, सदा जीना चाहता है, मरण से डरता है यह **'मरणभय'** है। वज्रपात, भूकम्प, समुद्रादि में डूबने, अग्नि में जलने और भी आकस्मिक दुर्घटनाओं का विचार करके कि कहीं मेरा इस प्रकार से मरण न हो जाय ऐसी चिन्ता से भयातुर बने रहना **'आकस्मिकभय'** है। इन सातों भयों का सम्बन्ध अश्रद्धा, अज्ञान एवं अनन्तानुबन्धी कषायों के कारण बना रहता है किन्तु सम्यग्दृष्टि इन भयों से अतिक्रान्त है ।। ११ ।।

इदानीं निष्कांक्षितत्वगुणं सम्यग्दर्शने दर्शयन्नाह—

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता ।।१२।।

'अनाकांक्षणा स्मृता' निष्कांक्षितत्वं निश्चितं। कासौ? 'श्रद्धा'। कथंभूता? 'अनास्था' न विद्यते आस्था शाश्वतबुद्धिर्यस्यां। अथवा न आस्था अनास्था। तस्यां तया वा श्रद्धा अनास्थाश्रद्धा सा चाप्यनाकांक्षणेति स्मृता। क्व अनास्थाऽरुचिः? 'सुखे' वैषयिके। कथंभूते? 'कर्मपरवशे' कर्मायत्ते। तथा 'सान्ते' अन्तेन विनाशेन सह वर्तमाने तथा 'दुःखैरन्तरितोदये' दुःखैर्मानसशारीरैरन्तरित उदयः प्रादुर्भावो यस्य। तथा 'पापबीजे' पापोत्पत्तिकारणे ।।१२।

सम्यग्दर्शन के निःकांक्षितत्व गुण को दिखलाते हैं—

कर्मपरवशे—कर्मों के अधीन (सान्ते) अन्त से सहित (दुःखैः अन्तरितोदये) दुःखों से मिश्रित अथवा बाधित और (पापबीजे) पाप के कारण (सुखे) विषयसम्बन्धी

सुख में जो (अनास्थाश्रद्धा) अरुचिपूर्ण श्रद्धा है वह (अनाकांक्षणा) निःकांक्षितत्व नामका गुण (स्मृता) माना गया है ।

टीकार्थ—अनास्था-श्रद्धा की व्याख्या दो प्रकार से की है । '**न विद्यते आस्था शाश्वतबुद्धिर्यस्यां सा अनास्था**' जिसमें नित्यपने की बुद्धि नहीं है इस प्रकार अनास्था को श्रद्धा का विशेषण बनाया है । इस पक्ष में अनास्था और श्रद्धा इन दोनों पदों को समास रहित ग्रहण किया है । दूसरे पक्ष में 'न आस्था अनास्था तस्यां वा श्रद्धा अनास्था श्रद्धा अरुचिरित्यर्थः' अरुचि में अथवा अरुचि के द्वारा होने वाली श्रद्धा । पंचेन्द्रिय विषय सम्बन्धी सुख कर्मों के आधीन हैं, विनाश से सहित हैं, इनका उदय मानसिक तथा शारीरिक दुःखों से मिला हुआ है तथा पाप का कारण है; अशुभ कर्मों का बन्ध कराने में निमित्त है ऐसे सुख में शाश्वत बुद्धि से रहित श्रद्धा करना वह सम्यग्दर्शन का निःकांक्षितत्व अंग कहलाता है ।।१२।।

विशेषार्थ—सर्वदर्शियों ने कर्म से परतन्त्र इन्द्रियजनित सुख में सुखपने की आस्था से रहित श्रद्धाभाव को सम्यक्त्व का अनाकांक्षा नामक गुण कहा है । जिसकी उत्पत्ति स्थिति वृद्धि आदि सभी पराधीन है—कर्मों पर निर्भर है वह अवश्य कर्मपरवश हुआ करता है । कर्म पुण्य-पाप के भेद से दो प्रकार हैं । संसारसुख पुण्यकर्म के आधीन है, पुण्यकर्म के उदय के बिना कोटि उपाय करने एवं पुरुषार्थ करने पर भी सुख की प्राप्ति नहीं होती है । सुख चार प्रकार का है—विषयसुख, वेदना का प्रतिकार, विपाक और मोक्ष । इनमें तीन प्रकार के सुख तो पराधीन हैं और एक मोक्षसुख स्वाधीन है जो कर्मों के क्षय से प्राप्त होता है, कर्मजनित इंद्रिय विषयसुख सदाकाल स्थिर नहीं रहते, तथा अपने इष्ट विषय के आधीन हैं, जब तक इष्ट विषयों का समागम है तब तक तो सुख का अनुभव होता है परन्तु इष्ट का समागम विनाशीक है । जिस प्रकार इन्द्र धनुष, बिजली का चमत्कार क्षणभंगुर है, उसी प्रकार शरीर की नीरोगता धन, स्त्री, पुत्र, आयु, आजीविका, इंद्रियादि अनेक प्रकार की पराधीनता से सहित हैं, अस्थिर हैं, तथा ये भोग सीमित काल तक ही भोगने में आते हैं । चिरस्थायी नहीं हैं, बीच-बीच में अनेक प्रकार के शारीरिक, मानसिक एवं आगन्तुक दुःख तथा इष्टवियोग अनिष्टसंयोगादि दुःख उपस्थित होते रहते हैं अतः अन्तसहित हैं; पाप के कारण हैं क्योंकि जीव इंद्रियजनित सुख में मग्न होकर अपने आत्मस्वरूप को भूलकर अत्यन्त घृणित पापारम्भ करने में प्रवृत्त होता है, अन्यायपूर्वक विषयसुख के साधन जुटाता है

और उनका उपभोग करता है जिससे नरक तिर्यंचगति में परिभ्रमण करना पड़ता है। इसलिए पाप का बीज है। ऐसे क्षणिक पराधीन सुखों में सम्यग्दृष्टि कैसे श्रद्धान कर सकता है? जब श्रद्धान नहीं तो वाञ्छा भी नहीं हो सकती। संसार में ऐसा कोई भी जीव नहीं है जिसके केवल पुण्य कर्मों का ही उदय पाया जाय। क्योंकि घातियाकर्म सब पापरूप ही हैं, उनके उदय से रहित कोई भी जीव नहीं है। इन चार घातिया कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाने पर यह जीवात्मा उसी भव में परमात्मा, सिद्धात्मा बन जाता है। किन्तु जब तक इन कर्मों का समूल क्षय नहीं हो जाता तब तक संसार में कोई भी ऐसा नहीं जो मात्र पुण्यफल का ही भोगी बना रहे, पुण्यकर्म का उदय पापकर्मों के उदय से मिश्रित ही रहता है। ऐसी अवस्था में शुद्ध आत्मसुख का अभिलाषी सम्यग्दृष्टि विषमिश्रित लड्डू के समान पापोदयजनित दुःखों से सहित पुण्य जन्य इंद्रिय सुख को किस प्रकार पसन्द करेगा? अर्थात् नहीं कर सकता। इसके सिवाय कदाचित् ऐसा भी होता है कि पुण्य के उदय से जीव को भोगोपभोग की यथेष्ट सामग्री प्राप्त होती है परन्तु अन्तरायकर्म के उदयवश उनको भोगने में असमर्थ ही रहता है, क्योंकि भोग्य सामग्री का प्राप्त होना और भोगने की शक्ति प्राप्त होना ये दोनों भिन्न-भिन्न विषय हैं। इसलिये अन्तरंग में पुण्य का उदय एवं अन्तराय का क्षयोपशम भिन्न-भिन्न कारणों की अपेक्षा रखता है। अतः सांसारिक सुख अन्तराय कर्म के उदय आदि के कारण दुःख मिश्रित विघ्नकारक ही रहता है। भेड़िये के सामने बँधा हुआ बकरी का बच्चा सुस्वादु एवं शरीरपोषक चारा खाकर भी हृष्ट-पुष्ट नहीं हो सकता है। इसी प्रकार अन्तराय सहित सुख सामग्री को पाकर कोई भी अन्तरात्मा प्राणी हर्ष एवं सन्तोष को प्राप्त नहीं होता। इसलिए भी सम्यग्दृष्टि को इस प्रकार के सुख में आस्था नहीं होती। इस प्रकार निःकांक्षित सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का साधन है।

सम्प्रति निर्विचिकित्सागुणं सम्यग्दर्शनस्य प्ररूपयन्नाह—

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुण प्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥१३॥

'निर्विचिकित्सता मता' अभ्युपगता। कासौ? 'निर्जुगुप्सा' विचिकित्साभावः। क्व? काये। किंविशिष्टे? 'स्वभावतोऽशुचौ' स्वरूपेणापवित्रिते। इत्थंभूतेऽपिकाये 'रत्नत्रय पवित्रिते' रत्नत्रयेण पवित्रिते पूज्यतां नीते। कुतस्तथाभूते निर्जुगुप्सा

भवतीत्याह–'गुणप्रीतिः' यतो गुणेन रत्नत्रयाधारभूतमुक्तिसाधकत्वलक्षणेन प्रीतिर्मनुष्यशरीरमेवेदं मोक्षसाधकं नान्यद्देवादिशरीरमित्यनुरागः। ततस्तत्र निर्जुगुप्सेति ॥१३॥

अब सम्यग्दर्शन के निर्विचिकित्सा गुण का निरूपण करते हुए कहते हैं—

(स्वभावतः) स्वभाव से (अशुचौ) अपवित्र किन्तु (रत्नत्रयपवित्रिते) रत्नत्रय से पवित्र (काये) शरीर में (निर्जुगुप्सा) ग्लानि रहित (गुणप्रीतिः) गुणों से प्रेम करना (निर्विचिकित्सता) निर्विचिकित्सागुण (मता) माना गया है।

टीकार्थ— 'निर्गता विचिकित्सा यस्मात् सः निर्विचिकित्सः, तस्यभावो निर्विचिकित्सता। विचिकित्सा ग्लानि को कहते हैं। जो ग्लानि से रहित है वह निर्विचिकित्स है। उसका जो भाव है वह निर्विचिकित्सता है। मानव का यह शरीर स्वभाव से ही अपवित्र है। क्योंकि माता-पिता के रजवीर्यरूप अशुद्धधातु से निर्मित होने के कारण अपवित्र है। किंतु यह अपवित्र शरीर भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय के द्वारा पवित्रता, पूज्यता को प्राप्त कराया जाता है। ऐसे शरीर में रत्नत्रयरूप गुण के कारण प्रीति होती है। क्योंकि यह मनुष्य का शरीर ही रत्नत्रय की आधारभूत मुक्ति का साधक बनता है। अन्य देवतादिक का शरीर मोक्ष का साधक नहीं हो सकता। इस विशिष्ट गुण के कारण गुणों में जो ग्लानि रहित प्रीति होती है वह निर्विचिकित्सा नामक अंग है।

विशेषार्थ—यह शरीर तो सप्त धातुओं से निर्मित है। मल-मूत्र से भरा हुआ है, इस कारण स्वभाव से ही अपवित्र है। लेकिन देहधारी मानव जब सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण करता है तो यह अपवित्र शरीर भी पवित्र हो जाता है। इसलिए रोगी वृद्ध तथा तपश्चरणादि से क्षीण मलिन मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि न करके उनके पवित्र गुणों में प्रीति करनी चाहिए। प्रकृत में आचार्यों को औदारिक शरीरधारी ही अभीष्ट है, वह भी आर्य खण्ड का, सज्जातीय मनुष्य ही विवक्षित है। क्योंकि दीक्षा का अधिकारी वही हो सकता है जिसकी पिण्ड शुद्धि है।

शरीर की स्वाभाविक अशुचिता का वर्णन करते हुए आचार्यों ने कहा है कि इस शरीर के सम्बन्ध को प्राप्त करके पवित्र वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं। वर्तमानदशा भी इस शरीर की हड्डी, मांस, चमड़ा, रक्त, मलमूत्र आदि के समुदायरूप है

और ये सभी वस्तुएँ अशुचि ही हैं। परन्तु सम्यग्दृष्टि वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है, इसलिए अपवित्र पदार्थों एवं शरीर की मलिनता और दुर्गंधता को देखकर सुनकर ग्लानि नहीं करते हैं। तथा और भी अशुभकर्मजन्य अवस्थाओं को देखकर मन में खेद-खिन्न नहीं होते, इसलिए उनके निर्विचिकित्सा अंग होता है। जो इस अंग का परिपालन करते हैं उनके ही दयाभाव होता है, उनके ही वात्सल्यभाव होता है। सम्यग्दृष्टि गुणग्राही एवं गुणों का समादर करने वाला हुआ करता है। इस प्रकार स्वभाव से अशुचि होते हुए भी शरीर से आत्महित सिद्ध हो जाता है और मनुष्यजन्म की सार्थकता सिद्ध हो जाती है ॥१३॥

अधुना सद्दर्शनस्यामूढदृष्टित्वगुणं प्रकाशयन्नाह—

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥१४॥

अमूढा दृष्टिरमूढत्वगुणविशिष्टं सम्यग्दर्शनं। का? 'असम्मतिः' न विद्यते मनसा सम्मतिः श्रेयः साधनतया सम्मननं यत्र दृष्टौ। क्व? 'कापथे' कुत्सितमार्गे मिथ्यादर्शनादौ। कथंभूते? 'पथि' मार्गे। केषां? 'दुःखानां'। न केवलं तत्रैवासम्मतिरपि तु 'कापथस्थेऽपि' मिथ्यादर्शनाद्याधारेऽपि जीवे। तथा 'असंपृक्तिः' न विद्यते सम्पृक्तिः कायेन नखच्छोटिकादिना अंगुलिचालनेन शिरोधूननेन वा प्रशंसा यत्र। 'अनुत्कीर्तिः' न विद्यते उत्कीर्तिरुत्कीर्तनं वाचा संस्तवनं यत्र। मनोवाक्कायैर्मिथ्यादर्शनादीनां तद्वतां चाप्रशंसाकरणममूढं सम्यग्दर्शनमित्यर्थः ॥१४॥

आगे सम्यग्दर्शन के अमूढदृष्टित्व गुण को प्रकट करते हुए कहते हैं—

(या दृष्टिः) जो दृष्टि, (दुःखानां) दुःखों के (पथि) मार्ग स्वरूप (कापथे) मिथ्यादर्शनादिरूप कुमार्ग में और (कापथस्थे अपि) कुमार्ग में स्थित जीव में भी (असम्मतिः) मानसिक सम्मति से रहित (असंपृक्तिः) शारीरिक सम्पर्क से रहित और (अनुत्कीर्तिः) वाचनिक प्रशंसा से रहित है वह (अमूढादृष्टिः) मूढता रहित दृष्टि अर्थात् अमूढदृष्टि नामक गुण (उच्यते) कहा जाता है।

टीकार्थ—'कुत्सितः पन्था कापथः तस्मिन् कापथे' कापथ का अर्थ खोटामार्ग-कुमार्ग होता है मिथ्यादर्शनादि संसार-भ्रमण के मार्ग होने से कुत्सितमार्ग कहलाते हैं।

ऐसे कुमार्ग में अथवा कुमार्ग में स्थित मिथ्यादर्शनादि के आधारभूत जीव के विषय में मन से ऐसी सम्मति नहीं करना कि 'यह कल्याण का मार्ग है। तथा शरीर से-नखों से चुटकी बजाकर अंगुलियाँ चलाकर अथवा मस्तक हिलाकर उसकी प्रशंसा नहीं करना, तथा वचन से भी उसका संस्तवन नहीं करना, इस प्रकार मन-वचन-काय के द्वारा मिथ्यादर्शनादि की और उसके धारण करने वाले की प्रशंसा नहीं करना सम्यग्दर्शन का अमूढ़दृष्टि गुण है।

विशेषार्थ—युक्ति-आगम से विरुद्ध अहितकर उपाय का नाम कापथ है। ऐसे कुमार्ग पर जो विश्वास रखते हैं उसे सत्य हितकर मानते हैं, उनके अनुसार क्रिया करते हैं तथा उस कुमार्ग का प्रचार-प्रसार करते हैं, वे सब कापथस्थ कहलाते हैं। मिथ्या मान्यताओं के ३६३ भेद आगम में बतलाये हैं, जो भावरूप से अनादि हैं। द्रव्यरूप से इनका बाह्य प्रचार इस हुण्डावसर्पिणी काल के निमित्त से अभी इस भरत क्षेत्र में पाया जाता है। जो रागी-द्वेषी देवों की पूजन-प्रभावना करते हैं, उनकी प्रशंसा करते हैं, पंचाग्नि तप करने वालों, बाघाम्बर ओढ़ने वालों, भस्म रमाने वालों, अनेक प्रकार के रक्ताम्बर, पीताम्बर, श्वेताम्बर धारण करने वालों के मार्ग की प्रशंसा करते हैं उनकी पूजा-उपासना करते हैं--करवाते हैं तथा इन देवताओं को रिश्वत देकर मांग करते हैं कि 'मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जाय तो तेरे छत्र चढ़ाऊँगा, मन्दिर बनवाऊँगा, बलि चढ़ाऊँगा, सवामण का चूरमा चढ़ाऊँगा, पकवान आदि चढ़ाऊँगा' और भी विभिन्न प्रकार की बोलारी बोलने वाले तथा देवताओं के निमित्त अथवा गुरुओं के निमित्त बलि या यज्ञ में निरपराध मूक पशु आदि जीवों की हिंसा करके धर्म मानने वाले सभी मिथ्यात्वी जीव घोर संसाररूपी समुद्र में डूब जाते हैं।

इस प्रकार कापथ और कापथस्थों में मोहित नहीं होना और उनमें राग न करना ही अमूढदृष्टि अंग है।

अथोपगूहनगुणं तस्य प्रतिपादयन्नाह—

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥१५॥

तदुपगूहनं वदन्ति यत्प्रमार्जन्ति निराकुर्वन्ति प्रच्छादयन्तीत्यर्थः। कां ? 'वाच्यतां दोषं'। कस्य ? 'मार्गस्य' रत्नत्रयलक्षणस्य। किं विशिष्टस्य ? 'स्वयं शुद्धस्य'

स्वभावतो निर्मलस्य। कथंभूतां ? 'बालाशक्तजनाश्रयां' बालोऽज्ञः अशक्तो व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थः स चासौ जनश्च स आश्रयो यस्याः। अयमर्थः—हिताहितविवेकविकलं व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थजनमाश्रित्यागतस्य रत्नत्रये तद्वति वा दोषस्य यत् प्रच्छादनं तदुपगूहनमिति ॥ १५ ॥

इसके आगे सम्यग्दर्शन के उपगूहन गुण का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

(स्वयं) स्वभाव से (शुद्धस्य) निर्मल (मार्गस्य) रत्नत्रयरूप मार्ग की (बालाशक्तजनाश्रयाम्) अज्ञानी तथा असमर्थ मनुष्यों के आश्रय से होने वाली (वाच्यतां) निन्दा को (यत्) जो (प्रमार्जन्ति) प्रमार्जित करते हैं—दूर करते हैं (तत्) उनके उस प्रमार्जन को (उपगूहनम्) उपगूहन गुण (वदन्ति) कहते हैं।

टीकार्थ—रत्नत्रयरूप मोक्ष का मार्ग स्वभाव से ही निर्मल-पवित्र है। परन्तु कदाचित् अज्ञानी अथवा व्रताचरण करने में असमर्थ मनुष्यों के द्वारा यदि कोई दोष उत्पन्न होता है या अपवाद होता है तो सम्यग्दृष्टि उसका निराकरण करते हैं, उसके दोषों को छिपाते हैं प्रकट नहीं करते। उनके इस प्रकार के व्यवहार को उपगूहन अंग कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो हित और अहित के विवेक से रहित है ऐसे अज्ञानी जीव को बाल कहते हैं, तथा बाल्यावस्था, वृद्धावस्था या रुग्णतावश निर्दोष व्रत-अनुष्ठानादि के परिपालन में असमर्थ है उसे अशक्त कहते हैं, ऐसे बाल और अशक्त मनुष्यों के आश्रय से रत्नत्रय और उसके धारक पुरुषों में उत्पन्न दोषों का प्रच्छादन करना सम्यग्दृष्टि का परम कर्त्तव्य है।

विशेषार्थ—जिनेन्द्र देव का कहा हुआ रत्नत्रयी मोक्षमार्ग अनादिनिधन है, जगत् के जीवों का उपकार करने वाला है और निर्दोष है। इस निर्दोष मार्ग का आश्रय लेने वाले के अन्तरंग में मोह-कषाय या अनुत्साह आदि कारण से और बहिरंग में शारीरिक दुर्बलता अयोग्य संगति आदि कायरतावश तथा मानसिक दुर्बलता आदि कारण से कोई दोष लगता है तो उन कारणों को दृष्टि में न लेकर—स्वीकार न करके उस प्रशस्तमार्ग को ही निरर्थक, दोष युक्त, हानिकारक बताने की चेष्टा किया करते हैं कि इस जैनधर्म में जितने ज्ञानी तपस्वी त्यागी हैं, वे पाखण्डी हैं, कुमार्गी हैं, इस प्रकार मिथ्यादृष्टि लोग धर्म और धर्मात्माओं की निन्दा करते हैं। धर्मात्मा पुरुषों को चाहिए कि किसी धर्मात्मा के कोई दोष लग जाय तो धर्म से प्रेम रखते हुए उसके

दोषों को प्रकट न करे। जिसप्रकार कदाचित् पुत्र अन्याय अथवा खोटे कर्म करता है तो भी माता उसके दोषों को ढकती ही है, प्रकट नहीं करती। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी धर्मात्मा पुरुषों के प्रबलकर्म के उदयवश या अशक्तावश व्रत-शील-संयम में उत्पन्न दोषों को देखकर प्रकट नहीं करते हैं। वे विचार करते हैं कि इस संसार में जीवों के अनादिकाल से कर्मों के उदयवश यदि दोषों में प्रवृत्ति भी हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं है। जीवों को काम-क्रोध-लोभादि निरन्तर सता रहे हैं, भुलावे में डाल रहे हैं तथा भ्रष्ट कर रहे हैं। हमने भी संसार में रहकर राग-द्वेष के वशीभूत होकर कौन-कौन से अनर्थ नहीं किये होंगे, अब जिनेन्द्र देव के आश्रय को प्राप्त करके कुछ गुण दोषों की पहचान हुई है इसलिए पर-दोषों को प्रकट करना महान् दोष-पाप का कार्य है। दूसरों के तो सच्चे दोषों को देखकर भी प्रकट नहीं करना चाहिए; उनके प्रति करुणाभाव ही उत्पन्न होना चाहिए। क्योंकि कर्म के उदय को कोई भी मिटा नहीं सकता है। दूसरों के गुणों को प्रकट करना चाहिए, अपने गुणों को बढ़ाना चाहिए। इस प्रकार प्रतीति की चलायमानता अथवा भय आदि दोषों से रहित निरतिचार सम्यग्दृष्टि की स्व और पर में जो उपगूहन अथवा उपबृंहण प्रवृत्ति होती है वही सम्यग्दर्शन का पाँचवाँ गुण है। जिसके होने पर ही सम्यग्दर्शन जन्म मरण की सन्तति का उच्छेदन करने में समर्थ हो सकता है ॥१५॥

अथ स्थितीकरणगुणं सम्यग्दर्शनस्य दर्शयन्नाह—

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥१६॥

'स्थितीकरणं' अस्थितस्य दर्शनादेश्चलितस्य स्थितकरणं स्थितीकरणमुच्यते। कैः ? प्राज्ञैस्तद्विचक्षणैः। किं तत् ? 'प्रत्यवस्थापनं' दर्शनादौ पूर्ववत् पुनरप्यवस्थापनं। केषां ? 'चलतां'। कस्मात् ? दर्शनाच्चरणाद्वापि। कैस्तेषां प्रत्यवस्थापनं ? 'धर्मवत्सलैः' धर्मवात्सल्ययुक्तैः ॥१६॥

सम्यग्दर्शन के स्थितीकरण गुण को दिखलाते हुए कहते हैं—(धर्मवत्सलैः) धर्मस्नेही जनों के द्वारा (दर्शनात्) सम्यग्दर्शन से (वा) अथवा (चरणात् अपि) चारित्र से भी (चलतां) विचलित होते हुए पुरुषों का (प्रत्यवस्थापनं) फिर से पहले की तरह स्थित करना (स्थितीकरणं) स्थितीकरण गुण (उच्यते) कहा जाता है।

टीकार्थ—स्थितीकरण में जो 'च्वि' प्रत्यय हुआ है वह 'अभूततद्भाव' अर्थ में हुआ है। इसलिए 'अस्थितस्य दर्शनादेश्चलितस्यस्थितिकरणं स्थितीकरणं' अर्थात् दर्शनादि से चलायमान होते हुए पुरुष को फिर से उसी व्रत में स्थित कर देना स्थितीकरण अंग है। कोई जीव बाह्य आचरण का यथायोग्य पालन करता हुआ भी श्रद्धा से भ्रष्ट हो जाता है तथा कोई दृढ़ श्रद्धानी होता हुआ भी शारीरिक अशक्तता या प्रमादादि के कारण बाह्य आचरण से भ्रष्ट है। कोई जीव तीव्र पाप के कारण श्रद्धान-आचरण दोनों से भ्रष्ट है। धर्म में प्रेम रखने वाले जनों को चाहिए कि वे उन्हें फिर से उसी व्रतादि में स्थित करें। यह सम्यग्दर्शन का स्थितीकरण अंग है।

विशेषार्थ—जो धर्मात्मा अविरतसम्यग्दृष्टि अथवा व्रती चारित्रधारी किसी भी अन्तरंगमोह कषाय-अज्ञान प्रमादवश अथवा बाह्य मिथ्योपदेश कुसंगति, रोग, वेदना दरिद्रता के कारण अथवा मिथ्यादृष्टियों के मंत्र-तंत्र आदि चमत्कार को देखकर सत्यार्थ श्रद्धान और आचरण से चलायमान हो जाय तो उसको धर्म से डिगते हुए देखकर पुनः प्रवीण पुरुष सत्यार्थ धर्म का स्वरूप बतलाकर धर्म में स्थिर करें। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े पर असाधारण स्नेह रखती है और तो क्या वह उसके लिए अपने प्राणों की भी परवाह न कर सिंह का भी सामना करने को उद्यत हो जाती है उसी प्रकार धर्म में जो स्नेहपूर्ण भाव रखने वाले हैं, उनको धर्म वत्सल कहते हैं। धर्म में अनुराग होना, मनुष्यभव पाकर उत्तम कुल इन्द्रियों की शक्ति धर्म का लाभ, ये सभी बहुत ही दुर्लभता से प्राप्त हुए हैं, यदि ये मिलकर भी ऐसे ही छूट गये, इनसे लाभ नहीं उठाया तो इनका अनन्तकाल में भी पुनः प्राप्त होना कठिन है इसलिये कर्म के उदय से उदित हुए रोग, वियोग, दरिद्रता आदि दुःख प्राप्त हो जाने पर भी कायर होकर आर्त परिणाम नहीं करने चाहिए। क्योंकि दुःख करके, आर्तपरिणाम करके हम दुःखों से परिमुक्त कभी नहीं हो सकते, प्रत्युत् ऐसा करने से कर्मों का और अधिक बन्ध होगा। कायरता धारण करने से हम कर्मों से नहीं छूट सकते। तथा कोरी धीरता धारण करने पर भी कर्मों से छुटकारा नहीं मिलेगा, इसलिये दुर्गति की निशानी कायरता नहीं करनी चाहिए, समभावपूर्वक साहस धारण करना चाहिए तभी मनुष्य जन्म प्राप्त करना सार्थक है।

स्थितीकरण अंग को धारण करने वाले सम्यग्दृष्टि को सदा ही इस बात की तरफ दृष्टि रखनी चाहिए कि साधु संघ की वृद्धि हो, स्थिति हो, धर्मात्मा के गुणों का

पोषण हो तथा उन्मार्ग की तरफ जाने से उनकी रक्षा हो। सम्यग्दृष्टि के लक्ष्य में यह बात सदा रहनी चाहिए कि किसी छोटे से एक दोष के कारण उस व्यक्ति का सर्वथा परित्याग कर देना अथवा उसकी उपेक्षा कर देना हितकर नहीं हो सकता, उसके हित के लिए प्रयत्नशील रहना कर्त्तव्य है इस प्रकार सम्यग्दर्शन के स्थितीकरण अंग का वर्णन किया ।। १६ ।।

अथ वात्सल्यगुणस्वरूपं दर्शने प्रकटयन्नाह—

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ।।१७।।

'वात्सल्यं' सधर्मिणि स्नेहः । 'अभिलप्यते' प्रतिपाद्यते । कासौ ? 'प्रतिपत्तिः' पूजाप्रशंसादिरूपा । कथं ? 'यथायोग्यं' योग्यानतिक्रमेण अञ्जलिकरणाभिमुखगमन-प्रशंसावचनोपकरणसम्प्रदानादिलक्षणा । कान् प्रति ? 'स्वयूथ्यान्' जैनान् प्रति । कथं भूता ? 'सद्भावसनाथा' सद्भावेनावक्रतया सहिता चित्तपूर्विकेत्यर्थः । अत एव 'अपेत-कैतवा' अपेतं विनष्टं कैतवं माया यस्याः ।।१७।।

आगे सम्यग्दर्शन के वात्सल्यगुण का स्वरूप प्रकट करते हुए कहते हैं—

स्वयूथ्यान्प्रति—अपने सहधर्मी बन्धुओं के समूह में रहने वाले लोगों के प्रति (सद्भावसनाथा) अच्छे भावों से सहित और (अपेतकैतवा) माया से रहित (यथायोग्यं) उनकी योग्यता के अनुसार (प्रतिपत्तिः) आदर सत्कार आदि करना (वात्सल्यं) वात्सल्यगुण (अभिलप्यते) कहा जाता है ।

टीकार्थ—'स्वस्ययूथः स्व यूथः तस्मिन् भवाः स्वयूथ्यास्तान्' अपने सहधर्मी बन्धुओं के समूह में रहने वालों को स्वयूथ्य कहते हैं। इन सहधर्मियों के प्रति सद्-भावना सहित अर्थात् सरलभाव से मायाचार रहित, यथायोग्य-हाथ जोड़ना, सम्मुख जाना, प्रशंसा के वचन कहना तथा योग्य उपकरण आदि देकर जो आदर सत्कार किया जाता है, वह वात्सल्यगुण कहलाता है ।

'वत्सलस्यभावः कर्म वा वात्सल्यम्' वात्सल्य का अर्थ सहधर्मी भाइयों के प्रति धार्मिक स्नेह का होना ।

विशेषार्थ—कोई भी विवक्षित गुणधर्म जितने व्यक्तियों में सदृशरूप से पाये जाते हैं, उतने व्यक्तियों के समूह को यूथ कहते हैं। यहाँ पर मोक्षमार्ग स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में से एक-दो या तीनों से युक्त जो मोक्षमार्गी हैं, उनके प्रति प्रशस्त भावना पूर्वक अर्थात् निस्वार्थ धार्मिक भावना से अनुरंजित होना चाहिए। साधर्मी के प्रति सद्भाव प्रकट किया जाय, उनके साथ ठगाई अथवा धोखा वंचना, प्रतारणा आदि का भाव नहीं होना चाहिए।

यथायोग्य शब्द बड़े महत्त्व का है। वह जिस योग्यता का हो उसके अनुसार ही उसका सत्कारादि करना उचित है न कि हीनाधिक। क्योंकि कम करने पर अपना अभिमानादि प्रकट होता है और अधिक करने पर अविवेक। अतएव जिसमें ये दोनों ही कमियाँ न हों इस तरह से ही सहधर्मी के प्रति आदर, विनय आदि प्रकट करना चाहिए तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व सहित जीव की सहधर्मियों में वात्सल्यरूप प्रवृत्ति स्वाभाविक हुआ करती है। वह बनावटी या दिखावा नहीं होती। न वह अन्तरंग में किसी मोह, कषाय, स्वार्थ आदि भावों से ही प्रेरित हुआ करती है और न लोकानुरंजनादि के लिए बनावटी ही हुआ करती है। धर्मसादृश्य के कारण ही सहधर्मियों के प्रति वह प्रीति आदि प्रकट किया करता है। उन पर कोई संकट आ जाए तो यथाशक्ति उस संकट का निवारण करता है और परस्पर में सौहार्द बनाये रखता है ॥१७॥

अथ प्रभावनागुणस्वरूपं दर्शनस्य निरूपयन्नाह—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥१८॥

'प्रभावना' स्यात्। कासौ ? 'जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः'। जिनशासनस्य माहात्म्यप्रकाशस्तु तपोज्ञानाद्यतिशयप्रकटीकरणं। कथं ? 'यथायथं' स्नपनदानपूजाविधानतपोमंत्रतंत्रादिविषये आत्मशक्त्यनतिक्रमेण। किं कृत्वा ? 'अपाकृत्य' निराकृत्य। कां ? 'अज्ञानतिमिरव्याप्तिं' जिनमतात्परेषां यत्स्नपनदानादिविषयेऽज्ञानमेव तिमिरमन्धकारं तस्य व्याप्तिं प्रसरम् ॥१८॥

अब सम्यग्दर्शन के प्रभावनागुण का निरूपण करते हुए कहते हैं—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिम्—अज्ञानरूपी अन्धकार के विस्तार को (अपाकृत्य) दूर कर (यथायथं) अपनी शक्ति के अनुसार (जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः) जिनशासन के माहात्म्य को प्रकट करना (प्रभावना) प्रभावनागुण (स्यात्) है।

टीकार्थ—जैनशासन के माहात्म्य का प्रकाशन एवं उसके तप-ज्ञानादि का अतिशय प्रकट करना चाहिए तथा जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मावलम्बियों में अभिषेक, दान, पूजा, विधान, तप, मन्त्र-तन्त्रादि के विषय में अपनी आत्मशक्ति को न छिपाकर इनके विषय में जो अज्ञानरूप अन्धकार फैल रहा है उसको दूर करते हुए तप-ज्ञानादि का अतिशय प्रकट करना प्रभावना अंग कहलाता है।

विशेषार्थ—अनादिकाल से संसारी जीव सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा प्रकाशित समीचीन धर्म को नहीं जानते। क्योंकि जिस तरह अन्धकार के सर्वत्र व्याप्त हो जाने पर पास का भी पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार जब तक अज्ञान-मिथ्याज्ञान जीवों के अन्तरंग में व्याप्त रहता है तब तक निकटवर्ती अपना स्वरूप भी दिखाई नहीं पड़ता। वास्तव में, व्यक्ति अपने विषय में या तो अनध्यवसित या शंकित अथवा विपर्यस्त रहा करता है। इसलिए उसे अपना हित दिखाई नहीं देता। जिस तरह मलिन या काले वस्त्र पर कोई भी रंग नहीं चढ़ता, उसी प्रकार जब तक आत्मा मिथ्याज्ञान तिमिर से मलिन या काला हो रहा है तब तक उस पर वीतराग वाणी का कोई भी असर नहीं होता। क्योंकि वह कर्त्तव्य के भान से रहित है। मैं कौन हूँ, मेरे करने योग्य कार्य कौनसे हैं तथा देव-गुरु-धर्म का स्वरूप कैसा है इत्यादि विचारों से रहित होते हुए मोहान्धकार से आच्छादित हो रहे हैं, उनको परमागम के प्रकाश के द्वारा प्रभावित करना तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के द्वारा आत्मा का प्रभाव प्रकट करना प्रभावना कहलाती है, दान के द्वारा तप, शील, संयम, निर्लोभता, विनय, प्रियवचन, जिनेन्द्र पूजन उनके गुणों के प्रकाशनादि से जिनधर्म के प्रभाव को प्रकट करना चाहिए। जिन उत्तमदानादि तथा घोर तपश्चरणादि को देखकर मिथ्यादृष्टि भी चकित हो जावें और प्रशंसा करने लगें कि देखो जैनों में वात्सल्यभावादि सहित बहुत ही दानादि दिया जाता है तथा घोर तपश्चरण एवं व्रतादि किये जाते हैं और प्राण जाने पर भी वे अपने व्रतों को भंग नहीं करते, इस प्रकार से अन्य मतावलम्बी भी जैनधर्म के प्रभाव से प्रभावित हो जाते हैं और उनमें पवित्र भावों का संचार होने से उन्हें मिथ्या मान्यताओं को छोड़ने की रुचि हो जाती है। उन्हें भी सम्यग्दर्शन हो सकता है।

किसी भी जीव को एक बार भी कम से कम समय अन्तर्मुहूर्त के लिए भी सम्यग्दर्शन हो जाता है तो संसार में कोई भी ऐसी शक्ति नहीं जो उसे अभीष्ट विजय

से रोक ले। सम्यग्दर्शन की ऐसी अगाध महिमा है । सम्यग्दृष्टि आगम की आज्ञा का दृढ़ श्रद्धानी होता है वह उज्ज्वल आचरण को धारण करता है। तथा वैर विरोध से रहित होता हुआ समस्त जीवों में मैत्री भाव रखता है। अनीतिपूर्वक धनोपार्जन नहीं करता एवं अन्यायपूर्वक विषय भोगों का सेवन नहीं करता अर्थात् अभक्ष्य भक्षण पर-स्त्री सेवन, वेश्या सेवन नहीं करता, न दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा ही करता है, उसके भाव सदा ऐसे रहते हैं कि हमारे द्वारा जिनधर्म की निन्दा कदापि नहीं होनी चाहिए, नहीं तो हमारा जन्म और दोनों लोक बिगड़ जायेंगे । इसलिए सम्यग्दृष्टि अपना एवं अपने कुल धर्म का तथा सहधर्मी का किसी भी प्रकार से अपवाद न हो सदा ऐसे वर्तन करता है। सम्यग्दृष्टि के ४१ कर्मप्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। वह अपने पद के अनुसार संसार के अथवा गृहस्थाश्रम के सभी कार्य किया करता है तथा उसके अनुसार उसके बंध भी हुआ करता है फिर भी उसकी दृष्टि अनन्त अविनश्वर, अनुपम परमानन्दरूप अपने शुद्ध चैतन्य को प्राप्त करने की रहा करती है। इसप्रकार वह मोक्षमार्गरूप गुणों का आराधक होने के कारण धर्मात्माओं के दोषों का निर्हरण करके उपगूहन और गुणों का संवर्धन करके उपबृंहण तथा गुणों की अस्थिर अवस्था में उनका संरक्षण एवं संस्थित अवस्था में उचित सम्मानादि कर, तद्वत् अनुद्भूत गुणों को विधर्मियों में भी प्रकट करने का प्रयत्न करके वास्तविक हित या कल्याण का प्रकाशक हुआ करता है। इस प्रकार यहां पर सम्यग्दर्शन के निःशंकितादि आठ अंगों का स्वरूप बतलाया गया है। आगम में अन्य प्रकार से भी आठ अंगों का उल्लेख किया गया है यथा—

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहाय उवसमो भत्ति ।
वच्छल्लं अणुकंपा गुणाहु सम्मत्त जुत्तस्स ।।

अर्थात् संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा सम्यग्दृष्टि जीव के ये आठ गुण कहे गये हैं।

जिस प्रकार राजा के सावधान होने पर राज्य के सभी अंग अनुकूल कार्य करते हैं, एवं नीरोगता प्राप्त होने पर शरीर के आठों ही अंग पुष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्व के उत्पन्न हो जाने पर सम्यक्त्व के सभी अंग सावधान और पुष्ट होकर प्रतिपक्षी कर्मों को दूर करने के लिए प्रयत्नशील और आत्मशक्ति को पूर्ण विशुद्ध करने में समर्थ हो जाया करते हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का वर्णन पूर्ण हुआ ॥१८॥

इदानीमुक्त निःशंकितत्वाद्यष्टगुणानां मध्ये कः केन गुणेन प्रधानतया प्रकटित इति प्रदर्शयन् श्लोकद्वयमाह—

तावदञ्जन चौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमतिः स्मृता ।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥१९॥
ततो जिनेन्द्र भक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः ।
विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां गताः ॥२०॥

तावच्छब्दः क्रमवाची, सम्यग्दर्शनस्य हि निःशंकितत्वादीन्यष्टांगान्युक्तानि तेषु मध्ये प्रथमे निःशंकितत्वेंऽगस्वरूपे तावल्लक्ष्यतां दृष्टान्ततां गतोऽञ्जनचोरः स्मृतो निश्चितः । द्वितीयेंऽगे निष्कांक्षितत्वे ततोऽञ्जन चोरादन्यानन्तमतिर्लक्ष्यतां गता मता । तृतीयेंऽगे निर्विचिकित्सत्वे उद्दायनो लक्ष्यतां गतो मतः । तुरीये चतुर्थेऽङ्गे अमूढदृष्टित्वे रेवती लक्ष्यतां गता मता । ततस्तेभ्यश्चतुर्थेभ्योऽन्यो जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठी उपगूहने लक्ष्यतां गतो मतः । ततो जिनेन्द्रभक्तात् परो वारिषेणः स्थितीकरणे लक्ष्यतां गतो मतः । विष्णुश्च विष्णुकुमारो वज्रनामा च वज्रकुमारः शेषयोर्वात्सल्य प्रभावनयोर्लक्ष्यतां गतौ मतौ । गता इति बहुवचननिर्देशो दृष्टान्तभूतोक्तात्मव्यक्तिबहुत्वापेक्षया ।

अब ऊपर कहे हुए निःशंकितत्वादि आठ गुणों में कौन पुरुष किस गुण के द्वारा प्रसिद्ध हुआ है; यह दिखलाते हुए दो श्लोक कहते हैं—

तावत्—क्रम से (प्रथमे) प्रथम अंग में (अञ्जनचोरः) अञ्जन चोर (स्मृतः) स्मृत है । (ततः) तदनन्तर द्वितीय अंग में (अनन्तमती) अनन्तमती (स्मृता) स्मृत है । (तृतीये अपि अंगे) तृतीय अंग में (उद्दायनः) उद्दायन नामका राजा (मतः) माना गया है । (तुरीये) चतुर्थ अंग में (रेवती) रेवती रानी (मता) मानी गई है । (ततः) तदनन्तर पञ्चम अंग में (जिनेन्द्रभक्तः) जिनेन्द्र भक्त सेठ, (ततः अन्यः) उसके बाद छठे अंग में (वारिषेणः) वारिषेण राजकुमार, (ततः परः) उसके बाद (शेषयोः) सप्तम और अष्टम अंग में (विष्णुश्च) विष्णुकुमार मुनि और (वज्रनामा च) वज्रकुमार मुनि (लक्ष्यतां गतौः) प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं ।

टीकार्थ—सम्यग्दर्शन निःशंकितादि आठ अंगों से युक्त हैं, उन आठ अङ्गों में से पहले निःशंकित अङ्ग में अञ्जन चोर का दृष्टान्त निश्चित किया गया है । दूसरे

निःकांक्षित अंग में अनन्तमती रानी, तीसरे निर्विचिकित्सा अंग में उद्दायन राजा, चौथे अमूढ़दृष्टि अंग में रेवती रानी, पाँचवें उपगूहन अंग में जिनेन्द्रभक्त सेठ, छठे स्थितीकरण अंग में वारिषेण, सातवें वात्सल्य अंग में विष्णुकुमार मुनि और आठवें प्रभावना अंग में वज्रकुमार मुनि प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

तत्र निःशंकितत्वेऽञ्जनचोरो दृष्टान्ततां गतोऽस्य कथा—

यथा—धन्वन्तरिविश्वलोमौ सुकृत कर्मवशादमितप्रभविद्युत्प्रभदेवौ संजातौ चान्योन्यस्य धर्मपरीक्षणार्थमत्रायातौ। ततो यमदग्निस्ताभ्यां तपसश्चालितः। मगधदेशे राजगृहनगरे जिनदत्तश्रेष्ठी कृतोपवासः कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ श्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितो दृष्टः। ततोऽमितप्रभदेवेनोक्तं दूरे तिष्ठन्तु मदीया मुनयोऽमुं गृहस्थं ध्यानाच्चालयेति, ततो विद्युत्प्रभदेवेनानेकधा कृतोपसर्गोपि न चलितो ध्यानात्। ततः प्रभाते मायामुपसंहृत्य प्रशस्य चाकाशगामिनी विद्या दत्ता तस्मै, कथितं च तवेयं सिद्धाऽन्यस्य च पंचनमस्कारार्चनाराधनविधिना सेत्स्यतीति। सोमदत्तपुष्पवटुकेन चैकदा जिनदत्तश्रेष्ठी पृष्टः—क्व भवान् प्रातरेवोत्थाय व्रजतीति। तेनोक्तमकृत्रिम चैत्यालयवन्दनाभक्तिं कर्तुं व्रजामि। ममेत्थं विद्यालाभः संजात इति कथिते तेनोक्तं मम विद्यां देहि येन त्वया सह पुष्पादिकं गृहीत्वा वंदनाभक्तिं करोमीति। ततः श्रेष्ठिना तस्योपदेशो दत्तः। तेन च कृष्ण चतुर्दश्यां श्मशाने वटवृक्षपूर्वशाखायामष्टोत्तरशतपादं दर्भशिक्यं बन्धयित्वा तस्य तले तीक्ष्णसर्वशस्त्राण्यूर्ध्वमुखानि धृत्वा गन्धपुष्पादिकं दत्त्वा शिक्यमध्ये प्रविश्य षष्ठोपवासेन पंचनमस्कारानुच्चार्य छुरिकयैकैकं पादं छिन्दताऽधो जाज्वल्यमानप्रहरण समूहमालोक्य भीतेन तेन संचिन्तितं—यदि श्रेष्ठिनो वचनमसत्यं भवति तदा मरणं भवतीति शंकितमना वारंवारं चटनोत्तरणं करोति। एतस्मिन् प्रस्तावे प्रजापालस्य राज्ञः कनकाराज्ञीहारं दृष्ट्वांजनसुन्दर्या विलासिन्या रात्रावागतोंजन चोरो भणितः। यदि मे कनकाराज्ञ्याहारं ददासि तदा भर्त्ता त्वं, नान्यथेति। ततो गत्वा रात्रौ हारं चोरयित्वांऽजनचोर आगच्छन् हारोद्योतेन ज्ञातोऽगरक्षैः कोट्टपालैश्च ध्रियमाणो हारं त्यक्त्वा प्रणश्य गतः वटतले वटुकं दृष्ट्वा तस्मान्मंत्रं गृहीत्वा निःशंकितेन तेन विधिनैक वारेण सर्वशिक्यं छिन्नं शस्त्रोपरि पतितः सिद्धया विद्यया भणितं—ममादेशं देहीति। तेनोक्तं—जिनदत्तश्रेष्ठिपार्श्वे मां नयेति। ततः सुदर्शन मेरु चैत्यालये जिनदत्तस्याग्रे नीत्वा स्थितः। पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा तेन भणितं—यथेयं सिद्धा भवदुपदेशेन तथा परलोकसिद्धावप्युपदेहीति। ततश्चारणमुनिसन्निधौ तपो गृहीत्वा कैलासे केवलमुत्पाद्य मोक्षं गतः ॥१॥

अञ्जन चोर की कथा

धन्वन्तरि और विश्वलोमा पुण्यकर्म के प्रभाव से अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ नामके देव हुए। और एक दूसरे के धर्म की परीक्षा करने हेतु पृथिवीलोक पर आये। तदनन्तर उन्होंने यमदग्नि ऋषि को तप से विचलित किया। मगधदेश के राजगृह नगर में जिनदत्त नामका सेठ उपवास का नियम लेकर कृष्ण पक्षकी चतुर्दशी की रात्रि को श्मशान में कायोत्सर्ग से स्थित था। उसे देखकर अमितप्रभ देवने विद्युत्प्रभ से कहा कि हमारे मुनि तो दूर रहें, इस गृहस्थ को ही तुम ध्यान से विचलित कर दो। तदनन्तर विद्युत्प्रभ देव ने उस पर अनेक प्रकार के उपसर्ग किये, फिर भी वह ध्यान से विचलित नहीं हुआ। तदनन्तर प्रातःकाल अपनी माया को समेटकर विद्युत्प्रभ ने उसकी बहुत प्रशंसा की और उसे आकाशगामिनी विद्या दी। विद्या प्रदान करते समय उससे कहा कि तुम्हें यह विद्या सिद्ध हो चुकी है, दूसरे के लिए पञ्चनमस्कार मन्त्रकी अर्चना और आराधना विधि से सिद्ध होगी। जिनदत्त के यहाँ सोमदत्त नामका एक ब्रह्मचारी बटु रहता था, जो जिनदत्त के लिए फूल लाकर देता था। एक दिन उसने जिनदत्त सेठ से पूछा कि आप प्रातःकाल ही उठकर कहां जाते हैं ? सेठ ने कहा कि मैं अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना भक्ति करने के लिए जाता हूँ। मुझे इस प्रकार से आकाशगामिनी विद्या का लाभ हुआ है, सेठ के ऐसा कहने पर सोमदत्त बटु ने कहा कि मुझे भी यह विद्या दो, जिससे मैं भी तुम्हारे साथ पुष्पादिक लेकर वन्दना भक्ति करूंगा। तदनन्तर सेठ ने उसके लिए विद्या सिद्ध करने की विधि बतलाई।

सोमदत्त बटु ने कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि को श्मशान में वटवृक्ष की पूर्व दिशा वाली शाखा पर एकसौ आठ रस्सियों का मूंजका एक सींका बांधा। उसके नीचे सब प्रकार के पैने शस्त्र ऊपर की ओर मुख कर रखे। पश्चात गन्ध, पुष्प आदि लेकर सींके के बीच प्रविष्ट हो उसने बेला–दो दिनके उपवास का नियम लिया। फिर पञ्चनमस्कार मन्त्र का उच्चारण कर छुरी से सींके की एक-एक रस्सी को काटने के लिए तैयार हुआ। परन्तु नीचे चमकते हुए शस्त्रों के समूह को देखकर वह डर गया तथा विचार करने लगा कि यदि सेठ के वचन असत्य हुए तो मरण हो जाएगा। इस प्रकार शंकित चित्त होकर वह सींके पर बार-बार चढ़ने और उतरने लगा।

उसी समय, राजगृही नगरी में एक अञ्जन सुन्दरी नामकी वेश्या रहती थी। एक दिन उसने कनकप्रभ राजा की कनकारानी का हार देखा। रात्रि को जब अञ्जन

चोर उस वेश्या के यहां गया तब उसने कहा कि यदि तुम मुझे कनका रानी का हार लाकर दे सकते हो तो मेरे भर्त्ता बन सकते हो, अन्यथा नहीं । तदनन्तर अञ्जन चोर रात्रि में हार चुराकर आ रहा था कि हारके प्रकाश से वह जान लिया गया । अङ्ग रक्षकों और कोटपाल ने उसे पकड़ना चाहा परन्तु वह हार छोड़कर भाग गया । वटवृक्ष के नीचे सोमदत्त बटुक को देखकर उसने उससे सब समाचार पूछे तथा उससे मन्त्र लेकर वह सींके पर चढ़ गया । उसने निःशंकित होकर उस विधि से एक ही बार में सींके की सब रस्सियाँ काट दीं । ज्यों ही वह शस्त्रों के ऊपर गिरने लगा त्यों ही विद्या सिद्ध हो गई । सिद्ध हुई विद्या ने उससे कहा कि मुझे आज्ञा दो । अञ्जन चोर ने कहा कि मुझे जिनदत्त सेठ के पास ले चलो । उस समय जिनदत्त सेठ सुदर्शन मेरु के चैत्यालय में स्थित था । विद्या ने अञ्जन चोर को ले जाकर सेठ के आगे खड़ा कर दिया । अपना पिछला वृत्तान्त कह कर अञ्जन चोर ने सेठ से कहा कि आपके उपदेश से मुझे जिस प्रकार यह विद्या सिद्ध हुई है उसी प्रकार परलोक की सिद्धि के लिए भी आप मुझे उपदेश दीजिये । तदनन्तर चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के पास दीक्षा लेकर उसने कैलाश पर्वत पर तप किया और केवलज्ञान प्राप्त कर वहीं से मोक्ष प्राप्त किया ।

निःकांक्षितत्वेऽनन्तमतीदृष्टान्तोऽस्याः कथा ।

अंगदेशे चंपानगर्यां राजा वसुवर्धनो राज्ञी लक्ष्मीमती श्रेष्ठी प्रियदत्तस्तद्भार्या अंगवती पुत्र्यनंतमती । नन्दीश्वराष्टम्यां श्रेष्ठिना धर्मकीर्त्याचार्यपादमूलेऽष्टदिनानि ब्रह्मचर्यं गृहीतं । क्रीडयाऽनन्तमती च ग्राहिता । अन्यदा सम्प्रदानकालेऽनन्तमत्योक्तं— तात ! मम त्वया ब्रह्मचर्यं दापितमतः किं विवाहेन ? श्रेष्ठिनोक्तं क्रीडया मया ते ब्रह्मचर्यं दापितं । ननु तात ! धर्मे व्रते का क्रीडा । ननु पुत्रि ! नन्दीश्वराष्टदिनान्येव व्रतं तव न सर्वदा दत्तं । सोवाच ननु तात ! तथा भट्टारकैरविवक्षितत्वादिति । इह जन्मनि परिणयने मम निवृत्तिरस्तीत्युक्त्वा सकलकलाविज्ञानशिक्षां कुर्वन्ती स्थिता । यौवनभरे चैत्रे निजोद्याने आन्दोलयन्ती विजयार्ध दक्षिण श्रेणिकिन्नरपुरविद्याधरराजेन कुण्डलमण्डित नाम्ना सुकेशीनिजभार्यया सह गगनतले गच्छता दृष्टा । किमनया बिना जीवितेनेति संचिन्त्य भार्यां गृहे धृत्वा शीघ्रमागत्य विलपन्ती तेन सा नीता । आकाशे गच्छता भार्यां दृष्ट्वा भीतेन पर्णलघुविद्याः समर्प्य महाटव्यां मुक्ता । तत्र च तां रुदन्तीमालोक्य भीमनाम्ना भिल्लराजेन निजपल्लिकायां नीत्वा प्रधानराज्ञीपदं तव ददामि मामिच्छेति भणित्वा रात्रावनिच्छन्तीं भोक्तुमारब्धा । व्रतमाहात्म्येन वनदेवतया तस्य

ताडनाद्युपसर्गः कृतः। देवता काचिदियमिति भीतेन तेनावासित सार्थं पुष्पकनाम्नः सार्थवाहस्य समर्पिता। सार्थवाहो लोभं दर्शयित्वा परिणेतुकामो न तथा वाञ्छितः। तेन चानीयायोध्याया कामसेनाकुट्टिन्याः समर्पिता, कथमपि वेश्या न जाता। ततस्तया सिंह राजस्य राज्ञो दर्शिता तेन च रात्रौ हठात् सेवितुमारब्ध। नगरदेवतया तद्व्रतमाहात्म्येन तस्योपसर्गः कृतः। तेन च भीतेन गृहान्निःसारिता। रुदती सखेदं सा कमलश्रीक्षांतिकया श्राविकेति मत्वाऽतिगौरवेण धृता। अथानन्तमतीशोक विस्मरणार्थं प्रियदत्तश्रेष्ठी बहु-सहायो वन्दनाभक्ति कुर्वन्नयोध्यायां गतो निजश्यालक जिनदत्तश्रेष्ठिनो गृहे संध्यासमये प्रविष्टो रात्रौ पुत्री हरणवार्तां कथितवान। प्रभाते तस्मिन् वन्दनाभक्तिं कर्तुं गते अति गौरवितप्राघूर्णकनिमित्तं रसवतीं कर्तुं गृहे चतुष्कं दातुं कुशला कमलश्रीक्षांतिका श्राविका जिनदत्तभार्यया आकारिता। सा च सर्वं कृत्वा वसतिकां गता। वन्दनाभक्ति कृत्वा आगतेन प्रियदत्त श्रेष्ठिना चतुष्कमालोक्यानन्तमतीं स्मृत्वा गद्गदितहृदयेन गद्-गदित वचनेनाश्रुपातं कुर्वता भणितं—यया गृहमण्डनं कृतं तां मे दर्शयेति। ततः सा आनीता तयोश्च मेलापके जाते जिनदत्त श्रेष्ठिना च महोत्सवः कृतः। अनन्तमत्या चोक्तं तात ! इदानीं मे तपो दापय, दृष्टमेकस्मिन्नेव भवे संसार वैचित्र्यमिति। ततः कमलश्रीक्षांतिकापार्श्वे तपो गृहीत्वा बहुना कालेन विधिना मृत्वा तदात्मा सहस्रार कल्पे देवो जातः॥ २॥

अनन्तमती की कथा

अंगदेश की चम्पानगरी में राजा वसुवर्धन रहते थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। प्रियदत्त नामका सेठ था, उसकी स्त्री का नाम अङ्गवती था और दोनों के अनन्तमती नामकी एक पुत्री थी। एक बार नन्दीश्वर-अष्टाह्निका पर्व की अष्टमी के दिन सेठ ने धर्मकीर्ति आचार्य के पादमूल में आठ दिन तक का ब्रह्मचर्य व्रत लिया। सेठ ने क्रीड़ावश अनन्तमती को भी ब्रह्मचर्य व्रत दिला दिया।

अन्य समय जब अनन्तमती के विवाह का अवसर आया तब उसने कहा कि पिताजी ! आपने तो मुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था, इसलिए विवाह से क्या प्रयोजन है ? सेठ ने कहा—मैंने तो तुझे क्रीड़ावश ब्रह्मचर्य दिलाया था। अनन्तमती ने कहा कि व्रतरूप धर्म के विषय में क्रीड़ा क्या वस्तु है ? सेठ ने कहा—पुत्रि ! नन्दीश्वर पर्व के आठ दिन के लिए ही तुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था, न कि सदा के लिए अनन्तमती ने कहा कि पिताजी ! भट्टारक महाराज ने तो वैसा नहीं कहा था। इस जन्म में मेरे

विवाह करने का त्याग है। ऐसा कहकर वह समस्त कलाओं के विज्ञान की शिक्षा लेती हुई रहने लगी।

एक बार जब वह पूर्ण यौवनवती हो गई तब चैत्र मास में अपने घर के उद्यान में झूला झूल रही थी। उसी समय विजयार्धपर्वत की दक्षिण श्रेणी में स्थित किन्नरपुर नगर में रहने वाला कुण्डल-मण्डित नामक विद्याधरों का राजा अपनी सुकेशी नामक स्त्री के साथ आकाश में जा रहा था। उसने अनन्तमती को देखा। देखते ही वह विचार करने लगा कि इसके बिना जीवित रहने से क्या प्रयोजन है? ऐसा विचार कर वह अपनी स्त्री को तो घर छोड़ आया और शीघ्र ही आकर विलाप करती हुई अनन्तमती को हरण करके ले गया। जब वह आकाश में जा रहा था तब उसने अपनी स्त्री सुकेशी को वापस आते देखा। देखते ही वह भयभीत हो गया और उसने पर्णलघु विद्या देकर अनन्तमती को महाअटवी में छोड़ दिया। वहां उसे रोती देख भीम नामक भीलों का राजा अपनी वसतिका में ले गया और 'मैं तुम्हें प्रधान रानी का पद देता हूँ, तुम मुझे चाहो' ऐसा कहकर रात्रि के समय उसके न चाहने पर भी उपभोग करने को उद्यत हुआ। व्रत के माहात्म्य से वनदेवता ने भीलों के उस राजा की अच्छी पिटाई की। यह कोई देवी है ऐसा समझकर भीलों का राजा डर गया और उसने वह अनन्तमती बहुत से बनिजारों के साथ ठहरे हुए पुष्पक नामक प्रमुख बनिजारे के लिए दे दी। प्रमुख बनिजारे ने लोभ दिखाकर विवाह करने की इच्छा की, परन्तु अनन्तमती ने उसे स्वीकृत नहीं किया। तदनन्तर वह बनिजारा उसे लाकर अयोध्या की कामसेना नामकी वेश्या को सौंप गया। कामसेना ने उसे वेश्या बनाना चाहा, पर वह किसी भी तरह वेश्या नहीं हुई। तदनन्तर उस वेश्या ने सिंहराज नामक राजा के लिए वह अनन्तमती दिखाई और वह राजा रात्रि में उसे बलपूर्वक सेवन करने के लिए उद्यत हुआ, परन्तु उसके व्रत के माहात्म्य से नगरदेवता ने राजा पर उपसर्ग किया, जिससे डरकर उसने उसे घर से निकाल दिया।

खेद के कारण अनन्तमती रोती हुई बैठी थी कि कमलश्री नामकी आर्यिका ने 'यह श्राविका है' ऐसा मानकर बड़े सम्मान के साथ उसे अपने पास रख लिया। तदनन्तर अनन्तमती का शोक भुलाने के लिए प्रियदत्त सेठ बहुत से लोगों के साथ वंदना भक्ति करता हुआ अयोध्या गया, और अपने साले जिनदत्त सेठ के घर संध्या के समय पहुँचा। वहाँ उसने रात्रि के समय पुत्री के हरण का समाचार कहा। प्रातःकाल

होने पर सेठ प्रियदत्त तो वन्दना-भक्ति करने के लिए गये। इधर जिनदत्त सेठ की स्त्री ने अत्यन्त गौरवशाली पाहुने के निमित्त उत्तम भोजन बनाने और घर में चौक पूरने के लिए कमलश्री आर्यिका की श्राविका को बुलाया, वह श्राविका सब काम करके अपनी वसतिका में चली गई। वन्दना-भक्ति करके जब प्रियदत्त सेठ वापिस आये तब चौक देखकर उन्हें अनन्तमती का स्मरण हो आया। उनके हृदय पर गहरी चोट लगी। गद्गद वचनों से अश्रुपात करते हुए उन्होंने कहा कि जिसने यह चौक पूरा है, उसे मुझे दिखलाओ। तदनन्तर वह श्राविका बुलायी गई। पिता और पुत्री का मेल होने पर जिनदत्त सेठ ने बहुत भारी उत्सव किया। अनन्तमती ने कहा कि पिताजी! अब मुझे तप दिलादो मैंने एक ही भव में संसार की विचित्रता देख ली है। तदनन्तर कमलश्री आर्यिका के पास दीक्षा लेकर उसने बहुत काल तप किया। अन्त में संन्यास-पूर्वक मरणकर उसकी आत्मा सहस्रार स्वर्ग में देव हुई।

निर्विचिकित्सिते उद्दायनो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

एकदा सौधर्मेन्द्रेण निजसभायां सम्यक्त्वगुणं व्यावर्णयता भरते वत्सदेशे रौरकपुरे उद्दायनमहाराजस्य निर्विचिकित्सितगुणः प्रशंसितस्तं परीक्षितुं वासवदेव उदुंबरकुष्ठ कुथितं मुनिरूपं विकृत्य तस्यैव हस्तेन विधिना स्थित्वा सर्वमाहारं जलं च मायया भक्षयित्वातिदुर्गंधं बहुवमनं कृतवान्। दुर्गन्धभयान्नष्टे परिजने प्रतीच्छतो राज्ञस्तद्देव्याश्च प्रभावत्या उपरि छर्दितं, हाहा! विरुद्ध आहारो दत्तो मयेत्यात्मानं निन्दयतस्तं च प्रक्षालयतो मायां परिहृत्य प्रकटी कृत्य पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा प्रशस्य च तं, स्वर्गं गतः। उद्दायनमहाराजो वर्धमान स्वामिपादमूले तपोगृहीत्वा मुक्ति गतः। प्रभावती च तपसा ब्रह्मस्वर्गे देवोबभूव ॥३॥

उद्दायन राजा की कथा

एक बार अपनी सभा में सम्यग्दर्शन के गुणों का वर्णन करते हुए सौधर्मेन्द्र ने वत्स देश के रौरकपुर नगर के राजा उद्दायन महाराज के निर्विचिकित्सित गुण की बहुत प्रशंसा की। उसकी परीक्षा करने के लिये एक वासव नामका देव आया। उसने विक्रिया से एक ऐसे मुनि का रूप बनाया जिसका शरीर उदुम्बर कुष्ठ से गलित हो रहा था। उस मुनि ने विधिपूर्वक खड़े होकर उसी राजा उद्दायन के हाथ से दिया हुआ समस्त आहार और जल माया से ग्रहण किया। पश्चात् अत्यन्त दुर्गन्धित वमन

कर दिया। दुर्गन्धि के भय से परिवार के सब लोग भाग गये, परन्तु राजा उद्दायन अपनी रानी प्रभावती के साथ मुनि की परिचर्या करता रहा। मुनि ने उन दोनों पर भी वमन कर दिया। 'हाय ! हाय ! मेरे द्वारा विरुद्ध आहार दिया गया है, इस प्रकार अपनी निन्दा करते हुए राजा ने मुनिका प्रक्षालन किया। अन्त में, देव अपनी माया को समेट कर असलीरूप में प्रकट हुआ और पहले का सब समाचार कहकर तथा राजा की प्रशंसा कर स्वर्ग चला गया। उद्दायन महाराज वर्धमान स्वामी के पादमूल में तप ग्रहण कर मोक्ष गये और रानी प्रभावती तपके प्रभाव से ब्रह्मस्वर्ग में देव हुई।

अमूढदृष्टित्वे रेवतीदृष्टान्तोऽस्य कथा—

विजयार्ध दक्षिणश्रेण्यां मेघकूटे नगरे राजा चन्द्रप्रभः। चन्द्रशेखरपुत्राय राज्यं दत्वा परोपकारार्थं वन्दनाभक्त्यर्थं च कियतीर्विद्या दधानो दक्षिणमथुरायां गत्वा गुप्ताचार्यसमीपे क्षुल्लको जातः। तेनैकदा वन्दनाभक्त्यर्थमुत्तरमथुरायां चलितेन गुप्ताचार्यः पृष्टः किं कस्य कथ्यते ? भगवतोक्तं सुव्रतमुनेर्वन्दना वरुणराजमहाराज्ञीरेवत्या आशीर्वादश्च कथनीयः। त्रिपृष्टेनापि तेन एतावदेवोक्तं। ततः क्षुल्लकेनोक्तं। भव्यसेनाचार्यस्यैकादशांगधारिणोऽन्येषां च नामापि भगवन् न गृह्णाति तत्र किंचित्कारणं भविष्यतीति सम्प्रधार्य तत्र गत्वा सुव्रतमुनेर्भट्टारकीयां वन्दनां कथयित्वा तदीयं च विशिष्टं वात्सल्यं दृष्ट्वा भव्यसेनवसतिकां गतः। तत्र गतस्य च भव्यसेनेन संभाषणमपि न कृतं। कुण्डिकां गृहीत्वा भव्यसेनेन सह बहिर्भूमिं गत्वा विकुर्वणया हरितकोमलतृणांकुरच्छन्नो मार्गोऽग्रे दर्शितः। तं दृष्ट्वा 'आगमे किलैते जीवाः कथ्यन्ते' इति भणित्वा तत्रारुचिं कृत्वा तृणोपरि गतः शौचसमये कुण्डिकायां जलं नास्ति तथा विक्रियश्च क्वापि न दृश्यतेऽतोऽत्र स्वच्छ सरोवरे प्रशस्तमृत्तिकया शौचं कृतवान्। ततस्तं मिथ्यादृष्टिं ज्ञात्वा भव्यसेनस्याभव्यसेननाम कृतं। ततोऽन्यस्मिन् दिने पूर्वस्यां दिशि पद्मासनस्थं चतुर्मुखं यज्ञोपवीताद्युपेतं देवासुरवन्द्यमानं ब्रह्मरूपं दर्शितं। तत्र राजादयो भव्यसेनादयश्च जना गताः। रेवती तु कोऽयं ब्रह्मनाम देव इति भणित्वा लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता। एवं दक्षिणस्यां दिशि गरुडारूढं चतुर्भुजं च गदाशंखादिधारकं वासुदेवरूपं। पश्चिमायां दिशि वृषभारूढं सार्धचन्द्रजटाजूटगौरीगणोपेतं शंकररूपं। उत्तरस्यां दिशि समवसरणमध्ये प्रातिहार्याष्टकोपेतं सुरनरविद्याधरमुनिवृन्दवन्द्यमानं पर्यंकस्थितं तीर्थंकरदेवरूपं दर्शितं। तत्र च सर्वलोका गताः। रेवती तु लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता नवैव वासुदेवाः, एकादशैव रुद्राः, चतुर्विंशतिरेव तीर्थंकरा जिनागमे कथिताः। ते चातीताः कोऽप्ययं मायावीत्युक्त्वा स्थिता। अन्यदिने चर्यावेलायां

व्याधिक्षीणशरीर क्षुल्लकरूपेण रेवतीगृहप्रतोलीसमीपमार्गे मायामूर्च्छया पतितः । रेवत्या तमाकर्ण्य भक्त्योत्थाप्य नीत्वोपचारं कृत्वा पथ्यं कारयितुमारब्धः । तेन च सर्वमाहारं भुक्त्वा दुर्गन्धिवमनं कृतं । तदपनीय हा ! विरूपकं मयाऽपथ्यं दत्तमिति रेवत्या वचनमाकर्ण्य तोषान्मायामुपसंहृत्य तां देवीं वन्दयित्वा गुरोराशीर्वादं पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा लोकमध्ये तु अमूढदृष्टित्वं तस्या उच्चैः प्रशस्य स्वस्थाने गतः । वरुणो राजा शिवकीर्तिपुत्राय राज्यं दत्वा तपो गृहीत्वा माहेन्द्रस्वर्गे देवो जातः । रेवत्यपि तपः कृत्वा ब्रह्मस्वर्गे देवो बभूव ॥४॥

रेवती रानी की कथा

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणि सम्बन्धी मेघकूट नगर का राजा चन्द्रप्रभ, अपने चन्द्रशेखर पुत्र के लिए राज्य देकर, परोपकार तथा वन्दना भक्ति के लिए कुछ विद्याओं को धारण करता हुआ दक्षिण मथुरा गया और वहाँ गुप्ताचार्य के समीप क्षुल्लक हो गया । एक समय वह क्षुल्लक, वन्दना-भक्ति के लिए उत्तर मथुरा की ओर जाने लगा । जाते समय उसने गुप्ताचार्य से पूछा कि क्या किसी से कुछ कहना है । भगवान् गुप्ताचार्य ने कहा कि सुव्रतमुनि को वन्दना और वरुणराजा की महारानी रेवती के लिए आशीर्वाद कहना । क्षुल्लक ने तीन बार पूछा फिर भी उन्होंने इतना ही कहा । तदनन्तर क्षुल्लक ने कहा कि वहाँ ग्यारह अंग के धारक भव्य सेनाचार्य तथा अन्य धर्मात्मा लोग भी रहते हैं, उनका आप नाम भी नहीं लेते हैं । उसमें कुछ कारण अवश्य होगा, ऐसा विचार कर क्षुल्लक उत्तर मथुरा गया । वहाँ जाकर उसने सुव्रतमुनि के लिए भट्टारक की वन्दना कही । सुव्रतमुनि ने परम वात्सल्यभाव दिखलाया । उसे देखकर वह भव्यसेन की वसतिका में गया । क्षुल्लक के वहाँ पहुँचने पर भव्यसेन ने उससे संभाषण भी नहीं किया । भव्यसेन शौच के लिए बाहर जा रहे थे सो क्षुल्लक उनका कमण्डलु लेकर उनके साथ बाह्यभूमि गया और विक्रिया से उसने आगे ऐसा मार्ग दिखाया जो कि हरे-हरे कोमल तृणों के अंकुरों से आच्छादित था । उस मार्गको देखकर क्षुल्लक ने कहा भी कि आगम में ये सब जीव कहे गये हैं । भव्यसेन आगम पर अरुचि-अश्रद्धा दिखाते हुए तृणों पर चले गये । क्षुल्लक ने विक्रिया से कमण्डलु का पानी सुखा दिया । जब शुद्धि का समय आया तब कमण्डलु में पानी नहीं है तथा कहीं कोई विक्रिया भी नहीं दिखाई देती है, यह देख वे आश्चर्य में पड़ गये । तदनन्तर

उन्होंने स्वच्छ सरोवर में उत्तम मिट्टी से शुद्धि की । इन सब क्रियाओं से उन्हें मिथ्यादृष्टि जानकर क्षुल्लक ने भव्यसेन का अभव्यसेन नाम रख दिया ।

तदनन्तर दूसरे दिन क्षुल्लक ने पूर्व दिशा में पद्मासन पर स्थित चार मुखों सहित यज्ञोपवीत आदि से युक्त तथा देव और दानवों से वन्दित ब्रह्मा का रूप दिखाया । राजा तथा भव्यसेन आदि लोग वहां गये परन्तु रेवती रानी लोगों से प्रेरित होने पर भी नहीं गयी । वह यही कहती रही कि यह ब्रह्म नामका देव कौन है ? इसी प्रकार दक्षिण दिशा में उसने गरुड़ के ऊपर आरूढ़, चार भुजाओं सहित तथा गदा शंख आदि के धारक नारायणका रूप दिखाया। पश्चिम दिशा में उसने बैल पर आरूढ़ तथा अर्धचन्द्र जटाजूट पार्वती और गणों से सहित शंकर का रूप दिखाया । उत्तर दिशा में उसने समवसरण के मध्य में आठ प्रातिहार्यों सहित सुरनर, विद्याधर और मुनियों के समूह से वन्द्यमान पर्यंकासन सहित तीर्थंकर देव का रूप दिखाया । वहां सब लोग गये परन्तु रेवती रानी लोगों के द्वारा प्रेरणा की जाने पर भी नहीं गयी । वह यही कहती रही कि नारायण नौ ही होते हैं, रुद्र ग्यारह ही होते हैं और तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं ऐसा जिनागम में कहा गया है । और वे सब हो चुके हैं । यह तो कोई मायावी है । दूसरे दिन चर्या के समय उसने एक ऐसे क्षुल्लक का रूप बनाया, जिसका शरीर बीमारी से क्षीण हो गया था । रेवती रानी ने जब यह समाचार सुना तब वह भक्तिपूर्वक उसे उठाकर ले गयी । उसका उपचार किया और पथ्य कराने के लिए उद्यत हुई । उस क्षुल्लक ने सब आहार कर दुर्गन्ध से युक्त वमन किया । रानी ने वमन को दूर कर कहा कि 'हाय मैंने प्रकृति के विरुद्ध अपथ्य आहार दिया ।' रेवती रानी के उक्त वचन सुनकर क्षुल्लक ने सन्तोष से सब माया को संकोच कर उसे गुप्ताचार्य को परोक्ष वंदना कराकर उनका आशीर्वाद कहा और लोगों के बीच उसकी अमूढ़दृष्टिता की खूब प्रशंसा की । यह सब कर क्षुल्लक अपने स्थान पर चला गया । राजा वरुण शिवकीर्ति पुत्र के लिए राज्य देकर तथा तप ग्रहण कर माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ तथा रेवती रानी भी तप कर ब्रह्म स्वर्ग में देव हुई ।

उपगूहने जिनेन्द्रभक्तो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

सुराष्ट्रदेशे पाटलिपुत्रनगरे राजा यशोधरो राज्ञी सुसीमा पुत्रः सुवीरः सप्तव्यसनाभिभूतस्तथाभूततस्करपुरुषसेवितः । पूर्वदेशे गौडविषये ताम्रलिप्तनगर्यां जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिनः सप्ततलप्रासादोपरि बहुरक्षकोपयुक्त पार्श्वनाथ प्रतिमाछत्रत्रयोपरि विशिष्ट-

तरानर्घ्यवैडूर्यमणिं पारम्पर्येणाकर्ण्य लोभात्तेन सुवीरेण निजपुरुषाः पृष्टाः तं मणिं किं कोऽप्यानेतुं शक्तोऽस्तीति । इन्द्रमुकुटमणिमप्यहमानयामीति गलगर्जितं कृत्वा सूर्यनामा चौरः कपटेन क्षुल्लको भूत्वा अतिकायक्लेशेन ग्रामनगरक्षोभं कुर्वाणः क्रमेण ताम्रलिप्त-नगरीं गतः । तमाकर्ण्य गत्वाऽऽलोक्य वन्दित्वा संभाष्य प्रशस्य च क्षुभितेन जिनेन्द्रभक्त-श्रेष्ठिना नीत्वा पार्श्वनाथदेवं दर्शयित्वा मायया अनिच्छन्नपि स तत्र मणिरक्षको धृतः । एकदा क्षुल्लकं पृष्ट्वा श्रेष्ठी समुद्रयात्रायां चलितो नगराद्बहिर्निर्गत्य स्थितः । स चौर क्षुल्लको गृहजनमुपकरण नयनव्यग्रं ज्ञात्वा अर्धरात्रे तं मणिं गृहीत्वा चलितः । मणि-तेजसा मार्गे कोट्टपालैर्दृष्टो धर्तुमारब्धः । तेभ्यः पलायितुमसमर्थः श्रेष्ठिन एव शरणं प्रविष्टो मां रक्ष रक्षेति चोक्तवान् । कोट्टपालानां कलकलमाकर्ण्य पर्यालोच्य तं चौरं ज्ञात्वा दर्शनोपहासप्रच्छादनार्थं भणितं श्रेष्ठिना मद्वचनेन रत्नमनेनानीतमिति विरूपकं भवद्भिः कृतं यदस्य महातपस्विनश्चौरोद्घोषणा कृता । ततस्ते तस्य वचनं प्रमाणं कृत्वा गताः । स च श्रेष्ठिना रात्रौ निर्घाटितः । एवमन्येनापि सम्यग्दृष्टिना असमर्थाज्ञान-पुरुषादागतदर्शनदोषस्य प्रच्छादनं कर्तव्यं ॥५॥

जिनेन्द्रभक्त सेठ की कथा

सुराष्ट्र देश के पाटलिपुत्र नगर में राजा यशोधर रहता था । उसकी रानी का नाम सुसीमा था । उन दोनों के सुवीर नामका पुत्र था । सुवीर सप्तव्यसनों से अभिभूत था तथा ऐसे ही चोर पुरुष उसकी सेवा करते थे । उसने कानों कान सुना कि पूर्व गौड़ देश की ताम्रलिप्त नगरी में जिनेन्द्र भक्त सेठ के सात खण्ड वाले महल के ऊपर अनेक रक्षकों से युक्त श्री पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा पर जो छत्रत्रय लगा है उस पर एक विशेष प्रकार का अमूल्य वैडूर्यमणि लगा हुआ है । लोभवश उस सुवीर ने अपने साथियों से पूछा कि क्या कोई उस मणि को लाने में समर्थ है ? सूर्य नामक चोर ने गला फाड़कर कहा कि यह तो क्या है मैं इन्द्र के मुकुट का मणि भी ला सकता हूँ । इतना कहकर वह कपट से क्षुल्लक बन गया और अत्यधिक कायक्लेश से ग्राम तथा नगरों में क्षोभ करता हुआ क्रम से ताम्रलिप्त नगरी पहुँच गया । प्रशंसा से क्षोभ को प्राप्त हुए जिनेन्द्रभक्त सेठ ने जब सुना तब वह जाकर दर्शन कर वन्दना कर तथा वार्तालाप कर उस क्षुल्लक को अपने घर ले आया । उसने पार्श्वनाथ देव के उसे दर्शन कराये और माया से न चाहते हुए भी उसे मणिका रक्षक बनाकर वहीं रख लिया ।

एक दिन क्षुल्लक से पूछकर सेठ समुद्र यात्रा के लिए चला और नगर से बाहर निकलकर ठहर गया। वह चोर क्षुल्लक घर के लोगों को सामान ले जाने में व्यग्र जानकर आधी रात के समय उस मणिको लेकर चलता बना। मणि के तेज से मार्ग में कोतवालों ने उसे देख लिया और पकड़ने के लिए उसका पीछा किया। कोतवालों से बचकर भागने में असमर्थ हुआ वह चोर क्षुल्लक सेठ की ही शरण में जाकर कहने लगा कि मेरी रक्षा करो, रक्षा करो। कोतवालों का कलकल शब्द सुनकर तथा पूर्वापर विचार कर सेठ ने जान लिया कि यह चोर है परन्तु धर्म को उपहास से बचाने के लिये उसने कहा कि यह मेरे कहने से ही रत्न लाया है, आप लोगों ने अच्छा नहीं किया जो इस महा तपस्वी को चोर घोषित किया। तदनन्तर सेठ के वचन को प्रमाण मानकर कोतवाल चले गये और सेठ ने उसे रात्रि के समय निकाल दिया। इसी प्रकार अन्य सम्यग्दृष्टि को भी असमर्थ और अज्ञानी जनों से आये हुए धर्म के दोष का आच्छादन करना चाहिये।

स्थितिकरणे वारिषेणो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिको राज्ञी चेलिनी पुत्रो वारिषेण: उत्तम श्रावक: चतुर्दश्यां रात्रौ कृतोपवास: श्मशाने कायोत्सर्गेण स्थित:। तस्मिन्नेवदिने उद्यानिकायां गतया मगधसुन्दरी विलासिन्या श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या परिहितो दिव्यो हारो दृष्ट:। ततस्तं दृष्ट्वा किमनेनालंकारेण विना जीवितेनेति संचिन्त्य शय्यायां पतित्वा सा स्थिता। रात्रौ समागतेन तदासक्तेन विद्युच्चरेणोक्तं प्रिये ! किमेवं स्थितासीति। तयोक्तं श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या हारं यदि मे ददासि तदा जीवामि त्वं च मे भर्ता नान्यथेति श्रुत्वा तां समुदीर्य अर्धरात्रे गत्वा निजकौशलेन तं हारं चोरयित्वा निर्गत:। तदुद्योतेन चौरोऽयमिति ज्ञात्वा गृहरक्षकै: कोट्टपालैश्च ध्रियमाणो पलायितुमसमर्थो वारिषेण-कुमारस्याग्रे तं हारं धृत्वाऽदृश्यो भूत्वा स्थित: कोट्टपालैश्च तं तथालोक्य श्रेणिकस्य कथितं देव ! वारिषेणश्च चौर इति। तं श्रुत्वा तेनोक्तं मूर्खस्यास्य मस्तकं गृह्यता-मिति। मातंगेन योऽसि: शिरोग्रहणार्थं वाहित: स कण्ठे तस्य पुष्पमाला बभूव। तमति-शयमाकर्ण्य श्रेणिकेन गत्वा वारिषेण: क्षमां कारित:। लब्धाभयप्रदानेन विद्युच्चरचौरेण राज्ञो निजवृत्तान्ते कथिते वारिषेणो गृहे नेतुमारब्ध:। तेन चोक्तं मया पाणिपात्रे भोक्त-व्यमिति। ततोऽसौ सूरसेनमुनिसमीपे मुनिरभूत। एकदा राजगृहसमीपे पलाशकूटग्रामे चर्यायां स प्रविष्ट:। तत्र श्रेणिकस्य योऽग्निभूतिमंत्री तत्पुत्रेण पुष्पडालेन स्थापित,

चर्यां कारयित्वा स सोमिल्लां निजभार्यां पृष्ट्वा प्रभुपुत्रत्वाद् बालसखित्वाच्च स्तोकं मार्गानुव्रजनं कर्तुं वारिषेणेन सह निर्गतः। आत्मनो व्याघुटनार्थं क्षीरवृक्षादिकं दर्शयन् मुहुर्मुहुर्वन्दनां कुर्वन् हस्ते धृत्वा नीतो विशिष्ट धर्मश्रवणं कृत्वा वैराग्यं नीत्वा तपो ग्राहितोऽपि सोमिल्लां न विस्मरति। तौ द्वावपि द्वादशवर्षाणि तीर्थयात्रां कृत्वा वर्धमानस्वामिसमवसरणं गतौ। तत्र वर्धमानस्वामिनः पृथिव्याश्च सम्बन्धिगीतं देवैर्गीयमानं पुष्पडालेन श्रुतं। यथा—

"मइलकुचेली दुम्मनी नाहिं पविसियएण।
कह जीविसइ धणिय, घर उज्झंते हियएण॥"

एतदात्मनः सोमिल्लायाश्च संयोज्य उत्कण्ठितश्चलितः। स वारिषेणेन ज्ञात्वा स्थिरीकरणार्थं निजनगरं नीतं। चेलिन्या तौ दृष्ट्वा वारिषेणः किं चारित्राच्चलितः आगच्छतीति संचिन्त्य परीक्षणार्थं सरागवीतरागे द्वे आसने दत्ते। वीतरागासने वारिषेणेनोपविश्योक्तं मदीयमन्तः पुरमानीयतां। ततश्चेलिन्या महादेव्या द्वात्रिंशद्भार्याः सालंकारा आनीताः। ततः पुष्पडालो वारिषेणेन भणितः स्त्रियो मदीयं युवराजपदं च त्वं गृहाण। तच्छ्रुत्वा पुष्पडालो अतीव लज्जितः परं वैराग्यं गतः। परमार्थेन तपः कर्तुं लग्न इति॥ ६॥

वारिषेण की कथा

मगधदेश के राजगृह नगर में राजा श्रेणिक रहता था। उसकी रानी का नाम चेलिनी था। उन दोनों के वारिषेण नाम का पुत्र था। वारिषेण उत्तम श्रावक था। एक बार वह उपवास धारण कर चतुर्दशी की रात्रि में श्मशान में कायोत्सर्ग से खड़ा था। उसी दिन बगीचे में गयी हुई मगधसुन्दरी नामक वेश्या ने श्रीकीर्ति सेठानी के द्वारा पहना हुआ हार देखा। तदनन्तर उस हार को देखकर 'इस आभूषण के बिना मुझे जीवन से क्या प्रयोजन है' ऐसा विचार कर वह शय्या पर पड़ गयी। उस वेश्या में आसक्त विद्युच्चर चोर जब रात्रि के समय उसके घर आया तब उसे शय्या पर पड़ी देख बोला कि प्रिय इस तरह क्यों पड़ी हो? वेश्या ने कहा कि 'यदि श्रीकीर्ति सेठानी का हार मुझे देते हो तो मैं जीवित रहूंगी और तुम मेरे पति होओगे अन्यथा नहीं।' वेश्या के ऐसे वचन सुनकर तथा उसे आश्वासन देकर विद्युच्चर चोर आधी रात के समय श्रीकीर्ति सेठानी के घर गया और अपनी चतुराई से हार चुराकर बाहर

निकल आया। हार के प्रकाश से 'यह चोर है' ऐसा जानकर गृह के रक्षकों तथा कोतवालों ने उसे पकड़ना चाहा। जब वह चोर भागने में असमर्थ हो गया तब वारिषेणकुमार के आगे उस हार को डालकर छिपकर बैठ गया। कोतवाल ने उस हार को वारिषेण के आगे पड़ा देखकर राजा श्रेणिक से कह दिया कि 'राजन्! वारिषेण चोर है।' यह सुनकर राजा ने कहा कि इस मूर्ख का मस्तक छेदकर लाओ। चाण्डाल ने वारिषेण का मस्तक काटने के लिए जो तलवार चलाई सो वह उसके गले में फूलों की माला बन गयी। उस अतिशय को सुनकर राजा श्रेणिक ने जाकर वारिषेण से क्षमा मांगी। विद्युच्चर चोर ने अभयदान पाकर राजा से जब अपना सब वृत्तान्त कहा तब वह वारिषेण को घर ले जाने के लिए उद्यत हुआ। परन्तु वारिषेण ने कहा कि अब तो मैं पाणिपात्र में भोजन करूंगा अर्थात् दिगम्बर मुनि बनूंगा। तदनन्तर वह सूरसेन गुरु के समीप मुनि हो गया। एक समय वारिषेण मुनि राजगृह के समीपवर्ती पलाशकूट ग्राम में चर्या के लिए प्रविष्ट हुए। वहां राजा श्रेणिक के अग्निभूति मंत्री के पुत्र पुष्पडाल ने उन्हें पड़गाहा। चर्या कराने के बाद वह अपनी सोमिल्ला नामक स्त्री से पूछकर स्वामी का पुत्र तथा बाल्यकाल का मित्र होने के कारण कुछ दूर तक भेजने के लिए वारिषेण के साथ चला गया। अपने लौटने के अभिप्राय से वह क्षीरवृक्ष आदि को दिखाता तथा बार-बार मुनि को वन्दना करता था। परन्तु मुनि हाथ पकड़कर उसे साथ ले गये और धर्म का विशिष्ट उपदेश सुनाकर तथा वैराग्य उपजाकर उन्होंने उसे तप ग्रहण करा दिया। तप धारण करने पर भी वह सोमिल्ला स्त्री को नहीं भूलता था।

पुष्पडाल और वारिषेण दोनों ही मुनि बारह वर्ष तक तीर्थयात्रा कर भगवान् वर्धमान स्वामी के समवसरण में पहुंचे। वहां वर्धमान स्वामी और पृथ्वी से सम्बन्ध रखने वाला एक गीत देवों के द्वारा गाया जा रहा था। उसे पुष्पडाल ने सुना। गीत का भाव यह था कि जब पति प्रवास को जाता है तब स्त्री खिन्न चित्त होकर मैली-कुचैली रहती है। परन्तु जब वह घर छोड़कर ही चल देता है तब वह कैसे जीवित रह सकती है?

पुष्पडाल ने यह गीत अपने तथा सोमिल्ला के सम्बन्ध में लगा लिया इसलिए वह उत्कण्ठित होकर चलने लगा। वारिषेण मुनि यह जानकर उसका स्थितीकरण करने के लिए उसे अपने नगर ले गये। चेलिनी ने उन दोनों मुनियों को देखकर विचार किया

कि वारिषेण क्या चारित्र से विचलित होकर आ रहा है ? परीक्षा करने के लिये उसने दो आसन दिये—एक सराग और दूसरा वीतराग। वारिषेण ने वीतराग आसन पर बैठते हुए कहा कि हमारा अन्तःपुर बुलाया जावे। महारानी चेलिनी ने आभूषणों से सजी हुई उसकी बत्तीस स्त्रियाँ बुलाकर खड़ी कर दी। तदनन्तर वारिषेण ने पुष्पडाल से कहा कि 'ये स्त्रियां और मेरा युवराज पद तुम ग्रहण करो।' यह सुनकर पुष्पडाल अत्यन्त लज्जित होता हुआ उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त हुआ तथा परमार्थ से तप करने लगा।

वात्सल्ये विष्णुकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

अवन्तिदेशे उज्जयिन्यां श्रीवर्मा राजा, तस्य बलिर्बृहस्पतिः प्रह्लादो नमुचिश्चेति चत्वारो मंत्रिणः। तत्रैकदा समस्तश्रुताधारो दिव्यज्ञानी सप्तशत मुनिसमन्वितोऽकम्पनाचार्य आगत्योद्यानके स्थितः। समस्तसंघश्च वारितः राजादिकेऽप्यायते केनापि जल्पनं न कर्तव्यमन्यथा समस्तसंघस्य नाशो भविष्यतीति। राज्ञा च धवलगृहास्थितेन पूजाहस्तं नगरीजनं गच्छन्तं दृष्ट्वा मंत्रिणः पृष्टाः क्वायं लोकोऽकालयात्रायां गच्छतीति। तैरुक्तं क्षपणका बहवो बहिरुद्याने आयातास्तत्रायं जनो याति। वयमपि तान् द्रष्टुं गच्छाम इति भणित्वा राजापि तत्र मंत्रिसमन्वितो गतः। प्रत्येकं सर्वे वन्दिताः। न च केनापि आशीर्वादो दत्तः। दिव्यानुष्ठानेनाति निस्पृहास्तिष्ठन्तीति संचिन्त्य व्याघुटिते राज्ञि मंत्रिभिर्दुष्टाभिप्रायैरुपहासः कृतः। बलीवर्दा एते न किंचिदपि जानन्ति, मूर्खाःदम्भमौनेन स्थिताः। एवं ब्रुवाणैर्गच्छद्भिरग्रे चर्यां कृत्वा श्रुतसागरमुनिमागच्छन्तमालोक्योक्तं 'अयं तरुणबलीवर्दः पूर्णकुक्षिरागच्छति'। एतदाकर्ण्य तेन ते राजाग्रेऽनेकान्तवादेन जिताः। अकम्पनाचार्यस्य चागत्य वार्ता कथिता। तेनोक्तं सर्वसंघस्त्वया मारितः यदि वादस्थाने गत्वा रात्रौ त्वमेकाकी तिष्ठसि तदा संघस्य जीवितव्यं, तव शुद्धिश्च भवति। ततोऽसौ तत्र गत्वा कायोत्सर्गेण स्थितः। मंत्रिभिश्चातिलज्जितैः क्रुद्धैः रात्रौ संघं मारयितुं गच्छद्भिस्तमेकं मुनिमालोक्य येन परिभवः कृतः स एव हन्तव्य इति पर्यालोच्य तद्वधार्थं युगपच्चतुर्भिः खड्गा उद्गूर्णाः। कम्पित नगर देवतया तथैव ते कीलिताः। प्रभाते तथैव ते सर्वलोकैर्दृष्टाः। दृष्टेन राज्ञा क्रमागता इति न मारिता गर्दभारोहणादिकं कारयित्वा देशान्निर्घाटिता। अथ कुरुजांगलदेशे हस्तिनागपुरे राजा महापद्मो राज्ञी लक्ष्मीमती पुत्रौ पद्मो विष्णुश्च। स एकदा पद्माय राज्यं दत्वा महापद्मो विष्णुना सह श्रुतसागर चन्द्राचार्यस्य समीपे मुनिर्जातः। ते च बलिप्रभृतय आगत्य

पद्मराजस्य मंत्रिणो जाता: । कुम्भपुरदुर्गे च सिंहबलो राजा दुर्गबलात् पद्ममण्डलस्योपद्रवं करोति । तद्ग्रहणचिन्तया पद्मं दुर्बलमालोक्य बलिनोक्तं किं देव ! दौर्बल्ये कारणमिति । कथितं च राज्ञा । तच्छ्रुत्वा आदेशं याचयित्वा तत्र गत्वा बुद्धिमाहात्म्येन दुर्गं भंक्त्वा सिंहबलं गृहीत्वा व्याघुट्यागत: । तेन पद्मस्यासौ समर्पित: । देव ! सोऽयं सिंहबल इति । तुष्टेन तेनोक्तं वाञ्छितं वरं प्रार्थयेति । बलिनोक्तं यदा प्रार्थयिष्यामि तदा दीयतामिति । अथ कतिपयदिनेषु विहरंतस्तेऽकंपनाचार्यादय: सप्तशतयतयस्तत्रागता: । पुरक्षोभाद् बलिप्रभृतिभिस्तान् परिज्ञाय राजा एतद्भक्त इति पर्यालोच्य भयात्तन् मारणार्थं पद्म: पूर्ववरं प्रार्थित: सप्तदिनान्यस्माकं राज्यं देहीति । ततोऽसौ सप्तदिनानि राज्यं दत्वांऽत:पुरे प्रविश्य स्थित: । बलिना च आतापनगिरौ कायोत्सर्गेण स्थितान् मुनीन् वृत्यावेष्टय मण्डपं कृत्वा यज्ञ: कर्तुमारब्ध: । उच्छिष्टसरावच्छागादिजीवकलेवरैर्धूमैश्च मुनीनां मारणार्थमुपसर्ग: कृत: । मुनयश्च द्विविधसंन्यासेन स्थिता: । अथ मिथिलानगर्यामर्धरात्रे बहिर्विनिर्गतश्रुतसागरचन्द्राचार्येण आकाशे श्रवणनक्षत्रं कम्पमानमालोक्यावधिज्ञानेन ज्ञात्वा भणितं महामुनीनां महानुपसर्गो वर्तते । तच्छ्रुत्वा पुष्पधरनाम्ना विद्याधर क्षुल्लकेन पृष्टं भगवन् ! क्व केषां मुनीनां महानुपसर्गो वर्तते ? हस्तिनागपुरे अकंपनाचार्यादीनां सप्तशतयतीनां । उपसर्ग: कथं नश्यति ? धरणिभूषणगिरौ विष्णुकुमारमुनिर्विक्रियर्द्धिसम्पन्नस्तिष्ठति स नाशयति । एतदाकर्ण्य तत्समीपे गत्वा क्षुल्लकेन विष्णुकुमारस्य सर्वस्मिन् वृत्तान्ते कथिते । मम किं विक्रिया ऋद्धिरस्तीति संचिन्त्य तत्परीक्षार्थं हस्त: प्रसारित: । स गिरिं भित्वा दूरे गत: । ततस्तां निर्णीय तत्र गत्वा पद्मराजो भणित: । किं त्वया मुनिनामुपसर्ग: कारित: । भवत्कुले केनापीदृशं न कृतं । तेनोक्तं किं करोमि मया पूर्वमस्य वरो दत्त इति । ततो विष्णुकुमारमुनिना वामन ब्राह्मणरूपं धृत्वा दिव्यध्वनिना प्राध्ययनं कृतं । बलिनोक्तं किं तुभ्यं दीयते । तेनोक्तं भूमे: पादत्रयं देहि । ग्रहिलब्राह्मण बहुतरमन्यत् प्रार्थयेति वारं वारं लोकैर्भण्यमानोऽपि तावदेव याचते । ततो हस्तोदकादिविधिना भूमिपादत्रये दत्ते तेनैकपादो मेरौ दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरगिरौ तृतीयपादेन देवविमानादीनां क्षोभं कृत्वा बलिपृष्ठे तं पादं दत्वा बलिं बद्ध्वा मुनीनामुपसर्गो निवारित: । ततस्ते चत्वारोऽपि मंत्रिण: पद्मस्य भयादागत्य विष्णुकुमारमुनेरकम्पनाचार्यादीनां च पादेषु लग्ना: । ते मंत्रिण: श्रावकाश्च जाता इति ।।७।।

विष्णुकुमार मुनि की कथा

अवन्ति देश की उज्जयिनी नगरी में श्रीवर्मा राजा राज्य करता था। उसके बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि ये चार मन्त्री थे। यहाँ एक समय शास्त्रों के आधार, दिव्यज्ञानी तथा सातसौ मुनियों से सहित अकम्पनाचार्य आकर उद्यान में ठहर गये। अकम्पनाचार्य ने समस्त संघ को मना कर दिया था कि राजादिक के आने पर किसी के साथ वार्तालाप न किया जावे, अन्यथा समस्त संघ का नाश हो जावेगा।

राजा अपने धवलगृह में बैठा था। वहाँ से उसने पूजा की सामग्री हाथ में लेकर जाते हुए नागरिकों को देखकर मन्त्रियों से पूछा कि ये लोग कहाँ जा रहे हैं, यह यात्रा का समय तो है नहीं। मन्त्रियों ने कहा कि नगर के बाहर उद्यान में बहुत से नग्न साधु आये हैं, ये लोग वहीं जा रहे हैं। राजा ने कहा कि हम भी उन्हें देखने के लिए चलते हैं। ऐसा कहकर राजा मन्त्रियों सहित वहाँ गया। एक-एक कर समस्त मुनियों की वन्दना राजा ने की परन्तु किसी ने भी आशीर्वाद नहीं दिया। दिव्य अनुष्ठान के कारण ये साधु अत्यन्त निःस्पृह हैं ऐसा विचार कर जब राजा लौटा तो खोटा अभिप्राय रखने वाले मन्त्रियों ने यह कह कर उन मुनियों का उपहास किया कि ये बैल हैं, कुछ भी नहीं जानते हैं, मूर्ख हैं इसलिए छल से मौन लेकर बैठे हैं। ऐसा कहते हुए मन्त्री राजा के साथ जा रहे थे कि उन्होंने आगे चर्याकर आते हुए श्रुतसागर मुनि को देखा। देखकर कहा कि 'यह तरुण बैल पेट भर कर आ रहा है।' यह सुनकर उन मुनि ने राजा के मन्त्रियों से शास्त्रार्थ कर उन्हें हरा दिया। वापिस आकर मुनि ने ये सब समचार अकम्पनाचार्य से कहे। अकम्पनाचार्य ने कहा कि तुमने समस्त संघ को मरवा दिया। यदि शास्त्रार्थ के स्थान पर जाकर तुम रात्रि को अकेले खड़े रहते हो तो संघ जीवित रह सकता है और तुम्हारे अपराध की शुद्धि हो सकती है। तदनन्तर श्रुतसागर मुनि वहाँ जाकर कायोत्सर्ग से स्थित हो गये।

अत्यन्त लज्जित और क्रोध से भरे हुए मंत्री रात्रि में समस्त संघ को मारने के लिए जा रहे थे कि उन्होंने मार्ग में कायोत्सर्ग से खड़े हुए उन मुनि को देखकर विचार किया कि जिसने हम लोगों का पराभव किया है, वही मारने के योग्य है। ऐसा विचार कर चारों मन्त्रियों ने मुनि को मारने के लिए एक साथ खड्ग ऊपर उठाये, परन्तु जिसका आसन कम्पित हुआ था ऐसे नगर देवता ने आकर उन सबको उसी

अवस्था में कील दिया। प्रातःकाल सब लोगों ने उन मन्त्रियों को उसी प्रकार कीलित देखा। मन्त्रियों की इस कुचेष्टा से राजा बहुत क्रुद्ध हुआ, परन्तु 'ये मन्त्री वंशपरंपरा से चले आ रहे हैं' यह विचार कर उन्हें मारा तो नहीं सिर्फ गर्दभारोहण आदि कराकर निकाल दिया।

तदनन्तर, कुरुजांगलदेश के हस्तिनागपुर नगर में राजा महापद्म राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। उनके दो पुत्र थे—पद्म और विष्णु। एक समय राजा महापद्म पद्मनामक पुत्र को राज्य देकर विष्णु नामक पुत्र के साथ श्रुतसागरचन्द्र नामक आचार्य के पास मुनि हो गये। वे बलि आदिक आकर पद्मराजा के मन्त्री बन गये। उसी समय कुम्भपुर के दुर्ग में राजा सिंहबल रहता था। वह अपने दुर्ग के बल से राजा पद्म के देश में उपद्रव करता था। राजा पद्म उसे पकड़ने की चिन्ता में दुर्बल होता जाता था। उसे दुर्बल देख एक दिन बलि ने कहा कि देव ! दुर्बलता का क्या कारण है ? राजा ने उसे दुर्बलता का कारण बताया। उसे सुनकर तथा आज्ञा प्राप्त कर बलि वहाँ गया और अपनी बुद्धि के माहात्म्य से दुर्ग को तोड़कर तथा सिंहबल को लेकर वापस आ गया। उसने राजा पद्मको यह कहकर सिंहबल को सौंप दिया कि यह वही सिंहबल है। राजा पद्म ने सन्तुष्ट होकर कहा कि तुम अपना वाञ्छित वर मांगो। बलि ने कहा कि जब मांगूगा तब दिया जावे।

तदनन्तर कुछ दिनों में विहार करते हुए वे अकम्पनाचार्य आदि सातसौ मुनि उसी हस्तिनागपुर में आये। उनके आते ही नगर में हलचल मच गयी। बलि आदि मन्त्रियों ने उन्हें पहचान कर विचार किया कि राजा इनका भक्त है। इस भय से उन्होंने उन मुनियों को मारने के लिए राजा पद्म से अपना पहले का वर मांगा कि हम लोगों को सात दिन का राज्य दिया जावे। तदनन्तर राजा पद्म उन्हें सात दिन का राज्य देकर अन्तःपुर में चला गया। इधर बलि ने आतापनगिरि पर कायोत्सर्ग से खड़े हुए मुनियों को बाड़ी से वेष्टित कर मण्डप लगा यज्ञ करना शुरू किया। झूठे सकौरे, बकरा आदि जीवों के कलेवर तथा धूम आदि के द्वारा मुनियों को मारने के लिए बहुत भारी उपसर्ग किया। मुनि दोनों प्रकार का संन्यास लेकर स्थिर हो गये।

तदनन्तर मिथिला नगरी में आधी रात के समय बाहर निकले हुए श्रुतसागर-चन्द्र आचार्य ने आकाश में कांपते हुए श्रवण नक्षत्र को देखकर अवधिज्ञान से जानकर

कहा कि महामुनियों पर महान् उपसर्ग हो रहा है। यह सुनकर पुष्पधर नामक विद्याधर क्षुल्लक ने पूछा कि 'कहाँ किन पर महान् उपसर्ग हो रहा है ?' उन्होंने कहा कि हस्तिनागपुर में अकम्पनाचार्य आदि सातसौ मुनियों पर। उपसर्ग कैसे दूर हो सकता है ? ऐसा क्षुल्लक द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि 'धरणीभूषण पर्वत पर विक्रिया ऋद्धि के धारक विष्णुकुमार मुनि स्थित हैं। वे उपसर्ग को नष्ट कर सकते हैं।' यह सुन क्षुल्लक ने उनके पास जाकर सब समाचार कहे। 'मुझे विक्रिया ऋद्धि है क्या ?' ऐसा विचार कर विष्णुकुमार मुनि ने अपना हाथ पसारा तो वह पर्वत को भेद कर दूर तक चला गया। पश्चात् विक्रिया का निर्णय कर उन्होंने हस्तिनागपुर जाकर राजा पद्म से कहा कि तुमने मुनियों पर उपसर्ग क्यों कराया ? आपके कुल में ऐसा कार्य किसी ने नहीं किया। राजा पद्म ने कहा कि क्या करूँ मैंने पहले इसे वर दे दिया था।

अनन्तर विष्णुकुमार मुनि ने एक बौने ब्राह्मण का रूप बनाकर उत्तम शब्दों द्वारा वेद पाठ करना शुरू किया। बलि ने कहा कि तुम्हें क्या दिया जावे ? बौने ब्राह्मण ने कहा कि तीन डग भूमि दे दो। 'पगले ब्राह्मण ! देने को तो बहुत है और कुछ मांग' इस प्रकार बार-बार लोगों के कहे जाने पर भी वह तीन डग भूमि ही मांगता रहा। तत्पश्चात् हाथ में संकल्प का जल लेकर जब उसे विधिपूर्वक तीन डग भूमि दे दी गई तब उसने एक पैर तो मेरु पर रखा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रखा और तीसरे पैर के द्वारा देव विमानों में क्षोभ उत्पन्न कर उसे बलि की पीठ पर रखा तथा बलि को बांध कर मुनियों का उपसर्ग दूर किया। तदनन्तर वे चारों मन्त्री राजा पद्म के भय से आकर विष्णुकुमार मुनि तथा अकम्पनाचार्य आदि मुनियों के चरणों में संलग्न हुए—चरणों में गिरकर क्षमा मांगने लगे। वे मन्त्री श्रावक बन गये।

प्रभावनायां वज्रकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

हस्तिनागपुरे बलराजस्य पुरोहितो गरुडस्तत्पुत्रः सोमदत्तः तेन सकलशास्त्राणि पठित्वा अहिच्छत्रपुरे निजमामसुभूतिपार्श्वे गत्वा भणितं। माम ! मां दुर्मुखराजस्य दर्शयेत्। न च गर्वितेन तेनदर्शितः। ततो ग्रहिलो भूत्वा सभायां स्वयमेव तं दृष्ट्वा आशीर्वादं दत्वा सर्वशास्त्रकुशलत्वं प्रकाश्य मंत्रिपदं लब्धवान्। तं तथाभूतमालोक्य सुभूतिमामो यज्ञदत्तां पुत्रीं परिणेतुं दत्तवान्। एकदा तस्या गर्भिण्या वर्षाकाले आम्रफलभक्षणे दोहलको जातः। ततः सोमदत्तेन तान्युद्यानवने अन्वेषयता यत्राम्रवृक्षे

सुमित्राचार्यो योगं गृहीतवांस्तं नानाफलैः फलितं दृष्ट्वा तस्मात्तान्यादाय पुरुषहस्ते प्रेषितवान्। स्वयं च धर्मं श्रुत्वा निर्विण्णस्तपो गृहीत्वा आगममधीत्य परिणतो भूत्वा नाभिगिरौ आतपनेन स्थितः। यज्ञदत्ता च पुत्रं प्रसूता तं वृत्तान्तं श्रुत्वा बंधुसमीपगता। तस्य शुद्धिं ज्ञात्वा बन्धुभिः सह नाभिगिरिं गत्वा तमातपनस्थमालोक्यातिकोपात्तत्पादोपरि बालकं धृत्वा दुर्वचनानि दत्वा गृहं गता। अत्र प्रस्तावे दिवाकरदेवनामा विद्याधरोऽमरावतीपुर्याः पुरन्दरनाम्ना लघुभ्राता राज्यान्निर्घाटितः। सकलत्रो मुनिं वन्दितुमायातः। तं बालं गृहीत्वा निजभार्यायाः समर्प्य वज्रकुमार इति नाम कृत्वा गतः। स च वज्रकुमारः कनकनगरे विमलवाहननिजमैथुनिकसमीपे सर्वविद्यापारगो युवा च क्रमेण जातः। अथ गरुडवेगांगवत्योः पुत्री पवनवेगा हेमन्तपर्वते प्रज्ञप्तिं विद्यां महाश्रमेण साधयन्ती पवनाकम्पित बदरीवज्रकंटकेन लोचने विद्धा। ततस्तत्पीडया चलचित्ताया विद्या न सिद्ध्यति। ततो वज्रकुमारेण च तां तथादृष्ट्वा विज्ञानेन कण्टक उद्धृतः। ततः स्थिरचित्तायास्तस्या विद्या सिद्धा। उक्तं च तया भवत्प्रसादेन एषा विद्या सिद्धा, त्वमेव मे भर्त्तेत्युक्त्वा परिणीतः। वज्रकुमारेणोक्तं तात! अहं कस्य पुत्र इति सत्यं कथय, तस्मिन् कथिते मे भोजनादौ प्रवृत्तिरिति। ततस्तेन पूर्ववृत्तान्तः सर्वः सत्य एव कथितः। तमाकर्ण्य निजगुरुं द्रष्टुं बन्धुभिः सह मथुरायां क्षत्रियगुहायां गतः। तत्र च सोमदत्तगुरोर्दिवाकरदेवेन वन्दनां कृत्वा वृत्तान्तः कथितः। समस्त बन्धून महता कष्टेन विसृज्य वज्रकुमारो मुनिर्जातः। अत्रान्तरे मथुरायामन्या कथा—राजा पूतिगन्धो राज्ञी उर्विला। सा च सम्यग्दृष्टिरतीव जिनधर्मप्रभावनायां रता। नन्दीश्वराष्टदिनानि प्रतिवर्षं जिनेन्द्ररथयात्रां त्रीन् वारान् कारयति। तत्रैव नगर्यां श्रेष्ठी सागरदत्तः श्रेष्ठिनी समुद्रदत्ता पुत्री दरिद्रा! मृते सागरदत्ते दरिद्रा परगृहे निक्षिप्तसिक्थानि भक्षयन्ती चर्यां प्रविष्टेन मुनिद्वयेन दृष्टा ततो लघुमुनिनोक्तं 'हा! वराकी महता कष्टेन जीवतीति।' तदाकर्ण्य ज्येष्ठमुनिनोक्तं अत्रैवास्य राज्ञः पट्टराज्ञी वल्लभा भविष्यतीति। भिक्षां भ्रमता धर्म श्री बन्दकेन तद्वचनमाकर्ण्य नान्यथा मुनिभाषितमिति संचिन्त्य स्वविहारे तां नीत्वा मृष्टाहारैः पोषिता। एकदा यौवनभरे चैत्रमासे आन्दोलयन्तीं तां दृष्ट्वा राजा अतीव विरहावस्थांगतः। ततो मंत्रिभिस्तां तदर्थं बंदको याचितः। तेनोक्तं यदि मदीयं धर्मं राजा गृह्णाति तदा ददामीति। तत्सर्वं कृत्वा परिणीता। पट्टमहादेवी तस्य सातिवल्लभा जाता। फाल्गुननन्दीश्वर यात्रायामुर्विला रथयात्रा महारोपं दृष्ट्वा तया भणितं देव! मदीयो बुद्धरथोऽधुना पुर्यां प्रथमं भ्रमतु। राज्ञा चोक्तमेवं भवत्विति।

तत उर्विला वदति 'मदीयो रथो यदि प्रथमं भ्रमति तदाहारे मम प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्ति-रिति' प्रतिज्ञां गृहीत्वा क्षत्रियगुहायां सोमदत्ताचार्यं पार्श्वे गता । तस्मिन् प्रस्तावे वज्र-कुमारमुनेर्वन्दनाभक्त्यर्थमायाता दिवाकरदेवादयो विद्याधरास्तद्वृत्तान्तं च श्रुत्वा वज्रकुमार मुनिना ते भणिता: । उर्विलाया: प्रतिज्ञारूढाया रथयात्रा भवद्भि: कर्तव्येति । ततस्तैर्बुद्धदासी रथं भंक्त्वा नानाविभूत्या उर्विलाया रथयात्रा कारिता । तमतिशयं दृष्ट्वा प्रतिबुद्धा बुद्धदासी अन्ये च जना जिनधर्मरता जाता इति ।।२०।।

वज्रकुमार मुनि की कथा

हस्तिनापुर में बल नामक राजा रहता था । उसके पुरोहित का नाम गरुड़ था । गरुड़ के एक सोमदत्त नामका पुत्र था । उसने समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर अहिच्छत्रपुर में रहने वाले अपने मामा सुभूति के पास जाकर कहा कि मामाजी ! मुझे दुर्मुख राजा के दर्शन करा दो । परन्तु गर्व से भरे हुए सुभूति ने उसे राजा के दर्शन नहीं कराये । तदनन्तर हठधर्मी होकर वह स्वयं ही राजसभा में चला गया । वहाँ उसने राजा के दर्शन कर आशीर्वाद दिया और समस्त शास्त्रों की निपुणता को प्रकट कर मन्त्री पद प्राप्त कर लिया । उसे वैसा देख सुभूति मामा ने अपनी यज्ञदत्ता नामकी पुत्री विवाहने के लिये दे दी ।

एक समय वह यज्ञदत्ता जब गर्भिणी हुई तब उसे वर्षाकाल में आम्रफल खाने का दोहला हुआ । पश्चात् बाग-बगीचों में आम्रफलों को खोजते हुए सोमदत्त ने देखा कि जिस आम्रवृक्ष के नीचे सुमित्राचार्य ने योग ग्रहण किया है, वह वृक्ष नाना फलों से फला हुआ है । उसने उस वृक्ष से फल लेकर आदमी के हाथ घर भेज दिये और स्वयं धर्म श्रवण कर संसार से विरक्त हो गया तथा तप धारण कर आगम का अध्ययन करने लगा । जब वह अध्ययन कर परिपक्व हो गया तब नाभिगिरि पर्वत पर आतापन योग से स्थित हो गया ।

इधर यज्ञदत्ता ने पुत्र को जन्म दिया । पति के मुनि होने का समाचार सुन कर वह अपने भाई के पास चली गयी । पुत्र की शुद्धि को जानकर वह अपने भाइयों के साथ नाभिगिरि पर्वत पर गयी । वहां आतापन योग में स्थित सोमदत्त मुनि को देखकर अत्यधिक क्रोध के कारण उसने वह बालक उनके पैरों में रख दिया और गालियाँ देकर स्वयं घर चली गयी ।

उसी समय अमरावती नगरी का रहने वाला दिवाकर देव नामका विद्याधर जो कि अपने पुरन्दर नामक छोटे भाई के द्वारा राज्य से निकाल दिया गया था, अपनी स्त्री के साथ मुनिकी वन्दना करने के लिए आया था। उसने उस बालक को उठाकर अपनी स्त्री को सौंप दिया तथा उसका नाम वज्रकुमार रखकर चला गया। वह वज्रकुमार कनक नगर में विमल वाहन नामक अपने मामा के समीप समस्त विद्याओं में पारगामी होकर क्रम-क्रम से तरुण हो गया।

तत्पश्चात् गरुड़वेग और अंगवती की पुत्री पवनवेगा हेमन्त पर्वत पर बड़े श्रम से प्रज्ञप्ति नामकी विद्या सिद्ध कर रही थी। उसी समय वायु से कम्पित बेरी का एक पैना काँटा उसकी आंख में जा लगा। उसकी पीड़ा से चित्त चंचल हो जाने से उसे विद्या सिद्ध नहीं हो रही थी। अनन्तर वज्रकुमार ने उसे उस अवस्था में देख कुशलतापूर्वक वह काँटा निकाल दिया। काँटा निकल जाने से उसका चित्त स्थिर हो गया तथा विद्या सिद्ध हो गयी। विद्या सिद्ध होने पर उसने कहा कि आपके प्रसाद से यह विद्या सिद्ध हुई है इसलिए आप ही मेरे भर्त्ता हो। ऐसा कर उसने वज्रकुमार के साथ विवाह कर लिया।

एक दिन वज्रकुमार ने दिवाकर देव विद्याधर से कहा 'तात ! मैं किसका पुत्र हूं सत्य कहिये, उसके कहने पर ही मेरी भोजनादि में प्रवृत्ति होगी।' दिवाकर देव ने पहले का सब वृत्तान्त सच-सच कह दिया। उसे सुनकर वह अपने पिता के दर्शन करने के लिये भाइयों के साथ मथुरा नगरी की दक्षिण गुहा में गया। वहाँ दिवाकर देव ने वन्दना कर वज्रकुमार के पिता सोमदत्त को सब समाचार कह दिया। समस्त भाइयों को बड़े कष्ट से विदा कर वज्रकुमार मुनि हो गया।

इसी बीच में मथुरा में एक दूसरी कथा घटी। वहाँ पूतिगन्ध राजा राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम उर्विला था। उर्विला सम्यग्दृष्टि तथा जिनधर्म की प्रभावना में अत्यन्त लीन थी। वह प्रति वर्ष अष्टाह्निक पर्व में तीन बार जिनेन्द्र देव की रथयात्रा करती थी। उसी नगरी में एक सागरदत्त सेठ रहता था, उसकी सेठानी का नाम समुद्रदत्ता था। उन दोनों के एक दरिद्रा नामकी पुत्री हुई।

सागरदत्त के मर जाने पर एक दिन दरिद्रा दूसरे के घर में फेंके हुए भात के सीथ खा रही थी। उसी समय चर्या के लिए प्रविष्ट हुए दो मुनियों ने उसे वैसा

करते हुए देखा। तदनन्तर छोटे मुनि ने बड़े मुनि से कहा कि 'हाय बेचारी बड़े कष्ट से जीवन बिता रही है।' यह सुनकर बड़े मुनि ने कहा कि 'यह इसी नगरी में राजा की प्रिय पट्टरानी होगी।' भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए एक बौद्ध साधु ने मुनिराज के वचन सुनकर विचार किया कि मुनि का कथन अन्यथा नहीं होगा, इसलिए वह उसे अपने विहार में ले गया और वहाँ अच्छे आहार से उसका पालन-पोषण करने लगा।

एक दिन भरी जवानी में वह चैत्रमास के समय झूला झूल रही थी कि उसे देखकर राजा अत्यन्त विरहावस्था को प्राप्त हो गया। अनन्तर मंत्रियों ने उसके लिए बौद्ध साधु से याचना की। उसने कहा कि यदि राजा हमारे धर्म को ग्रहण करे तो मैं इसे दे दूंगा। राजा ने वह सब स्वीकृत कर उसके साथ विवाह कर लिया। और वह उसकी अत्यन्त प्रिय पट्टरानी बन गयी।

फाल्गुन मास की नन्दीश्वर यात्रा में उर्विला ने रथयात्रा की। उसे देख उस पट्टरानी ने राजा से कहा कि 'देव! मेरे बुद्ध भगवान का रथ इस समय नगर में पहले घूमे।' राजा ने कह दिया कि 'ऐसा ही होगा।' तदनन्तर उर्विला ने कहा कि 'यदि मेरा रथ पहले घूमता है तो मेरी आहार में प्रवृत्ति होगी, अन्यथा नहीं।' ऐसी प्रतिज्ञा कर वह क्षत्रिय गुहा में सोमदत्त आचार्य के पास गयी। उसी समय वज्रकुमार मुनि की वन्दना-भक्ति के लिये दिवाकर देव आदि विद्याधर आये थे। वज्रकुमार मुनि ने यह सब वृत्तान्त सुनकर उनसे कहा कि आप लोगों को प्रतिज्ञा पर आरूढ़ उर्विला की रथयात्रा कराना चाहिए। तदनन्तर उन्होंने बुद्धदासी का रथ तोड़ कर बड़ी विभूति के साथ उर्विला की रथयात्रा कराई। उस अतिशय को देखकर प्रतिबोध को प्राप्त हुई बुद्धदासी तथा अन्य लोग जैन धर्म में लीन हो गये ॥२०॥

ननु सम्यग्दर्शनस्याष्टभिरंगैः प्ररूपितैः किं प्रयोजनं ? तद्विकलस्याप्यस्य संसारोच्छेदनसामर्थ्यसम्भवादित्याशंक्याह—

नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनां ॥२१॥

'दर्शनं कर्तृ'। 'जन्मसन्ततिं' संसारप्रबन्धं। 'छेत्तुं' उच्छेदयितुं 'नालं' न समर्थं। कथंभूतं सत् 'अंगहीनं' अंगैर्निःशंकितत्वादिस्वरूपैर्हीनं विकलं। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—'न हि' इत्यादि। सर्पादिदष्टस्य प्रसृत सर्वांगविषवेदनस्य

तदपहरणार्थं प्रयुक्तो मंत्रोऽक्षरेणापि न्यूनो हीनो 'न ही' नैव 'निहन्ति' स्फोटयति विष वेदनां । ततः सम्यग्दर्शनस्य संसारोच्छेदसाधनेऽष्टांगोपेतत्वं युक्तमेव त्रिमूढापोढत्व वत् ।

अब कोई आशंका करता है कि सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के निरूपण करने का क्या प्रयोजन है क्योंकि अंगों से रहित भी सम्यग्दर्शन में संसार का उच्छेद करने की क्षमता हो सकती है । इस आशंका के उत्तर में आचार्य कहते हैं—

अंगहीनं—अंगों से हीन (दर्शनं) सम्यग्दर्शन (जन्मसन्ततिम्) संसार की सन्तति को (छेत्तुं) छेदने में (अलं न) समर्थ नहीं है । (हि) क्योंकि (अक्षरन्यूनः) एक अक्षर से भी हीन (मन्त्रः) मन्त्र (विषवेदनां) विष की पीड़ा को (न निहन्ति) नष्ट नहीं करता है ।

टीकार्थ—जिन निःशंकितादि अंगों का वर्णन ऊपर किया है उन अंगों से रहित विकलांग सम्यग्दर्शन संसार परम्परा का जन्म-मरण की सन्तति का नाश करने में समर्थ नहीं हो सकता । इसी अर्थ का समर्थन करते हुए मन्त्र का दृष्टान्त देते हैं—जिस प्रकार किसी मनुष्य को सर्प ने काट लिया और विष की वेदना सारे शरीर में व्याप्त हो गयी तो उस विष वेदना को दूर करने के लिए–विष उतारने के लिये मान्त्रिक मन्त्र का प्रयोग करता है । यदि उस मन्त्र में एक अक्षर भी कम हो जाय तो जिस प्रकार उस मन्त्र से विष की वेदना शमित–दूर नहीं हो सकती, उसी प्रकार संसार–परिपाटी का उच्छेद करने के लिये आठ अंगों से परिपूर्ण सम्यग्दर्शन ही समर्थ है, एक दो आदि अंगों से रहित विकलांग सम्यग्दर्शन नहीं ।

विशेषार्थ—जिस तरह शरीर के आठ अंग और उपांग होते हैं उनमें से किसी अंग से अथवा नेत्र, नासिका आदि उपांग से हीन व्यक्ति सज्जाति होकर भी जिनलिंग धारण करने–निर्वाण दीक्षा ग्रहण करने का अधिकारी नहीं है; उसी तरह सम्यग्दर्शन के आठ अंग होते हैं । ये अंग सम्यग्दर्शन के मूल हैं । फलतः आठों ही अंगों का वर्णन करने के पश्चात् उसके विशेषण का फल निर्देश करना भी उचित ही नहीं, आवश्यक भी है । किसी भी विशेषण का प्रयोग अन्य किसी भी विषय से व्यावृत्त करने के लिए हुआ करता है । यही बात अष्टांग विशेषण के लिए भी समझनी चाहिए । धर्म का फल कर्म–निवर्हण है अतएव उसके एक भागरूप सम्यग्दर्शन का फल भी कर्म–निवर्हण ही होना चाहिए । कर्मों का नाश हो जाने से जन्म सन्तति का नाश

भी हो जाता है। किन्तु जन्म सन्तति का उच्छेद जब तक नहीं हो सकता, तब तक सम्यग्दर्शन सांगोपांग नहीं है। यदि इन अंगों से परिपूर्ण नहीं है तो वह विकलांग कहलायेगा। विकलांग सम्यग्दर्शन अपूर्ण अस्थिर होने से उसका कार्य भी अपूर्ण रहेगा। इसलिए जब तक सम्यग्दर्शन में किसी भी अंश में मल दोष, चल-मलिन-अगाढ़ादि त्रुटि बनी हुई है अथवा अतिक्रम-व्यतिक्रमादि दोष होने से पूर्णतया स्थैर्य नहीं है, तब तक उसके होते हुए भी निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

यदि वास्तविक रूप से देखें तो सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा की पात्रता तो क्षपकश्रेणी में स्थित साधु में है, जो कि आठवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान में निष्पन्न होती है। 'अक्षरन्यून' शब्द उपलक्षण है अतएव अक्षर अधिक भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। आशय यह है कि जिस प्रकार न्यून अक्षर वाला मंत्र वास्तविक कार्य की सिद्धि नहीं कर सकता उसी प्रकार अधिक अक्षर वाला मन्त्र भी पूर्णतया कार्य सिद्धि में असमर्थ है। किन्तु ऐसा आशय भी ग्रहण नहीं करना कि उससे कुछ भी नहीं होता है। क्योंकि धरसेनाचार्य ने भूतबली पुष्पदन्त को परीक्षार्थ एक को न्यून अक्षर वाला और दूसरे को अधिक अक्षर वाला मन्त्र सिद्ध करने को दे दिया था। उससे विद्या देवता तो सामने उपस्थित हुई परन्तु वास्तविक रूप में न आकर विकृत रूप में आई थीं।

मिथ्यात्व के छूट जाने पर सम्यक्त्व के हो जाने पर भी विरतिपूर्वक अप्रमत्त होकर आत्मा को मलिन करने वाले अथवा स्वरूप में स्थिर नहीं रहने देने वाले कारणों से रहित करने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक रूप में शेष रह जाता है। जो इस बात पर वस्तुतः पूर्ण विश्वास नहीं रखता अथवा प्रमादी है वह भी तब तक सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता जब तक वह अपने सम्यग्दर्शन को सर्वांश में पूर्ण नहीं बना लेता।

कानि पुनस्तानि त्रीणि मूढानि यदमूढत्वं तस्य संसारोच्छेदसाधनं स्यादिति चेदुच्यते, लोकदेवतापाखंडिमूढभेदात् त्रीणि मूढानि भवन्ति। तत्र लोकमूढं तावद्दर्शयन्नाह—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥२२॥

'लोकमूढं' लोकमूढत्वं। किं ? 'आपगासागरस्नानं' आपगा नदी सागरः समुद्रः तत्र श्रेयः साधनाभिप्रायेण यत्स्नानं न पुनः शरीरप्रक्षालनाभिप्रायेण। तथा

'उच्चयः' स्तूपविधानं । केषां ? सिकताश्मनां सिकता वालुका, अश्मानः पाषाणास्तेषां । तथा 'गिरिपातो' भृगुपातादिः । 'अग्निपातश्च' अग्निप्रवेशः । एवमादि सर्वं लोकमूढं 'निगद्यते' प्रतिपाद्यते ॥२२॥

कैसा सम्यग्दर्शन संसार के उच्छेद का कारण होता है ? यह बतलाने के लिए कहा जाता है 'त्रिमूढापोढं' तीन प्रकार की मूढ़ताओं से रहित । उन मूढ़ताओं में प्रथम लोकमूढ़ता को कहते हैं—

(आपगा सागर स्नानं) धर्म समझकर नदी और समुद्र में स्नान करना, (सिकताश्मनां) बालू और पत्थरों का (उच्चयः) ढेर लगाना, (गिरिपातः) पर्वत से गिरना, (च) और (अग्निपातः) अग्नि में पड़ना (लोकमूढं) लोकमूढता (निगद्यते) कहलाती है ।

टीकार्थ—नदी, सागरादि में धर्मबुद्धि—कल्याण का साधन समझकर, स्नान करना लोकमूढ़ता कही गई है किन्तु शरीर प्रक्षालन के अभिप्राय से स्नान करना लोकमूढ़ता नहीं है । तथा बालू और पत्थरों के ऊंचे ढेर लगाकर स्तूप बनाना, पर्वतों से भृगुपात करना अर्थात् पर्वतों की चोटी से गिरकर आत्मघात करना, अग्नि में प्रविष्ट हो जाना । इत्यादि कार्यों के करने में धर्म मानना वह **लोकमूढ़ता** है ।

विशेषार्थ—लौकिक में लोगों से सुनकर या उनकी क्रियाओं को देखकर जो मान्यताएं बन जाती हैं वे सब धर्म नाम से कही जाती हैं । यह मान्यता दो भागों में विभक्त है । एक समीचीन दूसरी मिथ्या । जो युक्ति अनुभव तथा समीचीन तात्त्विक विचार से पूर्ण है एवं जिनका फल दुःखोच्छेद तथा परिपाक कल्याणरूप है वह समीचीन है । और इसके विपरीत जो युक्तिहीन अनुभव के विपरीत तथा अतात्त्विक विषय पर आश्रित है तथा जिसका ऐहिकफल दुःखरूप और पारलौकिक फल अवद्य एवं अहितरूप है वे सभी मान्यताएं मिथ्या हैं । आत्मा के ऐहिक एवं पारलौकिक किसी भी तरह के हिताहित की तरफ दृष्टि न देकर केवल 'भेड़ियाधसान' या 'गतानुगतिकता' से चाहे जैसे कार्यों में प्रवृत्ति करना भी मिथ्या मान्यताओं में ही अन्तर्भूत है । इसी को लोकमूढ़ता कहते हैं । यह जीव जब तक मिथ्या मान्यताओं पर विश्वास रखता है तब तक उसके सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता । जिनके ये अविवेकपूर्ण मान्यताएं निकल गई हैं वास्तव में उस विवेकशील के सम्यग्दर्शन का अस्तित्व माना जाता है ।

किन्तु अविचारीजनों की चाहे जैसी क्रियाओं को देखकर उन पर मोहित होना, उनके ही अनुरूप स्वयं भी बिना विचारे प्रवृत्ति करना उनको सर्वथा सत्य मानना जैसे—जलाशयों में स्नान करने से धर्म मानना, पर्वत से गिरना, वृक्ष से गिरना या अन्य किसी उच्च स्थान से गिरकर अपने को वायु द्वारा विलीन करना आदि। पीपल आदि में बैठकर आग लगा लेना अथवा मृतपति के साथ उसकी चिता में बैठकर जलकर मरना आदि, अग्नि द्वारा आत्मघात करना बालू चूना मिट्टी कंकड़ टील शिला आदि बड़े-बड़े पत्थरों का ढेर लगाना। इसी प्रकार और भी प्रचलित मान्यताएँ हैं 'काशीकरवट' पृथ्वी में भीतर बैठकर समाधिस्थ होना 'पीपल को यज्ञोपवीत पहनाना' किसी वृक्ष में कपड़ों की चिन्दियाँ बाँधना इत्यादि।

यद्यपि कुछ ऐसी भी लोक मूढताएँ हैं जिनके कदाग्रह का समर्थन किया जाता है परन्तु वास्तव में, वे सब लोकमूढताएँ ही हैं जिनकी प्रवृत्ति अज्ञान मूलक है। रावण त्रिखण्डाधिपति होने के सिवाय अत्यन्त सुन्दर था राक्षस नहीं था, हनुमान कामदेव अत्यन्त सुन्दर तद्भवमोक्षगामी थे बन्दर नहीं थे, पवनंजय महान विद्याधर थे न कि वायु, अंजना भी बानरी नहीं थी, सती साध्वी महिला थी इत्यादि। **रविषेणाचार्य** ने **पद्मपुराण** में इनका वास्तविक वंश एवं रूप बतलाया है। किन्तु अज्ञानी प्राणियों ने आज तक उनके विषय में विपरीत मान्यताएँ प्रचलित कर रखी हैं और उनके चित्र मूर्तियाँ भी उसी तरह की बनाते हैं।

पार्वती को हिमवान पर्वत पर राज्य करने वाले राजा की पुत्री न मानकर साक्षात् पर्वत-पहाड़ की पुत्री मानना; पार्वती के पुत्र गणेशजी की शरीर के मैल से उत्पत्ति मानना; सीता के पुत्र कुश को कुश नामक घास से उत्पन्न हुआ मानना, ईश्वर का मत्स्य, कच्छप, सूकर आदि योनियों में अवतार मानना आदि सब लोक-मूढ़ताएँ हैं। भारत वर्ष में आजकल हुंडावसर्पिणी काल के दोष से इसी प्रकार की हजारों मिथ्या मान्यताएँ प्रचलित हो गई हैं जो अविवेक पूर्ण हैं।

इस प्रकार मिथ्यात्व के उदय से देश-काल के भेद से लौकिक अज्ञानी जन परमार्थ रहित होकर अनेक प्रकार से इन प्रवृत्तियों को करके धर्मलाभ, धनलाभ, जनलाभादि विविध लाभों की कामना करते हैं, और समुद्र व गंगादि में स्नान कर अपने को पवित्र मानते हैं। किन्तु यह सप्तधातुमय शरीर स्नान से पवित्र नहीं हो सकता। शरीर के स्नान से आत्मा पवित्र कैसे हो सकती है क्योंकि जल आत्मा तक

नहीं पहुँच सकता, आत्मा अमूर्तिक है । स्नान तो मात्र लौकिक शुद्धि के लिए किया जाता है । यह धर्म नहीं हो सकता । मिथ्यात्व के प्रभाव से सब विपरीत अज्ञानी हो रहे हैं ।

लौकिक शुद्धि आठ प्रकार की है—कालशुद्धि, अग्निशुद्धि, मृत्तिकाशुद्धि, भस्मशुद्धि, गोमयशुद्धि, जलशुद्धि, पवनशुद्धि, ज्ञानशुद्धि । इनसे भी शरीर पवित्र नहीं हो सकता, किन्तु सत्पुरुषों के तो मिथ्यात्वमल का नाश करने वाला एक विवेक ही मुख्य स्नान है । अतः लोकमूढ़ता संसार-भ्रमण का कारण है ।।२२।।

देवतामूढं व्याख्यातुमाह—

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ।।२३।।

'देवतामूढं' 'तदुच्यते' । 'यदुपासीत' आराधयेत् । काः देवताः । कथंभूताः 'रागद्वेषमलीमसाः' रागद्वेषाभ्यां मलीमसाः मलिनाः । किंविशिष्टः ? 'आशावान्' ऐहिकफलाभिलाषी । कया ? 'वरोपलिप्सया' वरस्य वाञ्छितफलस्य, उपलिप्सया प्राप्तुमिच्छया । नन्वेवं श्रावकादीनां शासन देवता पूजा विधानादिकं सम्यग्दर्शनम्लानता-हेतुः प्राप्नोतीति चेत् एवमेतत् यदि वरोपलिप्सया कुर्यात् । यदा तु शासनसक्तदेवतात्वेन तासां तत्करोति तदा न तन्म्लानताहेतुः । तत् कुर्वतश्च दर्शनपक्ष-पाताद्वरमयाचितमपि ताः प्रयच्छन्त्येव । तदकरणे चेष्टदेवता विशेषात् फलप्राप्तिर्विघ्नतो झटिति न सिद्ध्यति । न हि चक्रवर्तिपरिवारापूजने सेवकानां चक्रवर्तिनः सकाशात् तथा फलप्राप्तिर्दृष्टा ।।२३।।

अब, देवमूढ़ता का व्याख्यान करने के लिए कहते हैं—

(वरोपलिप्सया) वरदान प्राप्त करने की इच्छा से (आशावान्) आशा से युक्त हो (राग-द्वेषमलीमसाः) राग-द्वेष से मलिन (देवताः) देवों की (यत्) जो (उपासीत) आराधना की जाती है तत् वह (देवतामूढं) देवमूढ़ता (उच्यते) कही जाती है ।

टीकार्थ—जो पुरुष इच्छित फल को प्राप्त करने की अभिलाषा से राग-द्वेष से मलिन देवों की उपासना करता है, उसकी इस उपासना को देवमूढ़ता कहते हैं । यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यदि ऐसा है तो श्रावक आदि का शासन देवों के पूजा

विधान आदि करना सम्यग्दर्शन की मलिनता को प्राप्त करने का कारण होता है। इसका उत्तर यह है कि यदि धन, पुत्रादि वाञ्छित फल प्राप्त करने की इच्छा से किया जाता है तो अवश्य ही सम्यग्दर्शन की मलिनता का कारण है। किन्तु यदि जैन शासन के संरक्षण एवं संवर्धन के निमित्त निरत उन देवों की उपासना की जाती है, अर्थात् उनका यथायोग्य आदर-सत्कार किया जाता है तब वह सम्यग्दर्शन की मलिनता का कारण नहीं होता। ऐसा करने वाले पुरुष को सम्यग्दर्शन का पक्ष होने के कारण, देवता बिना याचना किये भी वाञ्छित फल प्रदान कर देते हैं। यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो इष्टदेवता विशेष से वाञ्छित फल की प्राप्ति निर्विघ्नरूप से शीघ्र नहीं होती क्योंकि चक्रवर्ती के परिवार (परिकर) की पूजा के बिना सेवकों को चक्रवर्ती से फल की प्राप्ति नहीं देखी जाती है।

विशेषार्थ—मूढ़ता के सामान्यतया तीन ही प्रकार सर्वत्र बताये हैं यदि किसी विवक्षा से कोई अन्य भेद करे तो वे इन्हीं भेदों में गर्भित हो जाते हैं। इन तीन भेदों में से एक लोकमूढ़ता का वर्णन किया। अब देवमूढ़ता को बतलाते हुए कहते हैं कि यदि कोई किसी लौकिक प्रयोजन की सिद्धि करने की लालसा से या वर प्राप्त करने की अभिलाषा रखकर किसी भी राग-द्वेष से मलिन देवता की उपासना करता है तो वह सम्यग्दर्शन का देवमूढ़ता नामका दोष करता है, ऐसा आचार्यों ने कहा है।

इस विषय में कुछ लोगों की ऐकान्तिक धारणा का मूल कारण जैनागम में शासनदेवों की पूजा का विधान है। दिगम्बर जैनाचार्यों ने पूजा-विधान सम्बन्धी प्रायः सभी ग्रन्थों में शासनदेवों की भी पूजा का उल्लेख किया है। अभी तक किसी भी आचार्य ने इसका विरोध नहीं किया है। प्रत्युत् अब तक जो आम्नाय चली आ रही है, तथा पुरातत्त्व सम्बन्धी प्राचीन जो सामग्री उपलब्ध है, ये उसके अनुकूल प्रमाण हैं। वास्तुशास्त्र-मूर्ति निर्माण आदि की जो विधि पाई जाती है उससे भी यह विषय अच्छी तरह सिद्ध है। इस कारिका में चार बातों को बतलाया है—'आशावान्' कर्तृपद। 'रागद्वेषमलीमसाः देवताः' कर्मपद। 'वरोपलिप्सया' करणपद। 'उपासीत' क्रियापद। ये चार पद हैं जिनको समन्तभद्रस्वामी ने देवमूढ़ता का अभिप्राय व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया है अर्थात् अपने किसी भी लौकिक प्रयोजन को सिद्ध करने की लालसा रखने वाला व्यक्ति (आशावान्) यदि किसी भी रागद्वेष से मलिन देवता (रागद्वेष-

मलीमस:) की उससे पद प्राप्त करने की अभिलाषा (वरोपलिप्सया) रखकर (उपासीत) उपासना करता है तो वह सम्यग्दर्शन का दोषमूढ़ता नामका दोष है ।

यह बात सर्वथा सत्य है कि इन चार में से कोई भी कारण यदि पाया जाय तो अवश्य सम्यग्दर्शन मलिन होगा ।

आचार्य सोमदेव सूरि ने उपासकाध्ययन में बतलाया है कि पूजन के समय शासनदेवों को यज्ञांश देना चाहिए । किन्तु अरिहन्त भगवान की समान कोटि में उन्हें मान्यता देना अपने आपको गिराना है ।

कहा भी है—

देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्चदेवताः ।
समं पूजाविधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदधः ।।
ताः शासनाधि रक्षार्थं कल्पिताः परमागमे ।
अतो यज्ञांशदानेन माननीयाः सुदृष्टि भिः ।। (यशस्तिलक ८/२९७)

अर्थात् शासनदेव जैनशासन के रक्षणकार्य में नियोगी हैं अतएव उनको पूजन में उचित अंश देना चाहिए । किन्तु उनको अरिहन्त भगवान के समान समझना एवं समान सम्मान देना अपने को बहुत नीचे गिराना है, क्योंकि कहां तो त्रिलोकाधिपति वीतराग प्रभु जो मोक्षमार्ग के प्रणेता हैं, जिनके सदुपदेश से असंख्य प्राणी सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके मोक्षमार्गी बनते हैं और कहाँ व्यन्तरादिक देव जो उनके शासन में रक्षणीय स्थानों पर अपने-अपने कार्य में नियुक्त हैं । इनको उन-उन के योग्य स्थान देकर एवं सामग्री देकर सम्मान करना चाहिए । यदि यह सम्मान किसी आशा, हानि-लाभ, जीवन-मरणादि लौकिक प्रयोजनवश किया जाता है तब वह अवश्य अतिचार है । क्योंकि वर की प्रार्थना में अपने को नीचा और जिससे प्रार्थना की जा रही है उसे ऊँचा मानने का भाव स्वाभाविकरूप से आ जाता है । ग्रन्थकर्ता ने 'वरोपलिप्सा' को देवमूढ़ता का कारण ही बताया है । यदि यही उपासना शासनदेवों के बजाय मिथ्यादृष्टि देवों की की जाती है तो बहुत बड़ा दोष एवं सम्यग्दर्शन के भंगरूप अनाचार भी हो जाता है ।

प्रश्न—हम तो यह समझते हैं कि वीतराग अरिहन्तदेव को छोड़कर किसी भी देव की उपासना मिथ्या है ?

उत्तर—निश्चयदृष्टि से तो अपनी आत्मा ही आराध्य है, तो क्या अरिहन्तदेव की पूजा-आराधना करना मिथ्यात्व माना जायेगा ? नहीं। क्योंकि जो बात जिस अपेक्षा से कही है उसको उस अपेक्षा से मानने में कोई हानि नहीं है, अपितु गुण है और इसी से इस लोक तथा परलोक का व्यवहार अविरोधरूप से सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार शासनदेवों की जो पूजा बतलाई है वह नियोगदान है। नियोगदान मिथ्यात्व का कारण नहीं है। बड़े-बड़े राजा-महाराजा चक्रवर्ती भी अपने-अपने नियोगियों का यथावसर उनके योग्य वस्तु आदि देकर सम्मान करते हैं। उसी प्रकार त्रिलोकीनाथ अरिहन्तदेव के शासन में अधिरक्षक पद पर नियुक्त इन देवों को भी भगवान के अभिषेक-पूजन के पूर्व आह्वानादि कर योग्य दिशाओं में विठाकर उनके योग्य ही सामग्री देकर उनका उचित सम्मान करना चाहिए। ऐसा करना अनुचित नहीं अपितु भगवान के प्रभाव को व्यक्त करना है।

देवसेन आचार्य ने प्राकृत भावसंग्रह में कहा है—

आवाहिऊण देवे सुखई सिहि-काल-णेरिए-वरुणे।
पवणे जखे ससूली सपिय सवासणे ससत्थं य ॥४३९॥
दाऊण पुज्ज दव्वं बलि चरुयं तहय जण्णभायं च।
सव्वेसिं मंतेहि य बीयक्खर णामजुत्तेहि ॥४४०॥

अर्थात्-इंद्र-अग्नि-यम-नैऋत-वरुण-पवन यक्ष और ईशान इन आठ दिक्पालों को अपने-अपने आयुध-वाहन-युवतिजन सहित बीजाक्षर नाम सहित मंत्रों के द्वारा आह्वान करके पूजा-द्रव्य, वलिचरु तथा यज्ञभाग प्रदान करे।

एवं **पूज्यपाद स्वामी** ने भी **महाभिषेक पाठ** में कहा है—

पूर्वाशादेश-हव्यासन-महिषगते-नैऋते-पाशपाणे,
वायो-यक्षेन्द्र-चन्द्राभरण-फणिपते-रौहिणी जीवितेश।
सर्वेऽप्यायात यानायुधयुवति जनैः सार्धमों भूर्भुवः स्वः,
स्वाहा गृह्णीत चार्घ्यं चरुममृतमिदं स्वास्तिकं यज्ञभागम् ॥११॥

इसका अभिप्राय भी वही है। इसमें भी यान् आयुध, युवतिसहित इंद्रादिक दश दिक्पालों का मंत्र पूर्वक आह्वान किया गया है और उनसे अर्घ्य, चरु अमृत,

स्वस्तिक एवं यज्ञभाग ग्रहण करने के लिए कहा गया है। इसी प्रकार और भी अनेक आचार्यों के प्रमाण हैं जिनमें अभिषेक-पूजन के पूर्व शासनदेवों का यथाविधि अर्घ्यादिक देकर सम्मान करने के लिए कहा गया है। इस प्रकार आगम से सुसिद्ध विषय को आगम के विरुद्ध कहना उचित नहीं है।

दोष का कारणभूत आशय भेद जिन प्रकारों से सम्भव हैं वे चार प्रकार ही श्री समन्तभद्र स्वामी ने आशा, रागद्वेषमलीमसत्व, वरोपलिप्सा और उपासना शब्दों के द्वारा व्यक्त कर दिये हैं। व्रतों की तरह सम्यग्दर्शन के भी चार दोष—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार होते हैं, जिसका मतलब यह है कि जब तक सम्यग्दर्शन इन दोषों से रहित नहीं हो जाता तब तक वह मोक्षमार्ग के सम्पादन में वस्तुतः असमर्थ है। इस कथन का यह भी अभिप्राय नहीं है कि अतिक्रमादि दोषों के लगने पर सम्यग्दर्शन समूल नष्ट हो जाता है। प्रायः सभी विद्याधर जो कि मातृपक्ष की एवं पितृपक्ष की अनेक विद्याओं को सिद्ध करते थे और उन-उन विद्याओं की अधिष्ठात्री देवियों और देवों की आशा और परोपलिप्सा से प्रेरित होकर ही उपासनादि किया करते थे, उन सबको मिथ्यादृष्टि नहीं कह सकते, हाँ, उनका सम्यग्दर्शन समल माना जा सकता है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि सम्यग्दर्शन में सम्यक्त्व प्रकृति के उदय के निमित्त से भी दोष लगते हैं और सम्यक्त्व प्रकृति के असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं। इसका यह अभिप्राय भी नहीं है कि केवल क्षयोपशम सम्यक्त्वी ही इस प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। क्षायिक सम्यक्त्वी चक्रवर्ती भरत ने भी दिग्विजय के समय मार्ग प्राप्ति हेतु डाभ के आसन पर बैठकर और तीन दिन का तेला स्थापित कर अनुष्ठान किया था। (देखिए महापुराण)

सारांशतः, भव्य जीवों को आत्मसिद्धि प्राप्त करने के लिए मूलभूत सम्यग्दर्शन की विशुद्धि सिद्ध करनी चाहिए और उसके लिए अन्य दोषों की भाँति देवमूढ़ता नामक दोष भी छोड़ना चाहिए ॥२३॥

इदानीं सद्दर्शनस्वरूपे पाषण्डिमूढस्वरूपं दर्शयन्नाह—

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्त्तवर्तिनाम् ।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥२४॥

'पाषण्डिमोहनं'। 'ज्ञेयं' ज्ञातव्यं। कोऽसौ ? 'पुरस्कार:' प्रशंसा। केषां ? 'पाषण्डिनां' मिथ्यादृष्टिलिंगिनां। किंविशिष्टानां ? 'सग्रन्थारम्भ हिंसानां' ग्रंथाश्च दासीदासादय:, आरम्भाश्च कृष्यादय: हिंसाश्च अनेकविधा: प्राणिवधा: सह ताभिर्वर्तन्त इत्येवं ये तेषां। तथा 'संसारावर्तवर्तिनां' संसारे आवर्तो भ्रमणं येभ्यो विवाहादिकर्मभ्य-स्तेषु वर्तने इत्येवं शीलास्तेषां। एतैस्त्रिभिर्मूढैरपोढत्वसम्पन्नं सम्यग्दर्शनं संसारोच्छित्तिकारणं अस्मयत्वसम्पन्नवत् ॥२४॥

अब सम्यग्दर्शन के स्वरूप में पाखण्डिमूढ़ता का स्वरूप दिखाते हुए कहते हैं—

(सग्रन्थारम्भ हिंसानां) परिग्रह, आरम्भ और हिंसा से सहित तथा (संसारावर्तवर्तिनाम्) संसारभ्रमण के कारणभूत कार्यों में लीन (पाषण्डिनां) अन्य कुलिंगियों को (पुरस्कार:) अग्रसर करना, (पाषण्डिमोहनं) पाषण्डिमूढ़ता-गुरुमूढ़ता (ज्ञेयं) जाननी चाहिए।

टीकार्थ—जो दासी-दास आदि परिग्रह, खेती आदि आरम्भ और अनेक प्रकार की प्राणिवधरूप हिंसा से सहित हैं तथा जो संसार-भ्रमण कराने वाले विवाह आदि कार्यों में संलग्न हैं, ऐसे साधुओं की प्रशंसा करना, उन्हें धार्मिक कार्यों में अग्रसर करना पाखण्डमूढ़ता जाननी चाहिए। पाखण्डी का अर्थ मिथ्यावेषधारी गुरु होता है। मूढ़ता-अविवेक को कहते हैं। इस प्रकार गुरु के विषय में जो अविवेक है वह पाखण्ड मूढ़ता है। उपर्युक्त तीन मूढ़ताओं से रहित सम्यग्दर्शन ही संसार के उच्छेद का कारण है। जैसा कि आठ मदों से रहित सम्यग्दर्शन संसार के नाश का कारण है।

विशेषार्थ—प्रकृत कारिका में पाखण्डियों अर्थात् कुगुरुओं से बचकर चलने का उपदेश है। 'पान्ति रक्षन्ति पापात्-संसारात् इति पा: आगमवाक्यानि तानि खण्डयति इति पाखण्डी' अर्थात् जो मोक्षमार्ग या आत्मकल्याण के उपदेश का खण्डन करने वाले अथवा उसके विरुद्ध चलने वाले हों, उनको पाखण्डी कहते हैं। ऐसे पाखण्डियों को सन्मान प्रशंसा स्तुति आदि के द्वारा बढ़ावा देना, उनको नेतृत्व देना आदि पुरस्कार कहलाता है। इस प्रकार कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव यदि पाखण्डियों का पुरस्कार करता है तो वह अपने सम्यग्दर्शन को मूढ़ता की तरफ ले जाता है। पाखंडी का लक्षण ऊपर बताया जा चुका है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि नीची क्रिया ऊँचा

वेष, मिथ्या आचरण, मोक्षमार्ग के नाम पर स्वेच्छाचार, सावद्यक्रिया करना, खान-पान के विवेक से रहित, विवाह आदि कार्यों में अनुराग रखना, मिथ्योपदेश पंचाग्नितप तपना, जटाजूट धारण, यज्ञहोमादि कर्म, पशु पालन, चेला-चेली से संतानोत्पादन, रक्षण, अस्त्र-शस्त्र धारण करना, ये सब सावद्य और हिंसा से सम्बन्धित हैं इन कार्यों को करते हुए भी जो अपने को साधु सन्यासी प्रकट करता है, ऐसे स्वैराचार प्रवृत्ति रखने वाले कुगुरु कहलाते हैं। क्योंकि ये आगम की आज्ञा के विरुद्ध हैं। और अन्य भोले प्राणी उनसे ठगे जाते हैं। वे अपने सावद्यकर्मों के द्वारा स्वयं को तो संसार में डुबोते ही हैं और साथ-साथ अपने अनुयायी को भी संसार समुद्र में डुबो देते हैं, इसलिए सम्यग्दृष्टियों को चाहिए कि ऐसे खोटे साधुओं का सत्कारादि करके अपने सम्यग्दर्शन को मलिन न करें ।।२४।।

कः पुनरयं स्मयः कतिप्रकारश्चेत्याह—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ।।२५।।

'आहु' ब्रुवन्ति । कं ? 'स्मयं' । के ते ? 'गतस्मयाः' नष्टमदाः जिनाः । किं तत् ? 'मानित्वं' गर्वितत्वं । किं कृत्वा ? अष्टावाश्रित्य । तथा हि । ज्ञानमाश्रित्य ज्ञानमदो भवति एवं पूजां कुलं जातिं बलं ऋद्धिमैश्वर्यं तपो वपुः शरीरसौन्दर्यमाश्रित्य पूजादिमदो भवति । ननु शिल्पमदस्य नवमस्य प्रसक्तेरष्टाविति संख्यानुपपन्ना इत्यप्य-युक्तं तस्य ज्ञाने एवान्तर्भावात् ।।२५।।

अब, स्मय–गर्व क्या है और वह कितने प्रकार का है ? यह कहते हैं—

(ज्ञानं) ज्ञान (पूजां) पूजा (कुलं) कुल (जातिं) जाति (बलं) बल (ऋद्धिं) ऋद्धि (तपः) तप और (वपुः) शरीर इन (अष्टौ) आठ का (आश्रित्य) आश्रय लेकर (मानत्वं) गर्वित होने को (गतस्मयाः) गर्व से रहित गणधरादिक (स्मयं) गर्व-मद (आहुः) कहते हैं ।

टीकार्थ—जिनका मद नष्ट हो गया है ऐसे जिनेन्द्रदेव ज्ञानादिक आठ वस्तुओं के आश्रय से जो गर्व उत्पन्न होता है उसे मद कहते हैं। अपने क्षायोपशमिक-ज्ञान का घमण्ड करना ज्ञानमद कहलाता है। अपनी पूजा-प्रतिष्ठा-सम्मान आदि का

गर्व करना पूजामद है। पिता के वंश को कुल कहते हैं। इसका अहंकार करना कुल मद है। माता के वंश को जाति कहते हैं जाति का गर्व करना जातिमद है। शारीरिक शक्ति का गर्व करना बलमद है। बुद्धि या धन-वैभव का गर्व करना ऋद्धिमद है। अनशनादि तपों का अहंकार करना तपमद है। स्वस्थ-सुन्दर शरीर को पाकर उसका घमण्ड करना शरीरमद है।

यहाँ कोई शंका करता है कि—कला-कौशल का भी तो मद होता है इसलिए नौ मद हो गये अत: आपके द्वारा बतायी गयी मदों की आठ संख्या सिद्ध नहीं होती ? इसके उत्तर में टीकाकार का कहना है कि शिल्प का मद ज्ञानमद में ही गर्भित हो जाता है। इसलिये नौवाँ मद मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन की पूर्ण विशुद्धता में बाधक आठ मद हैं। अपने आपको बड़ा एवं श्रेष्ठ समझना और दूसरों को हीन एवं तुच्छ मानना स्मय–मद कहलाता है। प्राय: संसारी जीव बहिर्दृष्टि हैं, उनका स्वभाव नेत्र के समान है। जिस प्रकार नेत्र अपने से भिन्न अन्य पदार्थों को देखते हैं, अपने आपको नहीं देखते, न अपने को देख ही सकते हैं; इसी प्रकार संसारी प्राणी अपने को नहीं देखकर पर पदार्थों को ही देखते हैं। मोह के कारण उनका देखना भी अन्यथा हुआ करता है। संसारी जीव संसार के पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना किया करता है। यदि भाग्यवश अनुकूलता से इष्ट विषय का लाभ हो जाता है तो अपना उत्कर्षण समझता है और अपने बल, बुद्धि और पौरुष पर हर्षित होता है कि मैंने अपने पुरुषार्थ और चातुर्य से अपने इष्ट कार्य की सिद्धि करली और यदि अनिष्ट की प्राप्ति हो जाती है तो दूसरों के प्रति द्वेष करता है कि अमुक व्यक्ति ने मेरा काम तमाम कर दिया, इसके कारण ही मेरे ऊपर इस प्रकार का संकट उपस्थित हो गया है इत्यादि। किन्तु अपने इष्ट और अनिष्ट में अन्तरंग बलवान कारण भाग्य-कर्मोदय को माना गया है। संसार में ज्ञानादिक आठ वस्तुओं के सम्बन्ध से अज्ञ प्राणी अहंकार करता है। वास्तव में, ये ज्ञानादिक स्वयं मदरूप नहीं हैं, किन्तु अहंकार के कारण हैं। कोई भी सम्यग्दृष्टि यदि अपने अन्य साधर्मियों के साथ इन आठों में से किसी भी विषय को लेकर उनके तिरस्कार के भाव रखता है तो उसके सम्यग्दर्शन में जो स्मय-मद नामका दोष है, वह उत्पन्न होता है और सम्यग्दर्शन की विशुद्धता नष्ट होती है। कदाचित् सम्यग्दर्शन के नष्ट होने की सम्भावना भी उपस्थित हो जाती है, क्योंकि इस प्रकार गर्वयुक्त परिणामों

से नीच गोत्र का बन्ध होता है इसलिये सम्यग्दर्शन को सांगोपांग और निर्दोष रखने के लिए इन अहंकारादि भावों का त्याग करना चाहिए।

ये ज्ञानादिक अभिमान के विषय अवश्य कहे गये हैं किन्तु हेय नहीं हैं, इनका मद करना हेय है। ज्ञानादिक तो प्रयोजनभूत हैं क्योंकि कोई भी सम्यग्दृष्टि जिनदीक्षा लेने के लिए उत्सुक होता है, उसके ये आठ ही विषय किसी-न-किसी रूप में आवश्यक हो जाते हैं। दीक्षा ग्रहण करने वाले शिष्य के विषय में दीक्षा देने के पहले देखते हैं कि इसका कुल, जाति ज्ञानादिक कैसे हैं क्योंकि जो धैर्यशील, विचारशील, शान्त, बुद्धिमान, कुल, गोत्र की शुद्धि आदि से युक्त है वही दीक्षा लेने का पात्र होता है। निन्द्य कुलोत्पन्न हीनांग, विकलांग, विरूप, दीक्षा के अयोग्य माना गया है। इसलिये ये सब गुण होने पर उनका घमण्ड नहीं करके प्राप्त साधनों का लाभ उठाना चाहिए और अपने से अधिक गुणवानों की ओर दृष्टि रहनी चाहिए ॥२५॥

अनेनाष्टविधमदेन चेष्टमानस्य दोषं दर्शयन्नाह—

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं, न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥२६॥

'स्मयेन' उक्तप्रकारेण। 'गर्विताशयो' दर्पितचित्तः। 'यो' जीवः। 'धर्मस्थान' रत्नत्रयोपेतानन्यान्। 'अत्येति' अवधीरयति अवज्ञयातिक्रामतीत्यर्थः। 'सोऽत्येति' अवधीरयति। कं ? 'धर्मं' रत्नत्रयं। कथंभूतं ? 'आत्मीयं' जिनपतिप्रणीतं। यतो धर्मो 'धार्मिकैः' रत्नत्रयानुष्ठायिभिर्विना न विद्यते ॥२६॥

आठ प्रकार के मद से प्रवृत्ति करने वाले पुरुष के क्या दोष उत्पन्न होता है? यह दिखलाते हुए कहते हैं—

(स्मयेन) उपर्युक्त मद से (गर्विताशयः) गर्वितचित्त होता हुआ (यः) जो पुरुष (धर्मस्थान्) रत्नत्रयरूप धर्म में स्थित (अन्यान्) अन्य जीवों को (अत्येति) तिरस्कृत करता है (सः) वह (आत्मीयं) अपने (धर्मं) धर्म को (अत्येति) तिरस्कृत करता है क्योंकि (धार्मिकैर्विना) धर्मात्माओं के बिना (धर्मः) धर्म (न) नहीं होता।

टीकार्थ—जिन आठ मदों का पहले वर्णन किया गया है, उनके विषय में अहंकार को करता हुआ जो पुरुष रत्नत्रयरूप धर्म में स्थित अन्य धर्मात्माओं का

तिरस्कार करता है, अवज्ञा के द्वारा उनका उल्लंघन करता है, वह जिनेन्द्रप्रणीत अपने ही रत्नत्रय धर्म का तिरस्कार करता है क्योंकि रत्नत्रय का परिपालन करने वाले धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं रह सकता ।

विशेषार्थ—संसार में धन, ऐश्वर्य, आज्ञा आदि का बड़ा घमण्ड हुआ करता है । अभिमान के वशीभूत हुआ व्यक्ति गर्विष्ट होकर देव, गुरु, धर्म की भी विनयादि नहीं करता है तथा इनको अपने आश्रित समझने लगता है । वह समझता है कि देव-स्थान आदि का कार्य हमारे ही तो आश्रित है । यदि हम धनादि खर्च नहीं करेंगे तो धर्म और धर्मात्माओं का मार्ग नहीं चल सकता । इस प्रकार अभिमान के वशीभूत होकर वह जो भी तन-मन-धन खर्च करता है, उसमें अपने आपको धन्य एवं सर्व श्रेष्ठ मानता है । इतना ही नहीं स्वयं को धर्म का ठेकेदार मानने लगता है । इस प्रकार समस्त धर्म और समस्त गुणों को धन के आश्रित मानकर धर्मात्माओं की अवज्ञा करता है । किन्तु जिन्होंने इंद्र, चक्री आदि की सम्पदा को भी कष्टप्रद जानकर त्याग कर दिया, ऐसे आत्मज्ञानी, धनवानों का समागम स्वप्न में भी नहीं चाहते ।

जिसके हृदय में धर्म है, वही धर्मी कहलाता है । अमुक व्यक्ति धर्मी है या नहीं है ? यह तो उस धर्म के अनुकूल व्यवहार अथवा प्रवृत्तियों को देखकर ही जाना जा सकता है । धर्म के विरुद्ध प्रवृत्ति होने पर उसको देखकर ज्ञात हो सकता है कि इसके अन्तरंग में धर्म नहीं है । यह बात सुनिश्चित है कि धर्म की विरोधी कषाय के उदय में आकर व्यक्ति जो भी काम करता है, उसकी उस अवस्था में धर्म रह नहीं सकता । जो व्यक्ति ज्ञानादिक के अभिमान से धर्म में स्थित व्यक्ति का अपमान करता है, वह उसको वस्तुतः कोई हानि नहीं पहुंचाकर अपने धर्म की हानि अवश्य कर लेता है । यह सभी समझते हैं कि हाथ में अंगारा लेकर दूसरे को जलाने के लिए उस पर फेंकने की चेष्टा करने वाला व्यक्ति सबसे पहले अपना हाथ अवश्य जला लेता है, दूसरे का जले या नहीं जले, यह कोई गारंटी नहीं क्योंकि वह तो उसके भाग्य पर निर्भर है ।

इसी प्रकार हृदय में अपमान की भावना उत्पन्न होते ही अपना धर्म तो नष्ट हो ही जाता है । जब तक धर्मात्मा व्यक्तियों के प्रति धर्म के अनुकूल यथायोग्य आदर-सत्कार विनय वात्सल्यादिरूप चेष्टा करने का भाव बना हुआ है, तभी तक व्यक्ति धर्मी है क्योंकि उसके हृदय में धर्म स्थित है ।

आचार्यों ने बतलाया है कि तपस्वियों एवं गुरुओं के प्रति अपनी कायिक और वाचिक चेष्टाएं केवल विनय एवं निरभिमानता को ही प्रकट करने वाली न हों अपितु उनके हृदय में किसी भी प्रकार से कष्मलता पैदा न होने पावे।

अपना कर्त्तव्य तो हित चाहने का होना चाहिए तथा मर्यादा का उल्लंघन न होने पावे, ऐसी प्रवृत्ति बनाये रखना ही कर्त्तव्यनिष्ठा है। जिस प्रकार राजा-महाराजाओं के समक्ष स्वाभाविकरूप से विनय भंग नहीं करते उसी तरह गुरुजनों के प्रति भी अपनी प्राकृतिक विनयशीलता का भंग नहीं करना चाहिए। जो व्यवहार असभ्यता और औद्धत्य को प्रकट करने वाला होता है, लोक में उसे अनुचित ही नहीं अपितु निन्दनीय अपराध माना जाता है तब त्रिलोक पूज्य जिनमुद्राधारक साधु परमेष्ठी के प्रति किया गया औद्धत्यपूर्ण व्यवहार अपराध क्यों नहीं माना जायेगा? अवश्य ही माना जायेगा। और उस अपराध की सजा प्रकृति उसको स्वयं देती है। तिरस्कार की भावना से जो अनुचित व्यवहार है, वह अपराध है। यों तो आचार्यश्री भी अपने शिष्य वर्ग को अपने अनुशासन में रखते हैं उन्हें प्रसंगानुसार प्रायश्चित्त भी देते हैं, कटु वचन भी कहते हैं, संघ से बहिष्कृत भी करते हैं; इस प्रकार का व्यवहार करते हुए भी आचार्य रंचमात्र भी अपने सम्यग्दर्शन को मलिन नहीं करते हैं क्योंकि उनका उद्देश्य शिष्यों का अपमान करने का नहीं है अपितु उनके हित करने के अभिप्राय से वे उन्हें प्रायश्चित्तादि देते हैं।

इस तरह विचार करने पर ज्ञात होता है कि सम्यग्दर्शन का जो स्मय नामक दोष बतलाया है, वह केवल क्रिया को देखकर ही नहीं माना जा सकता, वह मूल उद्देश्य पर ही अधिक रूप से निर्भर है ॥२६॥

ननु कुलैश्वर्यादिसम्पन्नैः स्मयः कथं निषेद्धुं शक्यइत्याह—

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥२७॥

'पापं ज्ञानावरणाद्यशुभं कर्म निरुद्धयते येनासौ' 'पापनिरोधो' रत्नत्रयसद्भावः स यद्यस्ति तदा 'अन्यसम्पदा' अन्यस्य कुलैश्वर्यादिः सम्पदा सम्पत्त्या किं प्रयोजनं? न किमपि प्रयोजनं तन्निरोधेऽतोऽप्यधिकाया विशिष्टतरायास्तत्सम्पदः सद्भावमवबुद्धय-

मानस्य तन्निबन्धनस्मयस्यानुत्पत्तेः। 'अथ पापास्रवोऽस्ति' पापस्याशुभकर्मणः आस्रवो मिथ्यात्वाविरत्यादिरस्ति तथाप्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनं। अग्रे दुर्गतिगमनादिकं अवबुद्धचमानस्य तत्सम्पदा प्रयोजनाभावतस्तत्स्मयस्य कर्तुमनुचितत्वात् ॥२७॥

कुल, ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न मनुष्यों के द्वारा मद का निषेध किस प्रकार किया जा सकता है ? यह कहते हैं—

(यदि) यदि (पापनिरोधः) पापको रोकने वाला रत्नत्रय धर्म (अस्ति) है (तर्हि) तो (अन्यसम्पदा) अन्य सम्पत्ति से (किं प्रयोजनम्) क्या प्रयोजन है (अथ) यदि (पापास्रव) पापका आस्रव (अस्ति) है (तर्हि) तो (अन्य सम्पदा) अन्य सम्पत्ति से (किं प्रयोजनम्) क्या प्रयोजन है ?

टीकार्थ—प्रश्न यह है कि कुल-ऐश्वर्य आदि सम्पत्ति से सहित मनुष्य मद को कैसे रोके ? उत्तर स्वरूप बतलाया है कि विवेकीजनों को ऐसा विचार करना चाहिए कि यदि मेरे ज्ञानावरणादि अशुभ कर्मों के आस्रव को रोकने वाले रत्नत्रय धर्म का सद्भाव है तो मुझे कुल-ऐश्वर्य आदि अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन है। क्योंकि उससे भी श्रेष्ठतम सम्पत्तिरूप रत्नत्रयधर्म मेरे पास विद्यमान है। इस प्रकार का विवेक होने से उन कुल ऐश्वर्यादि के निमित्त से अहंकार नहीं होता। इसके विपरीत यदि ज्ञानावरणादि अशुभकर्मरूप पाप का आस्रव हो रहा है—मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रवभाव विद्यमान हैं तो अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि उस पापास्रव से दुर्गति गमन आदि फल की प्राप्ति नियम से होगी, ऐसा विचार करने से कुल ऐश्वर्य आदि का गर्व दूर हो जाता है।

विशेषार्थ—इस जीव के सम्यग्दर्शन संयमादिक के द्वारा पापमिथ्यात्व असंयमादिक का निरोध हो जाने से तो संसार में बड़े से बड़ा, उत्तम से उत्तम ऐसा कोई वैभव नहीं, जो प्राप्त न हो सके, अर्थात् उसे तो स्वयं ही स्वर्गलोकादिक की महान्‌विभूति, बिना पुरुषार्थ के प्राप्त हो जाती है। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव पंचेन्द्रिय की विषयरूप इस भौतिक सामग्री को पराधीन, दुःख की देने वाली, बन्ध का कारण समझकर उसमें लिप्त नहीं होता, इस सम्पदा को वेदना का प्रतिकार मात्र मानकर उदासीनभाव से कड़वी औषधि के समान ग्रहण करता है। लौकिक सम्पदा को आत्महित में बाधक ही मानता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव निःकाङ्क्ष होने के कारण

सांसारिक वैभव की इच्छा से पुण्य सम्पादन करने के लिए तपश्चरणादि नहीं करता, वह तो आत्मसिद्धि के कारणभूत संवर निर्जरा के लिए तप में प्रवृत्ति करता है। हाँ इतना अवश्य है कि उसकी परिणाम विशुद्धि के कारण स्वयं ही विशिष्ट पुण्य का अर्जन हुआ करता है। और उसे असाधारण फल का लाभ भी मिलता रहता है। जब कि पापास्रव को करने वाले मिथ्यादृष्टि जीव के उस प्रकार की विशुद्धि न होने से उस प्रकार का पुण्य और उसका फल भी प्राप्त नहीं होता। अतएव यह स्पष्ट है कि पाप-निरोधी जीव जहाँ अपनी अन्तरंग विभूति से स्वयं महान् है और स्वयं प्राप्त होने वाली बाह्य विभूतियों की भी आकांक्षा न होने से उसे आवश्यकता नहीं है वहाँ पापास्रवी जीव अन्तरंग में भी दरिद्री है और बाहर में कदाचित् पापोदय की मन्दता या पुण्योदय के कारण कदाचित् बाह्य वैभव प्राप्त हो भी गया तब भी वह आत्मश्रद्धान से शून्य होने के कारण उपयोगी नहीं है। यह दुःखमय संसार पंचपरावर्तनरूप है, पंचपरावर्तन को करने वाला पापास्रव से युक्त मिथ्यादृष्टि जीव ही है। मिथ्यात्व का निरोध हो जाने पर सम्यग्दृष्टि जीव को पाँचों परावर्तनों में से सबसे छोटा जो पुद्गलपरावर्तन है, वह भी अर्धभाग से अधिक नहीं भोगना पड़ता, जबकि मिथ्यात्व का निरोध नहीं होने से पापास्रव से युक्त जीव त्रस राशि में भी दो हजार सागरोपम से अधिक नहीं रह सकता, इसके बाद उसे नियम से निगोद राशि में जाना ही पड़ता है।

सम्यग्दर्शन के प्रकट होने के पूर्व भव्य और अभव्य दोनों के ही चार लब्धियों में से पहली क्षयोपशमलब्धि और दूसरी विशुद्धिलब्धि के परिणामस्वरूप जो पापकर्मों का ह्रास और पुण्यकर्मों में वृद्धि हुआ करती है वह भी इतना महत्त्वपूर्ण कार्य है कि अन्य साधारण निरतिशय मिथ्यादृष्टियों को प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु सम्यक्त्व के हो जाने पर पापों के शिरोमणि मिथ्यात्व का सर्वथा निरोध होते ही ४१ पाप प्रकृतियों का संवर होने से निर्जरा के प्रथम स्थान का लाभ होता है। उस सम्पत्ति की तुलना तो संसार की किसी भी विभूति से नहीं की जा सकती। किन्तु जो व्यक्ति बाह्य वैभव के अभिमानवश इस महान् सम्पत्ति की तरफ दुर्लक्ष्य करके धर्म और धर्मात्माओं का तिरस्कार एवं अवहेलना करता है, वह नियम से अपनी ही हानि करता है।

संसारी जीवों के अनादिकाल से अष्टकर्मों का बन्धन है। उनमें मोहनीय का भेद जो दर्शनमोहनीय है उसके तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति।

तथा चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इस प्रकार ये सात प्रकृतियाँ सम्यक्त्व का घात करने वाली हैं। इन सातों प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है। इन सातों के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। किन्तु अनादि मिथ्यादृष्टि के सर्व प्रथम उपशम सम्यक्त्व ही होता है।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति चारों गतियों के जीवों के होती है। चाहे वह अनादि मिथ्यादृष्टि हो या सादि मिथ्यादृष्टि हो परन्तु वह भव्य, संज्ञी, पर्याप्त और ज्ञानोपयोग से युक्त, जाग्रत होना चाहिए। यह सम्यग्दर्शन पांचवीं करणलब्धि के अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूप में प्रकट होता है।

लब्धियाँ पाँच हैं—क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि। इनमें से प्रारम्भ की चार लब्धियाँ तो भव्य और अभव्य दोनों के ही होती हैं किंतु करणलब्धि तो जिसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न होना है, उसी के होती है।

क्षयोपशमलब्धि—अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग प्रति समय अनन्तगुणा घटता हुआ उदय में आना।

विशुद्धिलब्धि—शुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत शुभ परिणामों की वृद्धि होना और संक्लेश परिणामों की हानि होना विशुद्धिलब्धि है।

देशनालब्धि—छह द्रव्य और नौ पदार्थ के उपदेश देने वाले आचार्यादि का लाभ, उनका उपदेश सुनना, उस मार्ग को अपनाना।

प्रायोग्यलब्धि—आयुकर्म के बिना सातकर्मों की स्थिति अन्तः कोड़ा कोड़ी सागर मात्र रहना, यहाँ पर घातिया कर्मों का अनुभाग लता, दारु रूप रहता है, अस्थि शैल रूप नहीं। तथा अघातिया कर्मों का अनुभाग निम्ब-कांजीररूप रहता है। विष हालाहलरूप नहीं। प्रायोग्यलब्धि में ही चौंतीस बन्धापसरण होते हैं, जिनका विशेष वर्णन लब्धिसार ग्रन्थ में देखा जा सकता है।

करणलब्धि—यह लब्धि भव्य के ही होती है, अभव्य के नहीं। करणलब्धि के तीन भेद हैं–अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। यहाँ पर 'करण' नाम कषायों की मन्दता से होने वाले आत्मपरिणामों का नाम है।

अधःकरण—इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। यहाँ पर नाना जीवों की अपेक्षा विशुद्ध परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इस करण में स्थित ऊपर के समयवर्ती जीवों के परिणाम नीचे के समयवर्ती जीवों के परिणामों से मिलते हैं, इसलिए इसका नाम अधःकरण है।

अपूर्वकरण—इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त है। यहां पर अधःकरण से भी असंख्यात लोक गुणे विशुद्ध परिणाम पाये जाते हैं। यहां समान समयवर्ती के परिणाम सदृश और विसदृश दोनों ही प्रकार के होते हैं, तथा भिन्न समयवर्ती के परिणाम भिन्न ही होते हैं। यहां पर चार आवश्यक कार्य होते हैं–गुणश्रेणी निर्जरा, गुण संक्रमण, स्थितिखण्डन और अनुभागखण्डन।

अनिवृत्तिकरण—इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। यहाँ जितने समय हैं उतने ही परिणाम हैं। प्रति समय एक-एक ही परिणाम होता है। करणपरिणाम के द्वारा ही अनादिमिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्वकर्म के तीन खण्ड हो जाते हैं–मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। इस प्रकार सम्यक्त्व उत्पन्न होने पर सत्यार्थ श्रद्धान उत्पन्न हो जाता है, सम्यग्दृष्टि किसी भी प्रलोभन में नहीं पड़ता है ॥२७॥

अमुमेवार्थं प्रदर्शयन्नाह—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नामपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥२८॥

'देवं' आराध्यं। 'विदु' र्मन्यन्ते। के ते? 'देवा' 'देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सयामणो' इत्यभिधानात्। कमपि? 'मातंगदेहजमपि' चाण्डालमपि। कथंभूतं? 'सम्यग्दर्शनसम्पन्नं' सम्यग्दर्शनेन सम्पन्नं युक्तं। अतएव 'भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं' भस्मना गूढः प्रच्छादितः स चासावङ्गारश्च तस्य अन्तरं मध्यं तत्रैव ओजः प्रकाशो निर्मलता यस्य ।२८॥

आगे यही भाव दर्शाते हुए कहते हैं—

(देवाः) गणधरादिक देव, (मातङ्गदेहजमपि) चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए भी (सम्यग्दर्शनसम्पन्नं) सम्यग्दर्शन से युक्त जीव को (भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्) भस्म

से आच्छादित अंगारे के भीतरी भाग के समान तेज से युक्त (देवं) आदरणीय (विदुः) जानते हैं।

टीकार्थ— चाण्डाल कुल में उत्पन्न होने पर भी यदि कोई पुरुष सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है तो वह आदर सत्कार के योग्य है, ऐसा गणधरादिक देव कहते हैं क्योंकि 'देवा वि तस्स पणमन्ति जस्स धम्मे सयामणो' जिसका मन सदा धर्म में लगा रहता है उसे देव भी नमस्कार करते हैं ऐसा कहा गया है। अतएव ऐसे व्यक्ति का तेज भस्म से प्रच्छादित अंगारे के भीतरी तेज के समान निर्मलता से युक्त है।

विशेषार्थ— इस कारिका में इस बात का ध्यान रखना है कि आचार्य श्री ने जो दृष्टान्त गर्भित उक्ति का प्रयोग किया है उसका प्रयोजन स्मय के विषयभूत पूज्यता, सज्जातित्व, कुलीनता को व्यर्थ दिखलाना अथवा मोक्ष की साधनभूत जो सज्जातित्वादि सामग्री है उसका निराकरण करना नहीं है अपितु प्रकृत कारिका का प्रयोजन तो प्रधानभूत अन्तरंग सम्यग्दर्शन गुण की महत्ता बतलाना है तथा यह भी बतलाना है कि आत्मसिद्धि के लिए अरहन्तदेव ने मुमुक्षुओं के लिए इस आध्यात्मिक सम्पत्ति को प्रधान माना है।

जीव का व्यवहार दो प्रकार का देखा जाता है। एक आध्यात्मिक दूसरा आधिभौतिक। आत्मा के गुणों की ओर दृष्टिपात करके जब विचार और व्यवहार किया जाता है तब आध्यात्मिक व्यवहार कहा जाता है, और जब जीव से सम्बद्ध या असम्बद्ध अन्य पदार्थों की ओर मुख्य दृष्टि रखकर विचार किया जाता है, तब वह व्यवहार आधिभौतिक व्यवहार कहा जाता है।

यहाँ पर शुद्ध निश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय, अनुपचरितसद्भुत व्यवहारनय, अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय, उपचरितसद्भूतव्यवहारनय, उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय इन छह नयों के द्वारा होने वाला व्यवहार भी आगमानुकूल घटित करना चाहिए। क्योंकि आचार्य देव शरीराश्रित व्यवहार की अपेक्षा आत्माश्रित शुद्धसम्यग्दर्शन गुण की ही मुख्य रूप से महत्ता बतला रहे हैं। किन्तु अन्य नयाश्रित व्यवहार का निषेध भी नहीं कर रहे हैं। क्योंकि साधना में शरीराश्रित व्यवहार भी मान्य एवं प्रयोजनभूत है। किन्तु अन्त में वह भी हेय होने के कारण गौण और उपेक्षणीय माना गया है। और आत्माश्रित विषय मुख्य होने के कारण प्रधान और महान् कहा गया है। अतएव उसी की महत्ता का दिग्दर्शन करा रहे हैं। एवं मातंग शरीर से उत्पन्न होने

के कारण लोक में जातिहीन माना जाता है किन्तु उसका आत्मा सम्यग्दर्शन के अन्तस्तेज से प्रकाशमान होने से देवोपम कहा गया है। तथा उसको भस्म से छिपे हुए अंगारे के सदृश बतलाया है। जिस प्रकार भस्म से ढके अंगारे में अन्दर प्रकाश जाज्वल्यमान रहता है उसी प्रकार मातंग पुत्र भी शरीर की अपेक्षा हीन है परन्तु अन्तरंग में सम्यग्दर्शन के तेज से युक्त है। इस प्रकार शरीर तो महामलिन मल मूत्रादि से भरा हुआ है, शरीर के नवद्वारों से निरन्तर दुर्गन्ध युक्त मल झरता रहता है, ऐसा अपवित्र मलिन भी साधुओं का शरीर रत्नत्रय के प्रभाव से इन्द्रादिक देवों के द्वारा वन्दन स्तवन योग्य हो जाता है अतः गुणों को नमस्कार है, बिना गुणों के यह मलिन शरीर पूज्य नहीं बन सकता।

जिस प्रकार अग्नि के तीन कार्य हैं—दाह, पाक और प्रकाश, उसी प्रकार आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण में भी तीनों प्रकार का सामर्थ्य है—दाह, पाक और प्रकाश। आत्मविरोधी कर्मरूपी ईंधन को दाह-जलाता है। संसार स्थिति को पकाता है और ज्ञानादिक गुणों को प्रकाशित करता है। किन्तु तात्कालिक योग्यता सभी सम्यग्दर्शनों में नहीं पायी जाती। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के पश्चात् अपने स्वामी को कम से कम अन्तर्मुहूर्त में अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण काल में सिद्धि को प्राप्त करा देता है। सम्यग्दर्शन धर्म है, क्योंकि धर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि धर्म वह है जो जीव को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख-मोक्ष में पहुँचा दे। संसार और मोक्ष दोनों ही विरोधी तत्त्व हैं और उनके साधन भी परस्पर विरुद्ध हैं। जो मोक्ष का साधन है, वह संसार का साधन नहीं हो सकता तथा जो संसार का साधन है वह मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन का कार्य पुण्य कर्मों में अतिशय प्राप्त करा देने का है। इतना ही नहीं किन्तु अनेक पुण्यकर्म तो ऐसे हैं जो सम्यग्दर्शन के बिना हो ही नहीं सकते, जैसे—तीर्थंकर, आहारकद्विक, नवग्रैवेयक के ऊपर के देवों का पद आदि ॥२८॥

एकस्य धर्मस्य विविधं फलं प्रकाश्येदानीमुभयोर्धर्माधर्मयोर्यथाक्रमं फलं दर्शयन्नाह—

श्वापि देवोऽपि देवःश्वा जायते धर्मकिल्बिषात् ।
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥२९॥

'श्वापि' कुक्कुरोऽपि 'देवो' जायते । 'देवोऽपि' देव: 'श्वा' जायते । कस्मात् ? 'धर्मकिल्विषात्' धर्ममाहात्म्यात् खलु श्वापि देवो भवति । किल्विषात् पापोदयात् पुनर्देवोऽपि श्वा भवति यत एवं, तत: 'कापि' वाचामगोचरा । 'नाम' स्फुटं । 'अन्या' अपूर्वाऽद्वितीया । 'सम्पद्' विभूतिविशेषो । 'भवेत्' । कस्मात् ? धर्मात् । केषां ? शरीरिणां संसारिणां यत एवं ततो धर्म एव प्रेक्षावतानुष्ठातव्य: ॥२९॥

अभी तक एक धर्म के ही विविध फलों को प्रकाशित किया, अब यहाँ धर्म और अधर्म दोनों का फल एक ही श्लोक में यथाक्रम से दिखलाते हुए कहते हैं—

(धर्मकिल्विषात्) धर्म और पाप से क्रमश: (श्वापि देव:) कुत्ता भी देव और (देवोऽपिश्वा) देव भी कुत्ता (जायते) हो जाता है । यथार्थ में (धर्मात्) धर्म से (शरीरिणाम्) प्राणियों की (कापिनाम अन्या) कोई अनिर्वचनीय (सम्पत्) सम्पत्ति (भवेत्) होती है ।

टीकार्थ—सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म के माहात्म्य से कुत्ता भी देवपर्याय को प्राप्त कर लेता है और मिथ्यात्वादि अधर्म-पाप के उदय से देव भी कुत्ता हो जाता है । इस तरह धर्म का अद्वितीय माहात्म्य है कि जिससे संसारी प्राणियों को ऐसी सम्पदा की प्राप्ति होती है जो वचनों के द्वारा कही नहीं जा सकती, इसलिये प्रेक्षावानों को धर्म का ही अनुष्ठान करना चाहिए ।

विशेषार्थ—प्रकृत कारिका में धर्म शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है किन्तु दोनों का अर्थ सम्यग्दर्शन नहीं घटित हो सकता, पहले धर्म का अर्थ तो पुण्य अथवा शुभोपयोग है और दूसरे धर्म का अर्थ सम्यग्दर्शन है । क्योंकि कुत्ते की पर्याय से देव पर्याय प्राप्त हो जाना वास्तव में सम्यग्दर्शन का कार्य नहीं है । उसका कार्य तो ऐसा विलक्षण है जिसका कि उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । यद्यपि तीर्थंकरादि कुछ पुण्य प्रकृतियों का बन्ध सम्यग्दर्शन से युक्त जीव के ही हुआ करता है, किन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि उनके बन्ध का कारण सम्यग्दर्शन है । वास्तव में, सम्यक्त्व सहित जीव के कषाययुक्त होते हुए भी एक विशिष्ट प्रकार का शुभ भाव पाया जाता है वही उनके बन्ध का कारण हुआ करता है, न कि सम्यक्त्व । सम्यग्दर्शन तो मोक्ष का कारण माना गया है, बन्ध का कारण नहीं, वह संवर-निर्जरा का कारण है ।

किल्विष पाप को कहते हैं, जब तक मिथ्यात्वभाव बना हुआ है तब तक पुण्य-पाप की श्रृंखला भी बनी रहती है कभी पुण्य की, तो कभी पाप की प्रधानता हुआ करती है जब कभी पुण्य का निमित्त मिल जाता है तो देवादिक अवस्थायें प्राप्त हो जाती हैं। पाप का निमित्त मिल जाता है तो तिर्यंचादि अनिष्ट योनियाँ प्राप्त हो जाती हैं किन्तु संसार परम्परा का विच्छेद नहीं होता। वह तो मिथ्यात्व के छूटने पर ही हो सकता है अतएव जब तक मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता तब तक अनेक प्रकार से संचय किया हुआ पुण्य भी वास्तव में अपना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। वह तो केवल 'चार दिन की चांदनी फेर अंधेरी रात' के समान ही है। इस प्रकार सम्यग्-दर्शन के अभाव में होने वाले पुण्य-पाप दोनों ही संसार में परिभ्रमण कराते रहते हैं, सम्यग्दर्शन के सद्भाव में जो सातिशय पुण्य अर्जन होता है वह मोक्ष मार्ग में सहायक बनता है। श्रेयोमार्ग में काम करने वाले सभी गुण धर्मों को सम्यग्दर्शन की अपेक्षा है, अपेक्षा ही नहीं अनिवार्यता भी है। क्योंकि इसके बिना कोई गुण धर्म इस जीव को संसार-समुद्र से पार नहीं कर सकता है। कुत्ता एक निकृष्ट प्राणी है और देव उत्कृष्ट है, अपि शब्द से धर्म और पाप के फल में क्या अन्तर है इस बात को बतलाते हुए कहा है कि कुत्ता जैसा निकृष्ट प्राणी भी धर्म के प्रभाव से देव की उत्कृष्ट पर्याय को प्राप्त कर लेता है। और देव पाप के निमित्त से कुत्ते की नीच योनि में उत्पन्न हो जाता है। भवनत्रिक तथा दूसरे स्वर्ग तक के देव तो एकेन्द्रियों में आकर उत्पन्न हो जाते हैं और अनन्तकाल तक स्थावर जीवों की योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं। तथा बारहवें स्वर्ग तक के देव पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में आकर पैदा हो जाते हैं।

इस प्रकार जब तक अन्तरंग में मिथ्यात्व का उदयरूप प्रधान कारण विद्यमान है तब तक जीव नाना प्रकार से पाप-प्रवृत्ति करता हुआ संसार से पार नहीं हो सकता है। इस प्रकार धर्म की महिमा जान कर उसे प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए और अधर्म से जो कटु फल मिलता है, उसे जानकर उसका त्याग करना चाहिए ॥२९॥

तथानुतिष्ठता दर्शनम्लानता मूलतोऽपि न कर्त्तव्येत्याह—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥३०॥

'शुद्धदृष्टयो' निर्मलसम्यक्त्वाः न कुर्युः। कं? 'प्रणामं' उत्तमांगेनोपनतिं। 'विनयं चैव' कर मुकुल प्रशंसादिलक्षणं। केषां? कुदेवागमलिंगिनां। कस्मादपि?

'भयाशास्नेहलोभाच्च' भयं राजादि जनितं, आशा च भाविनोऽर्थस्य प्राप्त्याकांक्षा, स्नेहश्च मित्रानुरागः, लोभश्च वर्तमानकालेऽर्थप्राप्तिगृद्धिः भयाशास्नेहलोभं तस्मादपि । च शब्दोऽप्यर्थः ।। ३० ।।

सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले जीव को प्रारम्भ से ही उसमें मलिनता नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं—

(शुद्धदृष्टयः) निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव (भयाशास्नेहलोभात् च) भय, आशा स्नेह और लोभ से भी (कुदेवागमलिंगिनाम्) मिथ्यादेव, मिथ्याशास्त्र और कुगुरु को (प्रणामं) नमस्कार (च) और (विनयं) विनय भी (न कुर्युः) न करें।

टीकार्थ—राजा आदि से उत्पन्न होने वाले आतंक को **भय** कहते हैं। भविष्य में धनादिक-प्राप्ति की वांछा **आशा** कहलाती है। मित्र के अनुराग को **स्नेह** कहते हैं। वर्तमानकाल में धन प्राप्ति की जो गृद्धता-आसक्ति होती है उसे **लोभ** कहते हैं। जिसका सम्यक्त्व निर्मल है ऐसा शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव इन चारों कारणों से अर्थात्–भय, आशा, स्नेह, लोभ के वश से कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु को न तो प्रणाम करे–मस्तक झुकाकर नमस्कार करे और न उनकी विनय करे–हाथ जोड़े तथा न प्रशंसा आदि के वचन कहे।

विशेषार्थ—शुद्ध सम्यग्दर्शन का वर्णन करते हुए आचार्यश्री ने सबसे प्रथम आठ अंगों का वर्णन किया है, उसमें निःशंकितादि चार निषेधरूप अंगों के द्वारा अतिचार रहितपना आवश्यक है, इस बात को बतलाया है। तथा उपगूहनादि चार विधिरूप अंगों का वर्णन करके इस बात को बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि की अन्तरंग और बहिरंग प्रवृत्ति किस प्रकार की होती है और होनी चाहिए। तथा उसका इस प्रकार का व्यवहार देखकर उसके अविनाभावी सम्यग्दर्शन के अस्तित्व का अनुमान भी किया जा सकता है।

सम्यग्दृष्टि के इस लोक भय, परलोक भय आदि सप्त भय नहीं होते हैं, आगे के लिए किसी विषय को प्राप्त करने की आकांक्षा करना आशा है, स्नेह का सम्बन्ध रागकषाय से है, किसी वस्तु के प्राप्त करने की उत्कट भावना लोभ है। सम्यग्दृष्टि भय, आशा, स्नेह और लोभ के वश से कुदेव कुशास्त्र और कुगुरु पाखण्डी को न तो प्रणाम करे और न इनकी विनय करे। सम्यग्दर्शन को समल बनाने वाली उपर्युक्त चार प्रवृत्तियाँ हैं जो तीव्र कषाय के परिणाम स्वरूप होती हैं। इनमें से किसी भी कारणवश कुदेवादि को प्रणामादि करने पर सम्यग्दर्शन मलिन होता है।

अठारह दोषों से रहित वीतराग सर्वज्ञदेव के अतिरिक्त सब कुदेव हैं और हिंसा, विषय-कषाय, आरम्भ को पुष्ट करने वाले प्रत्यक्ष-अनुमान प्रमाण आदि से जो दूषित हैं, ऐसे शास्त्र कुशास्त्र कहलाते हैं। तथा जो हिंसादि पंच पापों के सर्वथा त्यागी, आरम्भ, परिग्रह से रहित, देह से मोह रहित, उत्तम क्षमादि दश धर्मों के धारक, याचनावृत्ति से रहित एवं ज्ञान-ध्यान तप में अनुरक्त, रत्नत्रय की रक्षा के लिए दिन में एक बार रस-नीरस का विकल्प नहीं करते हुए शरीर को भोजन देने वाले ऐसे नग्न दिगम्बर मुनिराज, एक वस्त्र को धारण करने वाली आर्यिका तथा कोपीन और उत्तरीय वस्त्र को धारण करने वाले क्षुल्लक ये तीन लिंग आगम में बतलाये हैं। इनको छोड़कर समस्त कुलिंगी हैं। सम्यग्दृष्टि कुलिंगियों को तथा कुदेव, कुशास्त्र को भय, आशा, स्नेह, लोभ के आधीन होकर नमस्कारादि, विनयादि नहीं करता कि यदि मैं इनकी मान्यता नहीं करूंगा तो ये देव मेरी सम्पत्ति आदि का नाश कर देंगे, द्वेषवश रोगादि उत्पन्न कर देंगे मुझे अनेक प्रकार के दुःखों एवं संकट में डाल देंगे। इनकी भक्ति करने से मुझे राज्य सम्पदा पुत्रादि सन्तान की प्राप्ति हो जायेगी, ये संकट में मेरी रक्षा करेंगे इस आशा से भी इनका सत्कार वन्दन नहीं करे। इस देवता के प्रति मुझे स्नेह है, हमारे ऊपर कष्ट आ जाय तो देव ही तो रक्षक हैं, ऐसे स्नेह से भी कुदेव की आराधना नहीं करे। तथा मैंने जब से इन देवों की उपासना करना प्रारम्भ किया है तब से लाभ ही लाभ हो रहा है इस प्रकार के लोभ के वशीभूत होकर भी कुदेवों की मान्यता न करे। इसी प्रकार भय, आशा, लोभ और स्नेहवश संसार में उलझाने वाले कुशास्त्रों का प्रवचनादि कर प्रकाशनादि नहीं करे कि मेरे पिता-पितामह आदि इन शास्त्रों की मान्यता से बहुत द्रव्य उपार्जन करते थे, मैं भी ऐसा ही करूंगा तो मुझे बहुत धन लाभ होगा। इन शास्त्रों के पढ़ने में बड़ा रस आता है ये कथाएँ बड़ी मनमोहक हैं, तथा इन शास्त्रों के अध्ययन से देवता भी वश में हो जाते हैं, इत्यादि कारणों से भी सम्यग्दृष्टि कुशास्त्रों की उपासना न करे।

भय, आशा, स्नेह और लोभ से सम्यग्दृष्टि मिथ्यावेषधारी कुगुरु की भी उपासना नहीं करे कि ये तपस्वी, विद्यावान, लोकपूज्य हैं, इनमें दृष्टि, मुष्टि मारण, उच्चाटनादि अनेक प्रकार की शक्ति है, इनसे मेरा अहित न हो जाय इस प्रकार भय से भी प्रणामादि न करे। तथा ये बड़े करामाती हैं इनसे विद्या आदि चमत्कार सीख कर अपना कार्य सिद्ध कर लूं तो अच्छा है इस आशा से भी नमन न करे।

इस हुण्डावसर्पिणीकाल के निमित्त से द्रव्य मिथ्यात्व की उत्पत्ति हो गई है और दिन-दिन बढ़ती जा रही है, ऐसी स्थिति में जीवों के सम्यग्दर्शन और उसकी विशुद्धि बने रहना अत्यन्त कठिन हो गया है और कठिन होता जा रहा है। इसलिए सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए और उसको स्थिर रखने के लिए तथा उसके आठ अंगों के परिपालन करने के लिए तीन मूढ़ता और आठ मद का त्याग कर भव्य जीवों को चाहिए कि वे कुदेव कुशास्त्र और कुलिंगियों को प्रणाम तथा उनका सत्कारादि न करें। आज जो अनेक प्रकार के पाखण्डों का प्रचार-प्रसार एवं वृद्धि होती दिखाई दे रही है उसके अन्तरंग एवं वास्तविक कारण भय, आशा, स्नेह और लोभ ही हैं इसलिए कैसा भी भयंकर प्रसंग आ जाने पर भी कुदेवादिके भयसे अभिभूत नहीं होना चाहिए।३०।

ननु मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयरूपत्वात् कस्माद्दर्शनस्यैव प्रथमतः स्वरूपाभिधानं कृतमित्याह—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥३१॥

'दर्शनं' कर्तृ 'उपाश्नुते' प्राप्नोति। कं ? 'साधिमानं' साधुत्वमुत्कृष्टत्वं वा। कस्मात् ? ज्ञानचारित्रात्। यतश्च साधिमानं तस्माद्दर्शनमुपाश्नुते। 'तत्' तस्मात्। 'मोक्षमार्गे' रत्नत्रयात्मके 'दर्शनं' कर्णधारं' प्रधानं प्रचक्षते। यथैव हि कर्णधारस्य नौखेवटकस्य कैवर्तकस्याधीना समुद्रपरतीरगमने नावः प्रवृत्तिः तथा संसार समुद्र पर्यन्तगमने सम्यग्दर्शनकर्णधाराधीना मोक्षमार्गनावः प्रवृत्तिः ॥३१॥

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि मोक्षमार्ग तो रत्नत्रयरूप है, फिर सबसे पहले सम्यग्दर्शन का ही स्वरूप क्यों कहा गया ? इसका उत्तर देते हैं—

(यत्) जिस कारण (दर्शनं) सम्यग्दर्शन (ज्ञानचारित्रात्) ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा (साधिमानं) श्रेष्ठता या उत्कृष्टता को (उपाश्नुते) प्राप्त होता है (तत्) उस कारण से (दर्शनं) सम्यग्दर्शन को (मोक्षमार्गे) मोक्षमार्ग के विषय में (कर्णधारं) खेवटिया (प्रचक्षते) कहते हैं।

टीकार्थ—जिस प्रकार समुद्र के उस पार जाने के लिए नाव को उस पार पहुँचाने में खेवटिया-मल्लाह की प्रधानता होती है, उसी प्रकार संसार-समुद्र से पार होने के लिए मोक्षमार्गरूपी नाव की प्रवृत्ति सम्यग्दर्शनरूप कर्णधार के आधीन होती

है। इसी कारण मोक्षमार्ग में ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन को श्रेष्ठता या उत्कृष्टता प्राप्त होती है।

विशेषार्थ—इस कारिका में ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का विशिष्ट महत्त्व दर्शाया गया है। यदि इसकी महत्ता नहीं होती तो सम्यक्त्व निरपेक्षज्ञान चारित्र में भी मोक्षमार्गत्व माना जा सकता था किन्तु ऐसा नहीं है। सम्यक्त्व रहित ज्ञान, चारित्र वास्तव में मुख्यरूप से मोक्ष के कारण नहीं हैं। सम्यक्त्व के बिना ज्ञान चारित्र में समीचीनता नहीं आती। परन्तु समीचीन ज्ञान चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन तो होता है। यद्यपि धर्म रत्नत्रयात्मक ही है जैसा कि पहले बतलाया गया है तथा मोक्ष या संसारनिवृत्ति के हेतुभूत तीनों मिलकर हैं। एक या दो से निर्वाण की सिद्धि नहीं हो सकती, तीनों मिलकर ही मोक्ष के मार्ग बनते हैं। फिर भी इनमें से सर्व प्रथम कारण सम्यग्दर्शन को ही बतलाया है। ज्ञान चारित्र इन दोनों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन की साधुता अधिक प्रशस्त है और उत्कृष्ट है। यह ज्ञान, चारित्र का स्वामी है इसलिए सम्यग्दर्शन को आचार्य ने कर्णधार की उपमा दी है, जिस प्रकार नाव चलाने वाला मल्लाह हाथ में लकड़ी का दण्डा लेकर ही नाव को नदी में चलाता है। दण्डे को कर्ण कहा जाता है, उसके सहारे से खेवटिया नाव को चलाकर नदी के किनारे लगा देता है अर्थात् नाव में बैठे हुए व्यक्ति किनारे पहुँच कर अपने इच्छित स्थान पर पहुँच जाते हैं। उसी प्रकार संसाररूपी समुद्र में चारित्ररूपी नाव को खेवटियारूपी ज्ञान, दण्ड स्थानीय सम्यग्दर्शन के द्वारा चलाकर संसार के किनारे पहुँचा देता है और उस रत्नत्रय का धारक जीव मुक्ति प्राप्त कर सदा के लिए संसार के दुःखों से परिमुक्त हो जाता है। इस तरह मोक्षमार्ग की सिद्धि में तीनों का साहचर्य है फिर भी तीनों में प्रधान सम्यग्दर्शन ही है। जिस तरह राज्य संचालन करने में राजा मंत्री और सेनापति तीनों ही सहचारी हैं फिर भी स्वतन्त्रता और नेतृत्व के कारण उनमें राजा को ही मुख्य माना जाता है। मंत्री अपने बुद्धि बल से उचित-अनुचित मंत्रणा देता है और सेनापति शत्रुओं का विध्वंस करके राजा के कार्य में सहायक बनकर अनुकूल प्रवृत्ति करता है। इसी प्रकार ज्ञान और चारित्र दर्शन की आज्ञानुसार चलते हैं अर्थात् उसी का अनुसरण करते हैं क्योंकि वह स्वतन्त्र है। यद्यपि आत्मा में अनन्तगुण हैं किन्तु उनमें से ये तीन गुण ऐसे हैं जो मिलकर अपने स्वामी आत्मा को दुःखमय संसार से छुड़ाकर उत्तम सुखमय अवस्था को प्राप्त करा सकते हैं।

दर्शन की दो अवस्थाएँ विवक्षित हैं—मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। अनादिकाल से दर्शन मिथ्यारूप में ही परिणत है किन्तु जब वह सम्यक्रूप से परिणत हो जाता है तब उसमें वह सामर्थ्य आ जाती है जिसे ऊपर बता चुके हैं। सम्यग्दर्शन के बिना ग्यारह अंग, नौ पूर्व का ज्ञान और महाव्रतरूप चारित्र भी समीचीनता को प्राप्त नहीं होते हैं इसलिए गणधर देवादि ने सम्यग्दर्शन की उपमा मोक्षमार्गरूप नाव को चलाने वाले खेवटिया से दी है।

ननु चास्योत्कृष्टत्वे सिद्धे कर्णधारत्वं सिद्ध्यति तच्च कुतः सिद्धमित्याह—

विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥३२॥

'सम्यक्त्वेऽसति' अविद्यमाने। 'न सन्ति'। के ते? संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः। कस्य? विद्यावृत्तस्य। अयमर्थः—विद्याया मतिज्ञानादिरूपायाः वृत्तस्य च सामायिकादिचारित्रस्य या संभूति प्रादुर्भावः स्थितिर्यथावत्पदार्थ परिच्छेदकत्वेन कर्म-निर्जरादि हेतुत्वेन चावस्था नं, वृद्धिरुत्पन्नस्य परतर उत्कर्षः फलोदयो देवादिपूजायाः स्वर्गापवर्गादिश्च फलस्योत्पत्तिः। कस्याभावे कस्येव ते न स्युरित्याह—बीजाभावेतरोरिव बीजस्यमूलकारणस्याभावे यथा तरोस्ते न सन्ति तथा सम्यक्त्वस्यापि मूलकारणभूत-स्याभावे विद्यावृत्तस्यापि ते न सन्तीति ॥३२॥

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता सिद्ध होने पर उसमें कर्णधारपना सिद्ध होता है, परन्तु वह उत्कृष्टता किससे सिद्ध होती है? इसके उत्तर में कहते हैं—

(बीजाभावे) बीज के अभाव में (तरो इव) वृक्ष की तरह (सम्यक्त्वे असति) सम्यक्त्व के न होने पर (विद्यावृत्तस्य) ज्ञान और चारित्र की (संभूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः) उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की उद्भूति (न सन्ति) नहीं होती है।

टीकार्थ—विद्या-मतिज्ञानादि और वृत्त-सामायिकादि चारित्र इनका प्रादुर्भाव, स्थिति—जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा जानना, तथा कर्म निर्जरा के हेतुरूप से अवस्थान होना, वृद्धि—उत्पन्न होकर आगे-आगे बढ़ते जाना फलोदय—देवादिक की पूजा से

स्वर्ग-मोक्ष फल की प्राप्ति होना है। जिस प्रकार 'बीजाभावेतरोरिव' मूलकारणरूप बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार मूलकारणभूत सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान तथा चारित्र की न उत्पत्ति होती है, न स्थिति होती है, न वृद्धि होती है और न फल की प्राप्ति ही होती है।

विशेषार्थ—मोक्षमार्ग रत्नत्रयात्मक है। केवल सम्यग्दर्शनरूप ही नहीं है। किन्तु ऊपर जो कथन किया है उससे मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की ही मुख्यता सिद्ध होती है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान कुज्ञान कहलाता है और चारित्र कुचारित्र माना जाता है। परन्तु फिर भी यह बात स्पष्ट है कि इन तीनों के साथ सम्यक् विशेषण के लगाने का अथवा इनको सत् शब्द के द्वारा कहे जाने का कारण यह है कि इनमें आत्मा को संसार-परम्परा की तरफ से मोड़कर शुद्ध स्वाधीन ध्रुव, आनन्दरूप अवस्था में परिणत एवं स्थित करने की योग्यता है। इस प्रकार ये सम्यग्दर्शनादि तीनों ही समीचीन होकर सामान्य से आत्मा की सिद्धि में साधनरूप हैं। दर्शन में भी समीचीनतारूप कार्य के लिए उसके योग्य ज्ञान, चारित्र की आवश्यकता है। यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो उसके लिए किसी भी तरह के नियम की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। चाहे जब चाहे जिसके किसी भी अवस्था वाले जीव के सम्यग्दर्शन हो जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये दर्शन में समीचीनता की उत्पत्ति के लिए जिस तरह के ज्ञान चारित्र की अपेक्षा है उसके लिए वैसा मानना उचित है कि वह सम्यग्दर्शन बन सके। दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों ही आत्मा के स्वतन्त्रगुण हैं, जब तक ये मिथ्या-असमीचीन रहते हैं तब तक ये संसार के कारण बने रहते हैं एवं जब इनमें समीचीनता आ जाती है तो मुक्ति के कारण बन जाते हैं फिर भी यहां पर प्रधानता की अपेक्षा से कहा है कि बिना सम्यक्त्व के ज्ञान, चारित्र भले रूप में सिद्धिदायक नहीं हो सकते। जिस प्रकार वृक्ष की उत्पत्ति आदि में बीज का सद्भाव आवश्यक है बिना बीज के वृक्ष की उत्पत्ति आदि नहीं हो सकती है, और जब उत्पत्ति नहीं तो स्थिति, वृद्धि भी कैसे होगी और फल भी कहाँ से मिलेगा ? उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना सम्यग्ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, और बिना उत्पत्ति के स्थिति कहाँ से हो सकती है। बिना स्थिति के ज्ञान-चारित्र की वृद्धि भी नहीं होती, तथा ज्ञान, चारित्र का फल जो सर्वज्ञ परमात्मरूप अवस्था वह कैसे प्राप्त होगी ? अतः सम्यक्त्व के बिना सत्यश्रद्धान-ज्ञान-चारित्र कदापि नहीं होते।

गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है—

शमबोधवृत्त तपसां पाषाणस्यैव गौरवं पुंसः ।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ।।१५।।

अर्थ—यदि किसी पुरुष आत्मा के मन्दकषायरूप उपशम परिणाम हैं, शास्त्राभ्यासरूप ज्ञान है, पाप त्यजनरूप चारित्र भी है और अनशनादिरूप तप भी है–इन्हीं का महन्तपना है तो वह पाषाण के भार समान है, विशेष फल का देने वाला नहीं । और यदि ये ही क्रियायें सम्यक्त्वपूर्वक होवें तो महामणि के गुरुत्व के समान पूजनीक होती हैं और बहुत फल की देने वाली तथा महिमा योग्य बनती हैं ।

जिस प्रकार सामान्य पाषाण भी पाषाण है और मणि भी पाषाण है किन्तु सामान्य पाषाण से मणि कितना प्रभावशाली एवं बहुमूल्य होता है, मणिरत्न मिलने पर व्यक्ति मालामाल हो जाता है, रंक से राजा बन जाता है, परन्तु पाषाण कितने ही टन पड़ा रहे उसकी कोई विशेष कीमत नहीं होती । उसी प्रकार सम्यक्त्व सहित अल्पज्ञान, अल्पचारित्र, तप इस जीव को कल्पवासी इन्द्र की पदवी और जन्म-मरण से रहित ऐसे परमात्मपद को प्राप्त करा देता है इसलिए सम्यक्त्व सहित ही शमभाव, ज्ञान, चारित्र और तप जीव का कल्याण करने वाले होते हैं ।।३२।।

यतश्च सम्यग्दर्शनसम्पन्नो गृहस्थोऽपि तदसम्पन्नान्मुनेरुत्कृष्टतरस्ततोऽपि सम्यग्दर्शनमेवोत्कृष्ट मित्याह—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृहीश्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ।।३३।।

'निर्मोहो' दर्शनप्रतिबन्धक मोहनीयकर्मरहितः सद्दर्शनपरिणत'इत्यर्थः इत्थंभूतो गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो भवति । 'अनगारो' यतिः । पुनः 'नैव' मोक्षमार्गस्थो भवति । किंविशिष्टः ? 'मोहवान्' दर्शनमोहोपेतः । मिथ्यात्वपरिणत इत्यर्थः । यत एवं ततो गृही गृहस्थो । यो निर्मोहः स 'श्रेयान्' उत्कृष्टः । कस्मात् ? मुनेः । कथंभूतात् ? 'मोहिनो' दर्शनमोह युक्तात् ।।३३।।

जिस कारण सम्यग्दर्शन से सम्पन्न गृहस्थ भी सम्यग्दर्शन से रहित मुनि की अपेक्षा उत्कृष्ट है, उस कारण से भी सम्यग्दर्शन ही उत्कृष्ट है, यह कहते हैं—

(निर्मोहः) मोह-मिथ्यात्व से रहित (गृहस्थः) गृहस्थ (मोक्षमार्गस्थः) मोक्षमार्ग में स्थित है परन्तु (मोहवान्) मोह-मिथ्यात्व से सहित (अनगारः) मुनि (नैव) मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है (मोहिनः) मोही मिथ्यादृष्टि (मुनेः) मुनि की अपेक्षा (निर्मोहः) मोह रहित सम्यग्दृष्टि (गृही) गृहस्थ (श्रेयान्) श्रेष्ठ है।

टीकार्थ—जो गृहस्थ सम्यग्दर्शन का घात करने वाले मोहनीय कर्म से रहित होने के कारण सम्यग्दर्शनरूप परिणत है वह तो मोक्षमार्ग में स्थित है, किन्तु जो यति दर्शनमोह-मिथ्यात्व से सहित है वह मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है इस प्रकार मिथ्यात्व-युक्त मुनि की अपेक्षा सम्यक्त्व सहित गृहस्थ श्रेष्ठ है।

विशेषार्थ—इस कारिका के द्वारा आचार्य यह बतलाना चाहते हैं कि सर्व साधारण जीवों की जो यह समझ है कि हिंसादि पंचपाप ही संसार के कारण हैं और मात्र इनका परित्याग कर देना मोक्षमार्ग है। किन्तु बाह्यपाप-प्रवृत्तियों का परित्याग करने को ही मोक्षमार्ग मानना सत्य नहीं है, इतना अवश्य है कि मोक्षमार्ग को सिद्ध करने के लिए इन पापों का परित्याग अवश्य करना पड़ेगा। सिद्धि चाहने वाले के लक्ष्य में यह बात भी आनी चाहिए कि इतने त्याग मात्र से मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती, जब तक इन पापों के मूलभूत महापाप मोह का त्याग नहीं होगा। संसार के सभी पापों का उद्गम स्थान मोह है और उसके अभाव का नाम ही सम्यग्दर्शन है। जिसके बिना अन्य पाप प्रवृत्तियों का पूर्णतया परित्याग करके भी परिनिर्वाण की सिद्धि नहीं हो सकती।

यद्यपि मोक्ष का अत्यन्त निकटवर्ती साधन सम्यक्चारित्र है और सम्यक्-चारित्र सम्यग्दर्शन के बिना हो नहीं सकता इसलिए मोक्ष सिद्धि की सफलता सम्यग्-दर्शन पर ही निर्भर है यही इस कारिका का प्रयोजन है। यहां निर्मोह से प्रयोजन दर्शनमोह-मिथ्यात्व से है। इस मोह से जो निकल गया है वह निर्मोह है। जहाँ निर्मोहता है वहाँ मोक्षमार्ग में स्थिति अवश्य है फिर चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि, अथवा किसी गति का जीव। यदि निर्मोहता नहीं है तो मोक्षमार्ग में स्थिति भी नहीं है। चाहे वह अणुव्रती हो या महाव्रती। व्रत तो मोह की मन्द-मन्दतर-मन्दतम उदय की अवस्था में भी हो सकते हैं और सर्वथा उदय के अभाव में भी होते हैं। किन्तु जब तक मिथ्यात्व का उदय विद्यमान है तब तक मोक्षमार्ग में स्थिति नहीं मानी जा सकती। क्योंकि मोह और मोक्ष दोनों का सहानवस्था विरोध है। दोनों ही एक-दूसरे

के विरोधी हैं। इसलिए मोक्ष निर्मोही के ही सम्भव है। मोक्ष की सिद्धि गृहस्थाश्रम से न होकर मुनिपद से ही होती है, गृहस्थ के पद से मुनिपद की विशेषता चारित्र पर ही निर्भर है, यह बात भी ठीक है फिर भी देशचारित्र हो या सकलचारित्र किन्तु उसकी सफलता एवं वास्तविकता सम्यग्दर्शनमूलक ही है। जिस प्रकार वृक्ष, बेल आदि अपने मूल के बिना टिके नहीं रह सकते, उसी प्रकार मोक्ष के लिए साधनभूत चारित्र की स्थिति सम्यग्दर्शन पर ही अवलंबित है। इसलिए निर्मोही-मिथ्यात्व से रहित गृहस्थ द्रव्य चारित्र को धारण करने वाले किन्तु दर्शनमोह से सहित मुनि की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया गया है ॥३३॥

यत एवं ततः—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥३४॥

'तनूभृतां' संसारिणां। 'सम्यक्त्वसमं' सम्यक्त्वेन समं तुल्यं। 'श्रेयः' श्रेष्ठमुत्तमोपकारकं। 'किंचित्' अन्यवस्तु नास्ति। यतस्तस्मिन् सति गृहस्थोऽपि यतेरप्युत्कृष्टतां प्रतिपद्यते। कदा तन्नास्ति? 'त्रैकाल्ये' अतीतानागतवर्तमानकालत्रये। तस्मिन क्व तन्नास्ति? 'त्रिजगत्यपि' आस्तां तावन्नियतक्षेत्रादौ तन्नास्ति अपितु त्रिजगत्यपि त्रिभुवनेऽपि। तथा 'अश्रेयो' अनुपकारकं। मिथ्यात्वसमं किंचिदन्यन्नास्ति। यतस्तत्सद्भावे यतिरपि व्रतसंयमसम्पन्नो गृहस्थादपि तद्विपरीतादपकृष्टतां व्रजतीति।३४।

आगे, सम्यक्त्व के समान कल्याण और मिथ्यात्व के समान अकल्याण करने वाली दूसरी वस्तु नहीं है, यह बतलाते हैं—

(तनूभृतां) प्राणियों के (त्रैकाल्ये) तीनों कालों और (त्रिजगत्यपि) तीनों लोकों में भी (सम्यक्त्वसमं) सम्यग्दर्शन के समान (श्रेयः) कल्याणरूप (च) और (मिथ्यात्वसमं) मिथ्यादर्शन के समान (अश्रेयः) अकल्याणरूप (अन्यत्) अन्य वस्तु (न) नहीं है।

टीकार्थ—संसारी जीवों के लिए भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप तीनों कालों में और अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन के समान श्रेष्ठ उत्तम कल्याणकारक कोई दूसरी वस्तु नहीं है। क्योंकि सम्यक्त्व के रहने

से गृहस्थ भी मुनि से अधिक उत्कृष्टता को प्राप्त हो जाता है। तथा तीनों कालों और तीनों लोकों में मिथ्यात्व के समान कोई भी अनुपकारक-अकल्याणप्रद नहीं है, क्योंकि उसके सद्भाव में व्रत और संयम से सम्पन्न मुनि भी गृहस्थ की अपेक्षा हीनता को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—यह कारिका इस बात को स्पष्ट करती है कि सम्यग्दर्शन का फल पारलौकिक संसार और उसके कारणों की निवृत्तिपूर्वक आत्मा के निजशुद्ध स्वभाव को प्रकट करना या प्रकट हो जाना तो है ही किन्तु ऐहिक-अभ्युदय विशेष भी इसके फल हैं। जो कि आत्मा के शुद्ध स्वभाव से भिन्न होते हुए भी उसके साहचर्य एवं निमित्त की अपेक्षा रखते हैं। जो बात युक्ति, आगम और अनुभव से सिद्ध है उसको प्रकट न करके प्राणियों को सत्यमार्ग से वंचित करके भ्रम में डालना महान् पाप है, ऐसा अज्ञानमूलक गृहीत दुराग्रह ही तो मिथ्यात्व है और यह मिथ्यात्व सत्यार्थ मार्ग का पूर्णरूप से विरोधी है। इसलिए मुमुक्षुओं को वीतराग सर्वज्ञ की वाणी और इस वाणी का प्रचार-प्रसार करने वाले सच्चे गुरुओं के मार्गदर्शन में अपनी आत्मा को सन्मार्ग में लगाना चाहिए।

आचार्यश्री ने जिस धर्म का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की थी उसके बाद की कारिका संख्या ३ में बतलाया है कि सम्यग्दर्शनादि धर्म हैं अर्थात् वे कर्मों के और उनके फलस्वरूप दुःखों के विघातक हैं और उत्तम सुखरूप अवस्था के साधक हैं। और इसके विपरीत मिथ्यात्व दुःखरूप संसार का मार्ग है। रत्नत्रयी मोक्षमार्ग में प्रधानभूत नेतृत्व सम्यग्दर्शन का ही है। यद्यपि ज्ञान-चारित्र भी अपना असाधारणरूप रखते हैं, फिर भी उनमें समीचीनता का पुट लगाकर उनको मोक्षमार्गी बना देने का श्रेय तो सम्यग्दर्शन का ही है। इसलिए आचार्यश्री ने सम्यग्दर्शन की यशोगाथा गाई है कि सम्यक्त्व के समान तीनों लोकों में तीनों कालों में इन्द्र अहमिन्द्र चक्रवर्ती नारायण बलभद्र, तीर्थंकरादि समस्त चेतन और मणि मन्त्र औषधिआदिक समस्त अचेतन द्रव्य इनमें से कोई भी सम्यक्त्व के समान उपकारक नहीं है और इस जीव का सबसे अधिक अपकार करने वाला मिथ्यात्व है। अब तक जिन अनन्त जीवों ने संसार के अनन्त दुःखों से छुटकारा पाकर अनन्त शाश्वत सुख प्राप्त किया है और कर रहे हैं या आगे प्राप्त करेंगे, उसका श्रेय सम्यग्दर्शन को ही है, इसलिए सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए ॥३४॥

इतोऽपि सद्दर्शनमेव ज्ञानचारित्राभ्यामुत्कृष्ट मित्याह—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

'सम्यग्दर्शनशुद्धा' सम्यग्दर्शनं शुद्धं निर्मलं येषां ते । सम्यग्दर्शनलाभात्पूर्वं बद्धायुष्कान् विहाय अन्ये 'न व्रजन्ति' न प्राप्नुवन्ति । कानि । नारकतिर्यङ्नपुंसक-स्त्रीत्वानि । त्व शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते नारकत्वं तिर्यक्त्वं नपुंसकत्वं स्त्रीत्वमिति । न केवलमेतान्येव न व्रजन्ति किन्तु 'दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च' । अत्रापि ता शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ये निर्मलसम्यक्त्वाः ते न भवान्तरे दुष्कुलतां दुष्कुले उत्पत्तिं विकृततां काणकुण्ठादिरूपविकारं अल्पायुष्कतामन्तर्मुहूर्ताद्यायुष्कोत्पत्तिं, दरिद्रतां दारिद्र्योपेतकुलोत्पत्तिं । कथंभूता अपि एतत्सर्वं व्रजन्ति ? 'अव्रतिका अपि' अणुव्रत-रहिता अपि ॥ ३५ ॥

आगे कुछ और भी कारण बतलाते हैं जिनसे सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा उत्कृष्ट है—

(सम्यग्दर्शनशुद्धाः) सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव (अव्रतिकाअपि) व्रतरहित होने पर भी (नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि) नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्रीपने को (च) तथा (दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां) नीच कुल विकलांग अवस्था, अल्प आयु और दरिद्रता को (न व्रजन्ति) प्राप्त नहीं होते ।

टीकार्थ—'सम्यग्दर्शनेन शुद्धाः सम्यग्दर्शन शुद्धाः' अथवा 'सम्यग्दर्शनं शुद्धं निर्मलं येषां ते सम्यग्दर्शनशुद्धाः' इस समास के अनुसार जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है अथवा जिनका सम्यग्दर्शन शुद्ध-निर्मल है ऐसे जीव, जिन्होंने सम्यग्दर्शन होने के पहले आयु बांधली है उन बद्धायुष्कों को छोड़कर नारकत्व, तिर्यंचत्व, नपुंसकत्व और स्त्रीत्व को प्राप्त नहीं होते, तथा नीचकुलता, दुष्कुलता-दुष्कुल में उत्पत्ति, विकृतता-काणा, लूला आदि विकृतरूप वाला, अल्पायुष्कता-अन्तर्मुहूर्तादि अल्पआयु वाला, दरिद्रता-दरिद्रकुल में भी उत्पत्ति नहीं होती है । जब व्रतरहित अव्रतसम्यग्दृष्टि का इतना माहात्म्य है तब सम्यग्दृष्टिव्रती तो सातिशय पुण्य का बन्ध करते ही हैं, उनकी महिमा का तो कहना ही क्या है ?

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनशुद्धाः इस शब्द का अर्थ तीन प्रकार से किया जा सकता है। पहला अर्थ—सम्यग्दर्शनं शुद्धं निर्मलं येषां ते' अर्थात् शुद्ध, निर्मल है सम्यग्दर्शन जिनका। दूसरा—'सम्यग्दर्शनेन शुद्धाः' अर्थात् जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं। इन दोनों अर्थों में से पहले में सम्यग्दर्शन की शुद्धता–निरतिचार अथवा २५ मल दोषों से रहित अर्थ व्यक्त होता है और दूसरे अर्थ से सम्यग्दर्शन से विशिष्ट आत्मा द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से रहित पर-सम्बन्ध से रहित ऐसा सूचित होता है। तीसरा अर्थ—शुद्ध शब्द से अबद्धायुष्कता अर्थ अभिप्रेत है, जो कि उचित है और प्रकृत कथन के अनुकूल है। जिनके परभव सम्बन्धी आयुकर्म का बन्ध अभी तक नहीं हुआ है। इस प्रकार तीसरा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

यद्यपि जो बद्धायुष्क हैं अर्थात् जिन जीवों ने मिथ्यात्व अवस्था में परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध कर लिया है और जिन्हें बाद में सम्यग्दर्शन हुआ है ऐसे जीव अपने आयुकर्म के अनुसार सम्यग्दृष्टि होकर भी नरक तिर्यंच और मनुष्यगति को प्राप्त होते हैं। क्योंकि आयुकर्म का बन्ध होने के पश्चात् छूटता नहीं है। उसका उदय तो अवश्य ही होता है किन्तु इन अवस्थाओं में भी जीव का यह सम्यग्दर्शन महान् उपकार करता है। जिसने नरकायु का बन्ध कर लिया, पश्चात् उसे सम्यक्त्व हुआ तो वह जीव प्रथम नरक से नीचे के नरकों में उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार जिसके तिर्यंचायु का बन्ध होने के पश्चात् यदि सम्यक्त्व उत्पन्न हो तो वह सम्यक्त्व सहित मरण कर भोगभूमि में पुरुष लिंग का धारक तिर्यंच होगा। यदि कोई तिर्यंच अथवा मनुष्य परभव की आयु का बन्ध करके सम्यग्दृष्टि हुआ और सम्यक्त्व सहित ही मृत्यु को प्राप्त होता है तो वह भोगभूमि में पुरुष पर्याय ही धारण करता है।

देव और नारकियों की आयु में अन्तर है। क्योंकि उनके मनुष्य और तिर्यंचायु का ही बन्ध होता है। देव मरकर देव या नारकी नहीं होते, उसी प्रकार नारकी भी मरकर नारकी या देव नहीं होते। किन्तु यहां पर जो आचार्यश्री ने नरक और तिर्यंचगति में जन्म लेने का निषेध किया है वह अबद्धायुष्क जीवों की अपेक्षा से ही किया है, ऐसा समझना चाहिए। सम्यग्दृष्टि नपुंसकवेदी, स्त्रीवेदी नहीं होते हैं, दुष्कुल में उत्पन्न नहीं होते हैं। जिन कुलों में सज्जातित्व के विरुद्ध आचरण प्रवर्तमान हो उन सभी कुलों को दुष्कुल समझना चाहिए। यहाँ पर कुल परम्परा से चले आते जीव के ऊँच-नीच आचरण को गोत्र कहा है।

आचरण से प्रयोजन उसके शरीर की उत्पत्ति के सम्बन्ध को लेकर मातृपक्ष और पितृपक्ष की शुद्धि से है। इन दोनों के असदाचरण के कारण परंपरा दूषित होती है।

देव सभी उच्च गोत्री होते हैं, फिर भी सम्यक्त्व सहित जीव भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषियों में उत्पन्न नहीं होते, एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय एवं असंज्ञियों में उत्पन्न नहीं होते। सम्यक्त्व सहित जीव मनुष्यगति में उत्तमकुल में उत्पन्न होकर भी हीनांग विकलांग नहीं होते, अल्पायु, दरिद्री नहीं होते। कारिका में जो अपि शब्द दिया है वह इस अर्थ को सूचित करता है कि बिना व्रत के केवल अव्रत सम्यग्दृष्टि के जब इतनी विशेषता हो जाती है तब व्रतधारी तो सहज ही संसार को निर्मूल करने में समर्थ हो ही सकता है।

सम्यग्दर्शन के होने पर ४१ कर्म प्रकृतियों का बंध छूट जाता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में विच्छिन्न होने वाली १६ प्रकृतियाँ—मिथ्यात्व, हुंडकसंस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, एकेन्द्रियजाति, विकलत्रयतीन, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु।

इसी प्रकार दूसरे गुणस्थान में बन्धव्युच्छित्ति होने वाली २५ प्रकृतियाँ हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, स्वाति संस्थान, कुब्जक संस्थान, वामन संस्थान, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन, अप्रशस्त-विहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचायुउद्योत।

इस प्रकार जो अबद्धायुष्कसम्यग्दृष्टि हैं वे नरक और तिर्यंच गति में तो उत्पन्न होते ही नहीं। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि स्वर्ग से आकर कर्मभूमिया में उत्पन्न होते हैं तो वे नपुंसक, स्त्री, नीच कुल, विकृतांग, अल्पायु, दरिद्र नहीं होते। तथा जो बद्धायुष्क हैं वे भी यथायोग्य इस बन्धव्युच्छित्ति के अनुसार निकृष्ट स्थानों को प्राप्त नहीं होते ।। ३५ ।।

यद्येतत्सर्वं न व्रजन्ति तर्हि भवान्तरे कीदृशास्ते भवन्तीत्याह—

ओजस्तेजोविद्यावीर्य्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः ।
माहाकुला महार्था मानवतिलकाः भवन्ति दर्शनपूताः ।।३६।।

'दर्शनपूता' दर्शनेन पूताः पवित्रिताः । दर्शनं वा पूतं पवित्रं येषां ते । 'भवन्ति' । 'मानवतिलकाः' मानवानां मनुष्याणां तिलका मण्डनीभूता मनुष्य प्रधाना इत्यर्थः । पुनरपि कथंभूता इत्याह 'ओज' इत्यादि ओज उत्साहः तेजः प्रतापः कान्तिर्वा, विद्या सहजा अहार्या च बुद्धिः, वीर्यं विशिष्टं सामर्थ्यं यशो विशिष्टा ख्यातिः वृद्धिः कलत्र-पुत्र पौत्रादि-सम्पत्तिः, विजयः पराभिभवेनात्मनो गुणोत्कर्षः, विभवो धनधान्यद्रव्यादि-सम्पत्तिः एतैः सनाथा सहिता । तथा 'माहाकुला' महच्च तत् कुलं च माहाकुलं तत्र भवाः 'महार्थी' महान्तोऽर्था धर्मार्थ काम मोक्ष लक्षणा येषाम् । ३६।।

यदि सम्यग्दृष्टि नारकी आदि अवस्था को प्राप्त नहीं होते तो कैसे होते हैं, यह कहते हैं—

(दर्शनपूताः) सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव (ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धि विजयविभवसनाथाः) उत्साह, प्रताप, विद्या, पराक्रम, यश, वृद्धि, विजय और वैभव से सहित (माहाकुलाः) उच्चकुलोत्पन्न, (महार्थाः) पुरुषार्थ युक्त तथा (मानवतिलकाः) मनुष्यों में श्रेष्ठ (भवन्ति) होते हैं ।

टीकार्थ—'दर्शनेन पूताः पवित्रिताः अथवा दर्शनं पूतं पवित्रं येषां ते' इस समास के अनुसार जो सम्यग्दर्शन से पवित्र हैं अथवा जिनका सम्यग्दर्शन पवित्र है, वे जीव सम्यग्दर्शनपूत कहलाते हैं । ओज का अर्थ—उत्साह, तेज का अर्थ प्रताप या कान्ति है । स्वाभाविक अथवा जिसका हरण न किया जा सके ऐसी बुद्धि को विद्या कहते हैं । वीर्य—विशिष्ट सामर्थ्य को कहते हैं । विशिष्ट ख्याति-प्रसिद्धि को यश कहते हैं । स्त्री, पुत्र-पौत्र आदि की प्राप्ति को वृद्धि कहते हैं । दूसरे के तिरस्कार से अपने गुणों का उत्कर्ष करना विजय है । धन-धान्य द्रव्यादिक की प्राप्ति होना विभव है। उत्तम कुल में उत्पत्ति होना महाकुल और धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थ युक्त होना महार्थ है । जो मनुष्यों में श्रेष्ठ-प्रधान होते हैं वे मानवतिलक कहलाते हैं । इस प्रकार पवित्र सम्यग्दृष्टि जीव ओज आदि सहित, उच्चकुलोत्पन्न चारों पुरुषार्थों के साधक तथा मनुष्यों में शिरोमणि होते हैं ।

विशेषार्थ—आगम में प्राप्य अवस्थाओं के वर्णन करने वाले प्रकरण में तीन तरह की क्रियाओं का उल्लेख पाया जाता है—गर्भान्वय, दीक्षान्वय, कर्त्रन्वय । जैनधर्म का पालन जिन कुलों में चला करता है उन कुलों में उत्पन्न होने वाले जीव के संस्कारों

से सम्बन्धित तथा उसके लिए उचित और आवश्यक क्रियाओं को **गर्भान्वय क्रिया** कहते हैं। और जिनमें जैनधर्म नहीं पाया जाता ऐसे कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति जब जैनधर्म में दीक्षित होना चाहता है तब उसके लिए उचित और आवश्यक रूप से की जाने वाली क्रिया **दीक्षान्वय क्रिया** कहलाती है। और जो सन्मार्ग में लगकर उसकी आराधना करके पुण्य का उपार्जन करते हैं, उसके फलस्वरूप जो प्राप्त होती है वह कर्त्रन्वय क्रिया है। इसके सात भेद हैं—सज्जाति, सद्गृहस्थत्व, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रता, परमसाम्राज्य, परमार्हंत्य और परमनिर्वाण। इन कर्त्रन्वय क्रियाओं को ही परमस्थान कहते हैं। क्योंकि ये उत्कृष्ट पुण्य विशेष के द्वारा प्राप्त होने वाले स्थान हैं तथा ये परमस्थान मोक्ष के कारण हैं।

इन सप्त परमस्थानों में आदि के तीन स्थान तो सामान्य हैं। ये मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों के ही होते हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि को प्राप्त होने वाले अभ्युदय में फल की विशेषता रहती है तथा ४१ प्रकृतियों का संवर हो जाने से निर्जरा के प्रथम स्थान को प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ पर ओज आदि आठ गुणों का नाम निर्देश किया है वे तो उपलक्षण मात्र हैं किन्तु अन्य अनेक गुणों का भी इन्हीं में संग्रह कर लेना चाहिए जैसा कि धैर्य, उद्यम, साहस, बल, वीर्य आदि। जिनके प्रताप एवं तेज के आगे देवता भी नतमस्तक हो जाते हैं तथा किंकरवत् प्रार्थना करते हैं कि हमें आज्ञा प्रदान कीजिये, हम आपकी क्या सेवा करें? देखिये, भट्टाकलंकदेव के आगे तारादेवी हतप्रभ होकर भाग गयी। इस प्रकार के अनेक प्रभावशाली कार्य सिद्ध हो जाया करते हैं। यहाँ पर आचार्य ने सम्यग्दृष्टि के जिन अभ्युदय आदि फलों को बतलाते हुए सज्जातित्व आदि तीन परम स्थानों को बतलाया है, वह साधारण बात नहीं है क्योंकि ये तीनों ही मोक्षसिद्धि में मूलभूत साधन हैं। जिस तरह रत्नत्रय अन्तरंग असाधारण साधन है उसी प्रकार ये सज्जातित्व, सद्गृहस्थत्व और पारिव्राज्य ये तीन परमस्थान बाह्य मुख्य साधन हैं। जिस प्रकार रत्नत्रय में से किसी एक के नहीं होने पर निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार इन तीन साधनों में से किसी एक के न रहने पर भी जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है।

अतएव यह सहज ही ज्ञात हो सकता है कि जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से पवित्र है, वह स्वभाव से ही अपने लक्ष्यभूत निर्वाण के साधनभूत उस अभ्युदय आदि पदों को

अपने विशिष्ट परिणामों से प्राप्त कर लिया करता है, जिनको मिथ्यात्वरूप कलंक से कलंकित व्यक्ति कभी प्राप्त नहीं कर सकता है।

सम्यग्दृष्टि को मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने के लिए यद्यपि तीनों परम स्थानों की समानरूप से आवश्यकता है किन्तु फिर भी उनमे सज्जातित्व प्रथम मुख्य साधन है क्योंकि जाति आर्य ही सद्‌गृहस्थ हो सकता है और उनमें ही कोई विरला भाग्यशाली व्यक्ति पारिव्राज्यपद को (दीक्षा को) प्राप्त कर सकता है।

पहले समय में सज्जातीयता विषयक अज्ञान अन्धकार को दूर करने के लिए किसी प्रकार के प्रकाश की आवश्यकता नहीं थी, स्वयं ही मातृपक्ष-पितृपक्ष सम्बन्धी कुल की पवित्रता और महत्ता तथा पूज्यता जगत्‌मान्य प्रसिद्ध रहा करती थी। कहीं सन्देह होने पर दिव्यज्ञानियों के कथन से वंश परम्परा का बोध हो जाता था, तथा व्यक्ति की आकृति, चेष्टा, पराक्रम या आचरण से भी जान लिया जाता था कि अमुक व्यक्ति महान्‌कुल-वंश का है या-अमुक व्यक्ति नीच कुलोत्पन्न है।

जिस प्रकार वसुदेव की कृपा से जब कंस जरासंध की घोषणा के अनुसार युद्ध में विजय प्राप्त करके आ गया तब जरासंध को यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि प्रतिज्ञा के अनुसार राजपुत्री जीवंजसा का विवाह तो कंस के साथ ही होना चाहिए, किन्तु इसके कुल, जाति का तो निश्चय ही नहीं है कि यह किस कुलोत्पन्न है? पूछने पर कंस ने अपने को कलाली का पुत्र बतलाया, परन्तु जरासंध को यह बात नहीं जँची वह सोचने लगा कि इसकी आकृति तो कहती है कि यह कलाली का पुत्र नहीं है, क्षत्रिय पुत्र है। जैसा कि हरिवंश पुराण में कहा है—**'आकृतिः कथयत्यस्य नायं सौधुकरीसुतः'** जब कलाली को बुलाया गया तो विदित हुआ कि यह क्षत्रिय पुत्र ही है। प्रथमानुयोग में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें व्यक्ति के धैर्य, पराक्रम एवं आचरण से सज्जातित्व का पता चल जाता है ॥३६॥

तथा इन्द्रपदमपि सम्यग्दर्शनशुद्धा एव प्राप्नुवन्तीत्याह—

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥३७॥

ये 'दृष्टिविशिष्टाः' सम्यग्दर्शनोपेता । 'जिनेन्द्रभक्ताः' प्राणिनस्ते 'स्वर्गे' । 'अमराप्सरसां परिषदि'—देवदेवीनां सभायां । 'चिरं' बहुतरं कालं । 'रमन्ते' क्रीडन्ति । कथंभूताः ? 'अष्टगुणपुष्टितुष्टाः' अष्टगुणा अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यं, ईशित्वं, वशित्वं, कामरूपित्वमित्येतल्लक्षणास्ते च पुष्टिः स्वशरीरावयवानां सर्वदोपचितत्वं तेषां वा पुष्टिः परिपूर्णत्वं तया तुष्टाः सर्वदा प्रमुदिताः । तथा 'प्रकृष्टशोभाजुष्टा' इतरदेवेभ्यः प्रकृष्टा उत्तमा शोभा तया जुष्टा सेविताः इन्द्राः सन्त इत्यर्थः ।३७।

इन्द्रपद भी सम्यग्दृष्टि जीव ही प्राप्त करते हैं, यह कहते हैं—

(दृष्टिविशिष्टाः) सम्यग्दर्शन से सहित (जिनेन्द्रभक्ताः) जिनेन्द्र भगवान के भक्त पुरुष (स्वर्गे) स्वर्ग में (अमराप्सरसां परिषदि) देव-देवियों की सभा में (अष्टगुणपुष्टितुष्टाः) अणिमा आदि आठ गुण तथा शारीरिक पुष्टि अथवा अणिमादि आठ गुणों की पुष्टि से सन्तुष्ट और (प्रकृष्ट शोभा जुष्टाः) बहुत भारी शोभा से युक्त होते हुए (चिरं) चिरकाल तक (रमन्ते) क्रीड़ा करते हैं ।

टीकार्थ—जिनेन्द्र भक्त सम्यग्दृष्टि जीव यदि स्वर्ग जाते हैं तो वहाँ इन्द्र बनकर देव और देवियों की सभा में चिरकाल तक-सागरों पर्यंत रमण करते हैं—क्रीडा करते हैं । वहाँ पर वे अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामरूपित्व इन आठ ऋद्धियों से सम्पन्न होते हैं और अपने शरीर सम्बन्धी अवयवों की पुष्टी-परिपूर्णता सहित सर्वदा हर्षित रहते हैं तथा अन्य देवों में नहीं पायी जाने वाली उत्तम शोभा युक्त होते हैं ।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि के सप्त परमस्थानों में से चौथे सुरेन्द्रता नामक परम स्थान का निरूपण करना इस कारिका का प्रयोजन है । यह सुरेन्द्रपदनामक परमस्थान भी आगम में कर्त्रन्वय क्रियाओं का वर्णन करते हुए बतलाया है कि यह पारिव्राज्य नामक परमस्थान का ही फल है । सुरेन्द्रता से मतलब केवल इंद्र पद से नहीं अपितु इंद्र, प्रतीन्द्र, अहमिन्द्र, लोकपाल, लौकान्तिक आदि अन्य महर्द्धिक वैमानिक देवों से भी है । क्योंकि आचार्यश्री सम्यग्दर्शन के असाधारण फल को बतला रहे हैं ।

प्रथम तीन परमस्थान तो सामान्य से सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों को ही प्राप्त होते हैं । किन्तु शेष चार स्थान तो सम्यग्दृष्टि को ही प्राप्त होते हैं । सम्यग्-

दर्शन के सातिशय फल को एवं उसकी मोक्षमार्ग में प्रगति को बतलाना इस कारिका का प्रयोजन है। सम्यग्दृष्टि भवनत्रिक में पैदा नहीं होता। नियम से वैमानिक देव ही होता है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि भी वैमानिकों में उत्पन्न होते हैं किन्तु इस कारिका में जो विशेषण बतलाये हैं वे वैमानिक सम्यग्दृष्टि देव के ही सम्भव हैं। सम्यग्दृष्टि जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं कर लेते तब तक वे नियम से देवगति और मनुष्यगति के उत्तमोत्तम पदों को प्राप्त करते रहते हैं। वे आभियोग्य तथा किल्विषक जैसे देवों में जन्म नहीं लेते। यहाँ अष्टगुण शब्द से–अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व इन आठ भेदों को ग्रहण किया गया है।

अणिमा—इतना छोटा शरीर बना लेना कि कमल की नाल के छिद्र में बैठ जाना और वहीं पर चक्रवर्ती के परिवार और विभूति को उत्पन्न कर सकना।

महिमा—मेरु से भी बड़ा शरीर बना लेना।

लघिमा—वायु से भी हलका शरीर बना लेना।

गरिमा[1]—वज्र से भी भारी शरीर बना लेना।

प्राप्ति—पृथ्वी पर बैठे-बैठे ही अंगुली के अग्रभाग से मेरु के शिखर या सूर्य के बिम्ब का स्पर्श कर सकना।

प्राकाम्य—जल पर भूमि के समान चलना और भूमि पर जलवत् चलना अर्थात् डुबकी लगाना, तैरना आदि।

ईशित्व—(ईशिता) जिससे साधक सब पर शासन कर सकता है।

वशित्व—चाहे जिसको वश कर लेना।

देवों के शरीर में बन्धन-संघात की अपेक्षा विशेषता होती है। आगे-आगे के देवों में शरीर छोटा होता जाता है किन्तु प्रदेशों का प्रचय संख्या की अपेक्षा

---

१. अन्य ग्रन्थों में आठ सिद्धियों में गरिमा को सम्मिलित किया गया है पर यहाँ संस्कृत-टीकाकार ने गरिमा के स्थान में कामरूपित्व को लिया है—जिसका अर्थ है–एक समय में अनेक और नाना प्रकार के रूप बना लेना।

असंख्यातगुणा होता है। अप्रीति अथवा अकृतार्थता के कारण आकुलता का न होना तुष्टि या सन्तोष कहा जाता है। इस तरह के अन्तरंग भाव से जो युक्त हैं वे तुष्ट समझे जाते हैं। यद्यपि सम्यग्दृष्टि निःकांक्ष हैं वे उसको नहीं चाहते फिर भी वह शोभा अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उनके शरीर की और उनकी सेवा करती है। इन्द्र एक भवावतारी परमसम्यग्दृष्टि है। वह कभी-कभी देवियों एवं अप्सराओं की परिषद् में बैठकर उपदेश आदि भी देता है और भोगों का भी अनुभव करता है। इस प्रकार चिरकाल तक क्रीड़ा-भोगों को बिना विघ्न बाधाओं के भोगता रहता है।

संसार में सबसे अधिक सुखरूप स्थान स्वर्ग है। यद्यपि यह ठीक है कि तत्त्वतः जिसे दुःख कहते हैं वह स्वर्ग में भी है कर्माधीनता, क्षणभंगुरता संक्लेश आदि दुःखरूप भावों से वे स्वर्गवासी भी मुक्त नहीं हैं। फिर भी कर्मफल को भोगने वाली चारों गतियों में वह इसलिए प्रधान और इष्टरूप माना जाता है कि पुण्यरूप कर्मों का वहाँ अधिक उदय पाया जाता है। तथा मनुष्यों की अपेक्षा देवों को अपने प्राप्त भोगों को भोगने और चिरकाल तक रमण करने में उनकी अनपवर्त्यायु भी एक बड़ा साधन है। यहाँ पर सम्यग्दृष्टि के लिए जिनेन्द्र भक्त शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव के जो भक्ति का विशिष्ट शुभरागभाव हुआ करता है उसके द्वारा वह इस तरह के पुण्यविशेष का बन्ध करता है, जिससे देवेन्द्रों के वैभव और ऐश्वर्य से युक्त अवस्था प्राप्त हुआ करती है ॥३७॥

तथा चक्रवर्तित्वमपि त एव प्राप्नुवन्तीत्याह—

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्त्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः, क्षत्रमौलिशेखर चरणाः ॥३८॥

ये 'स्पष्टदृशो' निर्मलसम्यक्त्वाः। त एव 'चक्रं' चक्ररत्नं। 'वर्तयितुं' आत्माधीनतया तत्साध्यनिखिलकार्येषु प्रवर्तयितुं। 'प्रभवन्ति' ते समर्था भवन्ति। कथंभूताः? सर्वभूमिपतयः सर्वा चासौ भूमिश्च षट्खण्डपृथ्वी तस्याः पतयः चक्रवर्तिनः। पुनरपि कथंभूताः? 'नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशा' नवनिधयश्च सप्तद्वयरत्नानि सप्तानां द्वयं तेन संख्यातानि रत्नानि चतुर्दश तेषामधीशाः स्वामिनः। क्षत्रमौलिशेखरचरणाः क्षतादोषात् त्रायन्ते रक्षन्ति प्राणिनो ये ते क्षत्रा राजानस्तेषां मौलयो मुकुटानि तेषु शेखरा आपीडास्तेषु चरणानि येषां ॥३८॥

चक्रवर्ती पद भी सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त करते हैं, ऐसा कहते हैं—

(स्पष्टदृश:) निर्मल सम्यग्दर्शन के धारक मनुष्य ही (नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशा:) नौ निधियों और चौदह रत्नों के स्वामी तथा (क्षत्रमौलिशेखर चरणा:) राजाओं के मुकुटों सम्बन्धी कलगियों पर जिनके चरण हैं ऐसे (सर्वभूमिपतय:) चक्रवर्ती होते हुए (चक्रं) चक्ररत्न को (वर्तयितुं) वर्ताने के लिए (प्रभवन्ति) समर्थ होते हैं ।

टीकार्थ—निर्मल सम्यग्दर्शन के धारक मनुष्य ही चक्ररत्न को चलाने में समर्थ होते हैं अर्थात् अपने आधीन होने से उसे उसके द्वारा साध्य समस्त कार्यों में प्रवर्ताने के लिए समर्थ होते हैं । तथा वे सर्वभूमि–षट्खण्ड के अधिपति चक्रवर्ती होते हैं । नौ निधियों और चौदह रत्नों के स्वामी होते हैं, जो दोषों से प्राणियों की रक्षा करते हैं ऐसे राजाओं के मुकुटों की कलगियों पर उन चक्रवर्ती के चरण रहते हैं अर्थात् समस्त पृथ्वी के मुकुटबद्ध राजा मस्तक झुकाकर चक्रवर्ती के चरणों में नमस्कार करते हैं ।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन के फल का वर्णन करते हुए आचार्य सप्तपरमस्थानों में चौथे सुरेन्द्रता परमस्थान के अनन्तर पाँचवें परमसाम्राज्य नामक परमस्थान के विषय में बतलाते हैं ।

संसार के दु:खों से छुड़ाकर उत्तम सुख के मार्गस्वरूप तीर्थ-प्रवर्तन में सुरेन्द्रता का उतना महत्त्व–उपयोग नहीं है जितना कि चक्रवर्तित्व का है । तीर्थंकर भगवान के उपदेश की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा में गणधरदेव के पश्चात् यदि कोई बलवत्तर निमित्त कहा जा सकता है तो वह परमसम्राट् चक्रवर्ती का ही पद है । यह सर्व विदित है कि तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि का निर्गम गणधरदेव के बिना नहीं होता, ऐसा नियम है । किन्तु यदि कदाचित् गणधरदेव न हों तो उस अवस्था में इस नियम के अपवादरूप यदि कोई विकल्प है तो वह यही है कि चक्रवर्ती के उपस्थित होने पर भी तीर्थ की प्रवृत्ति–भगवान की दिव्यध्वनि का प्रारम्भ हो सकता है । जैसा कि प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान की दिव्यध्वनि का प्रारम्भ प्रथम सम्राट श्री भरतेश्वर के प्रश्न के कारण ही हुआ था । ऐसा आदि पुराण पृ० २४, श्लोक ७८, ७९ में बतलाया है । पश्चात् वृषभसेन ने दीक्षा धारण करके प्रथम गणधर का पद प्राप्त

किया था। तो जिनके निमित्त से तीर्थ की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हो, ऐसा असाधारण पुण्यातिशय तो इन्द्र के लिए भी अप्राप्य है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के असाधारण, महत्त्वपूर्ण फलों को बतलाते हुए परमसाम्राज्य पद का उल्लेख करना उचित ही नहीं आवश्यक भी है।

चक्रवर्ती नौ निधियों और चौदह रत्नों का स्वामी होता है। काल, महाकाल, नैःसर्प, पाण्डुक, पद्म, माणव, पिंगल, शंख और सर्वरत्न इसप्रकार आगम में नौ निधियाँ बतलाई हैं। इनमें से—

काल नामकी निधि से—लौकिक शब्द अर्थात् व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार आदि सम्बन्धी तथा अन्य भी गायन वादन आदि विषयक शब्द उत्पन्न होते रहते हैं।

महाकाल—यह निधि असि, मसि, आदि षट्कर्म की साधनभूत द्रव्य सम्पत्ति उत्पन्न करती है।

नैःसर्प—निधि शय्या, आसन, मकान आदि उत्पन्न करती है।

पाण्डुक से— हर प्रकार के धान्य तथा छहों रसों की उत्पत्ति हुआ करती है।

पद्मनिधि से—रेशमी वस्त्र सूती वस्त्र आदि प्राप्त होते हैं।

पिंगल से—दिव्य आभरणों की प्राप्ति होती है।

माणवनिधि से—नीति शास्त्र तथा और भी अन्य शास्त्रों की उत्पत्ति हुआ करती है।

दक्षिणावर्त शंखनिधि से—स्वर्ण मिलता है।

सर्वरत्न से—सर्व प्रकार के रत्नों का लाभ हुआ करता है। रत्नशब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ पर इसका अर्थ इस प्रकार है—'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं-तत्तद्रत्नमिहोच्यते' अपनी-अपनी जाति में जो उत्कृष्ट है वह उस-उस का रत्न है।

चक्रवर्ती के ये रत्न १४ होते हैं। इनमें सात तो चेतन होते हैं और सात अचेतन। **चेतनरत्न**—सेनापति, गृहपति, स्थपति, पुरोहित, हाथी, घोड़ा, स्त्री।

अचेतनरत्न—चक्र, छत्र, दण्ड, खड्ग, मणि, चर्म और काकिणी ये सात अचेतनरत्न हैं।

यों तो चक्रवर्ती की विभूति अपरिमित है। किन्तु यहां पर उसे नौ निधियों और चौदह रत्नों का ही अधीश बतलाया गया है, अर्थात् चक्रवर्ती इनका स्वामी है। चक्रवर्ती के इन रत्नों की एक-एक हजार देव रक्षा करते हैं, तथा साथ ही सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा भी वे रक्षित हैं। इतना ही नहीं सभी भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओं के द्वारा प्राप्त धनराशि तथा व्यन्तर देवों के द्वारा भेंट में आये हुए सब रत्न-आभूषणों एवं प्रचुर भोग सम्पदा के साधनों की भी प्राप्ति होती रहती है।

चक्रवर्ती समस्त भूमि का स्वामी होता है। उत्तर से हिमवान और पूर्व, दक्षिण, पश्चिम में लवण समुद्र की सीमा के अन्तर्गत जितनी भूमि है उस सभी को समझना चाहिए। गंगा-सिन्धु नदी और विजयार्ध पर्वत से भरत क्षेत्र के छह खण्ड हो गये हैं। चक्रवर्ती छहों खण्डों का स्वामी होता है। चक्रवर्ती धैर्यशाली एवं पुरुषार्थी होता है, और सम्पूर्ण प्रजा का सर्वोपरि रक्षक और पालक होता है।

चक्रवर्ती की आयुधशाला में सुदर्शन-चक्ररत्न उत्पन्न होता है जिसकी एक हजार देव रक्षा करते हैं। इस चक्ररत्न से चक्री दिग्विजय करने के लिए जाते हैं। दिग्विजय के समय चक्ररत्न सबसे आगे आकाश में चलता है उसके पीछे चक्रवर्ती का षडंग सैन्यबल चलता है, यह चक्र नारायण और चरम शरीर वालों को छोड़कर अन्य किसी भी शत्रु राजा पर चलाने पर व्यर्थ नहीं जाता है। प्रतिनारायण को भी यह सुदर्शन चक्र प्राप्त होता है, इसी के द्वारा नारायण के हाथ से प्रतिनारायण की मृत्यु हो जाती है। किन्तु चक्रवर्ती के लिए ऐसी बात नहीं है। उसका पुण्य विशिष्ट अतिशय युक्त होता है। चक्रवर्ती उस चक्ररत्न का प्रवर्तन स्वयं करते हैं। चक्रवर्ती का सम्यग्-दर्शन प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यादि के द्वारा स्पष्ट जाना जाता है। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा चक्रवर्ती की सेवा करते हैं अर्थात् उन राजाओं के मुकुटों के फूल चक्रवर्ती के चरणों में गिरते रहते हैं।

आदिपुराण में बतलाया है—कि छह खण्डवर्ती समस्त देव और मनुष्यों में जितना बल है उतना बल इस चक्रवर्ती की दोनों भुजाओं में होता है।

"यद्बलं चक्रभृत्क्षेत्रवर्तिनां नृसुधाशिनाम् ।
ततोऽधिकगुणं तस्यबभूव भुजयोर्बलम् ॥"

चक्रवर्ती की दृष्टि इतनी तीक्ष्ण होती है कि वह अपने चर्म चक्षुओं से सूर्य के बिम्ब में स्थित जिनबिम्ब का दर्शन कर लिया करता है, जिसका कि विषय क्षेत्र सबसे

अधिक सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजन से कुछ अधिक बताया गया है। अपने शरीर के अलावा वह एक कम ९६ हजार दूसरे वैक्रियिक शरीरों का निर्माण करने में समर्थ रहता है जिनके द्वारा वह एक साथ छ्यानवे हजार रानियों के साथ रमण कर सकता है। वज्रवृषभनाराचसंहनन समचतुरस्रसंस्थान आदि पुण्य प्रकृतियों के उदय से अभेद्य, अछेद्य, सुन्दर शरीर से विभूषित होता है। वीर्यान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, लाभान्तराय तथा दानान्तराय जैसे पाप कर्मों का उसके तीव्रक्षयोपशम होता है जिससे चक्रवर्ती अनेक असाधारण कार्य सम्पन्न करता है। इस प्रकार चक्रवर्ती का सातिशय पुण्य उसके सम्यग्दर्शन को स्पष्ट करता है ॥३८॥

तथा धर्मचक्रिणोऽपि सद्दर्शनमाहात्म्याद् भवन्तीत्याह—

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्चनूतपादाम्भोजाः ।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥३९॥

'दृष्टया' सम्यग्दर्शनमाहात्म्येन। 'वृषचक्रधरा भवन्ति' वृषो धर्मः तस्य चक्रं वृषचक्रं तद्धरन्ति ये ते वृषचक्रधरास्तीर्थंकराः। किंविशिष्टाः ? 'नूतपादाम्भोजाः' पादावेवाम्भोजे, नूते स्तुते पादाम्भोजे येषां। कैः ? 'अमरासुरनरपतिभिः' अमरपतयः ऊर्ध्वलोकस्वामिनः सौधर्मादयः, असुरपतयोऽधोलोकस्वामिनो धरणेन्द्रादयः, नरपतयः तिर्यग्लोकस्वामिनश्चक्रवर्तिनः। न केवलमेतैरेव नूतपादाम्भोजाः, किन्तु 'यमधरपतिभिश्च' यमं व्रतं धरन्ति ये ते यमधरा मुनयस्तेषां पतयो गणधरास्तैश्च। पुनरपि कथम्भूतास्ते ? सुनिश्चितार्था शोभनो निश्चितः परिसमाप्ति गतोऽर्थो धर्मादिलक्षणो येषां। तथा लोकशरण्याः अनेकविधदुःखदायिभिः कर्मारातिभिरुपद्रुतानां लोकानां शरणे साधवः ॥३९॥

धर्मचक्र के प्रवर्तक-तीर्थंकर भी सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से होते हैं, यह कहते हैं—

(दृष्टया) सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से (जीवाः) जीव (अमरासुरनरपतिभिः) देवेन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्तियों (च) तथा (यमधरपतिभिः) मुनियों के स्वामी गणधरों के द्वारा (नूतपादाम्भोजाः) जिनके चरण कमलों की स्तुति की जाती है, (सुनिश्चितार्थाः) जिन्होंने पदार्थ का अच्छी तरह निश्चय किया है तथा जो (लोकशरण्याः) कर्मरूप शत्रुओं के द्वारा पीड़ित लोगों को शरण देने में निपुण हैं ऐसे (वृषचक्रधराः) धर्मचक्र के धारक तीर्थंकर (भवन्ति) होते हैं।

टीकार्थ—सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से जीव धर्मचक्र को प्रवर्ताने वाले तीर्थंकर होते हैं। ऊर्ध्वलोक के स्वामी सौधर्मेन्द्रादि अमरपति होते हैं। अधोलोक के स्वामी धरणेन्द्र आदि असुरपति होते हैं, तिर्यग्लोक के स्वामी चक्रवर्ती तथा यमधरपति-मुनियों के स्वामी गणधरदेव उन तीर्थंकरों के चरण कमलों की स्तुति किया करते हैं वे धर्मादि पदार्थों को अच्छी तरह निश्चयरूप से जान चुके हैं और अनेक प्रकार के दुःख देने वाले कर्मरूपी शत्रुओं से पीड़ित जीवों को शरण देने में साधु होते हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन का वास्तविक अन्तिम फल निर्वाण है अर्थात् संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख-परमनिःश्रेयसपद का लाभ ही है परन्तु जब तक वह प्राप्त नहीं होता तब तक अनेक विशिष्ट अभ्युदयादि पदों की प्राप्ति होती रहती है। किन्तु फिर भी आश्चर्य है कि सम्यग्दृष्टि जीव इन पदों को अपना शुद्ध स्वपद नहीं मानता, उसकी महत्त्वाकांक्षा का विषय तो वही पद है जिसका वर्णन आगे किया जायेगा तथा जिसके अनन्तर और कोई भी पद नहीं है।

संसार में जितने अभ्युदय आदि पद हैं, वे सब सीमित हैं। एक साधारण राजा से लेकर चक्रवर्ती तक के सभी पदों का बल सीमित है, अधिकार क्षेत्र सीमित है, आज्ञा, ऐश्वर्य सीमित है, कार्य सीमित है और फल सीमित है, यद्यपि संसार के अभ्युदय आदि पद कथंचित् स्व-पर की दृष्टि से हितरूप भी हैं, किन्तु यह सुनिश्चित है कि इस कारिका में वर्णित जो अभ्युदय पद है वह एक ऐसा पद है जो अपनी सभी योग्यताओं के विषय में सर्वथा स्वतन्त्र, अनुपम, अपूर्व और अनन्त भी है। इस कारिका के द्वारा छठे परमस्थान का वर्णन किया गया है, उससे सामान्य अर्हन्त से प्रयोजन न होकर तीर्थंकर अर्हन्त से प्रयोजन है। क्योंकि प्रकृत ग्रन्थ में जिस धर्म का वर्णन किया जा रहा है उसके अर्थरूप से मूलवक्ता तीर्थंकर अर्हन्त भगवन्त ही हैं, जो पद सम्यग्दर्शन के फलस्वरूप बतलाया गया है। सम्यग्दर्शन का अंतिम फल संसार निवृत्ति है। परम अर्हन्त पद से ही धर्मतीर्थ का प्रवर्तन हुआ करता है। यह पद पूर्णरूपेण निर्दोष है इसीलिए प्रामाणिक है, दुःख विघातक है और उत्तम सुख का जनक है।

अरहन्त भगवान चार प्रकार के देवेन्द्रों के द्वारा स्तवनीय तथा सेवनीय हैं, क्योंकि गर्भकल्याणक आदि चारों कल्याणकों में विशिष्ट रूप से सेवादि कार्य देवेन्द्रादि ही करते हैं। तीर्थंकर भगवान १०० सौ इंद्रों के द्वारा पूजनीय माने गये हैं। यथा—

भवणालय चालीसा वितरदेवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामर चउवीसा चंदो सूरो णरो तिरिओ ।।

अर्थात्—भवनवासियों के चालीस, व्यन्तरों के ३२ इन्द्र, कल्पवासियों के चौबीस इन्द्र, ज्योतिषियों के चन्द्र, सूर्य दो इन्द्र, मनुष्यों का एक चक्रवर्ती इन्द्र और तिर्यञ्चों का एक सिंह इस प्रकार तीर्थंकर प्रभु शतेन्द्र वन्दित होते हैं। मोक्षपुरुषार्थ को सिद्ध करने में सम्यग्दर्शन असाधारण कारण माना गया है। आगम में तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध को कारणभूत दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाएं बतलाई गई हैं उनमें भी प्रमुख दर्शनविशुद्धि है। इसके बिना पन्द्रह भावनाएं स्वतन्त्ररूप से अपना कार्य करने में असमर्थ हैं। तथा इन पन्द्रह भावनाओं के बिना भी केवल एक दर्शन-विशुद्धि के रहने पर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो सकता है क्योंकि इसके साथ ही अन्य कोई भी भावना रहा करती है।

जिन्होंने सम्यक्त्व के साहचर्य से विधिपूर्वक केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में तीर्थकृतत्त्व भावना द्वारा अथवा अपायविचयनामक धर्मध्यान के द्वारा 'मैं वास्तविक श्रेयोमार्ग का उद्धार करके ही रहूंगा' अर्थात् 'संसार के दुःखों से संतप्त प्राणियों को दुःखों से निकालकर मोक्षमार्ग में लगा दूं' ऐसी तीव्र उत्कट भावना के बल से तीर्थंकर नामक सातिशय पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है और ऐसे पुण्य के फल-स्वरूप अर्हंत भगवान ही धर्मरूपी चक्र का प्रवर्तन करने वाले होते हैं। ढाई द्वीप में जितनी भी कर्मभूमियाँ हैं उन सभी कर्मभूमियों में तीर्थंकरों की उत्पत्ति नियत है। वह अनादि से है और अनन्तकाल तक रहेगी। तीर्थंकर सभी संसारी प्राणियों के लिए शरणभूत हैं, इनकी दिव्य देशना से चारों गतियों के समनस्क प्राणी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार समवसरण में उपस्थित होकर धर्म की शरण ग्रहण करते हैं।

यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में आता है किन्तु फिर भी अनेक पुण्यकर्मों और अतिशय विशेषों से युक्त यह कर्म उदय से पूर्व भी अनेक अद्‌भुत महत्ताओं को प्रकट किया करता है, यह उनके भाग्य सम्बन्धी अतिशयों में परिगणित किया जाता है जैसेकि—गर्भ में अवतीर्ण होने से छह माह पूर्व यदि वे स्वर्ग में हैं तो उनकी मन्दार माला आदि म्लान नहीं होती, यदि नरक में हैं तो देवों के द्वारा उनके उपसर्ग का निवारण हो जाया करता है। तथा पन्द्रह माह तक रत्नवृष्टि, माता-पिता की इन्द्रादिक के द्वारा पूजा का होना, छप्पन कुमारिकाओं द्वारा माता की सेवा का

होना, जन्म के समय अनाहत वाद्यध्वनि, दीक्षा कल्याणक में पालकी में समवसरण की रचना, इसप्रकार चार कल्याणकों में पाया जाने वाला भाग्य का अतिशय व्यक्त होता है। तीर्थंकर भगवान का धर्मचक्र विहार के समय आगे-आगे चलता है।

वाणी सम्बन्धी लोकोत्तर अतिशय तो प्रसिद्ध है ही। जो कि अनक्षरी होकर भी सर्व भाषात्मक है, सबके लिए हितरूप है, अन्तरंग आकांक्षादि दोषों से रहित है और बाहर में श्वासादि के कारण जिसका क्रम अवरुद्ध नहीं होता है, जो भाषा संबंधी अनेक दोषों से रहित है और समस्त शान्तपरिणामी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जिसका श्रवण करते हैं, उस अपूर्व तत्त्व एवं तीर्थ का प्ररूपण करने वाली सर्वज्ञवाणी के माहात्म्य का कौन वर्णन कर सकता है। जिसके कारण आज श्रेयोमार्ग का प्रवर्तन हो रहा है और भव्य जीव अज्ञान अन्धकार से निकलकर अद्भुत आत्मप्रकाश को प्राप्त कर अनन्तकाल के लिए सिद्धि सुख को प्राप्त कर लेते हैं ॥३९॥

तथा मोक्षप्राप्तिरपि सम्यग्दर्शनशुद्धानामेव भवतीत्याह—

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशंकम् ।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्तिदर्शनशरणाः ॥४०॥

'दर्शनशरणाः' दर्शनं शरणं संसारापायपरिरक्षकं येषां, दर्शनस्य वा शरणं रक्षणं यत्र ते। 'शिवं' मोक्षं। भजन्त्यनुभवन्ति। कथंभूतं ? 'अजरं' न विद्यते जरा वृद्धत्वं यत्र। 'अरुजं' न विद्यते रुग्व्याधिर्यत्र। 'अक्षयं' न विद्यतेलब्धानन्तचतुष्टयक्षयो यत्र। 'अव्याबाधं' न विद्यते दुःखकारणेन केनचिद्विविधा विशेषेण वा आबाधा यत्र। 'विशोकभयशंकं' विगता शोकभयशंका यत्र। 'काष्ठागतसुखविद्याविभवं' काष्ठां परमप्रकर्षं गतः प्राप्तः सुखविद्ययोर्विभवो विभूतिर्यत्र। विमलं विगतं मलं द्रव्यभावरूपकर्म यत्र ॥ ४० ॥

आगे, मोक्ष की प्राप्ति भी सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीवों को ही होती है, यह कहते हैं—

(दर्शनशरणाः) सम्यग्दृष्टि जीव (अजरं) वृद्धावस्था से रहित, (अरुजं) रोग से रहित, (अक्षयं) क्षय से रहित, (अव्याबाधं) विशिष्ट अथवा विविध बाधाओं से रहित, (विशोकभयशंकं) शोक, भय और शंका से रहित (काष्ठागतसुखविद्याविभवं)

सर्वोत्कृष्ट सुख और ज्ञान के वैभव से सहित तथा (विमलं) द्रव्यकर्म और भावकर्मरूप मल से रहित (शिवं) मोक्ष को (भजन्ति) प्राप्त होते हैं।

टीकार्थ—'दर्शनं शरणं संसारापायपरिरक्षकं येषां ते' सम्यग्दर्शन ही जिनके शरण है यानी संसार के दुःखों से रक्षा करने वाला है। अथवा 'दर्शनस्य शरणं रक्षणं यत्र ते' जिनमें सम्यग्दर्शन की रक्षा होती है वे दर्शन शरण कहे जाते हैं। ऐसे दर्शन के शरणभूत सम्यग्दृष्टि जीव ही शिव-मोक्ष का अनुभव करते हैं। वह मोक्ष अजरवृद्धावस्था से रहित है, अरुज–रोग रहित है, अक्षय–जिसका कभी भी क्षय नहीं होता ऐसे अनंत चतुष्टय के क्षय से रहित है। अव्याबाध है–जो अनेक प्रकार की बाधा-दुःख के कारणों से रहित हैं। विशोक भयाशंक है–शोक, भय, तथा शंका से रहित है, काष्ठागत सुख विद्या विभव है जो परमप्रकर्षता को प्राप्त हुए सुख और ज्ञान के वैभव से सहित है तथा विमल है-द्रव्यकर्म, भावकर्मरूप मल से रहित है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन के दो फल हो सकते हैं, जिनका वर्णन इस अध्याय में बतलाया गया है। एक तो कर्म से सम्बन्धित सांसारिक और दूसरा कर्म रहित संसारातीत मोक्ष। कर्मों का और संसार का सम्बन्ध नियतरूप है, जब तक कर्म हैं तब तक संसार है और संसार है तब तक कर्म हैं।

कर्म तीन प्रकार के हैं—द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म। इनमें पापकर्म और उनके फलोपभोग के लिए अधिष्ठानरूप नोकर्म सभी दृष्टि से अनिष्ट हैं। तथा पुण्य कर्म और उनके योग्य विपाकरूप नोकर्म सब इष्ट हैं। किन्तु परमार्थतः अन्ततोगत्वा मोक्ष तो सभी कर्मों के अभावरूप ही कहा गया है।

ऊपर कर्म से सम्बन्धित जिन अभ्युदय पदों के निमित्त से सम्यग्दर्शन का अन्तिम कर्म रहित संसारातीत परमनिश्रेयसरूप जो फल प्राप्त होता है, उसका यहां वर्णन किया जा रहा है। जीवन्मुक्त आर्हन्त्य अवस्था प्राप्त करने वाले को उसी भव से परमनिर्वाण की प्राप्ति होती है।

जब तक मोह का साम्राज्य है तब तक जन्म-मरण की परम्परा भी अक्षुण्ण बनी रहती है। किन्तु इसके विरुद्ध जब यह जीव योग्य कारणों के मिलने पर अपनी स्वाधीन और पराधीन स्थिति को समझकर लक्ष्यबद्ध हो जाता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि बन जाता है, उसी समय उसकी जन्म-मरणरूप परम्परा भी सीमित हो जाती है।

उस अवधि के अनन्तर ही शिवरूप अवस्था को अवश्य ही प्राप्त हो जाता है तथा संसारावस्था में पायी जाने वाली क्षय परम्परा का शिवपर्याय में सर्वथा अभाव हो जाता है। आशय यह है कि इस अवस्था के सिद्ध हो जाने पर यह जीव पुनः कभी आयु कर्म का बन्ध नहीं करता, जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता, सदा-सदा के लिए कर्म मुक्ति हो जाने से हमेशा शिवरूप ही रहा करता है। वेदनीय कर्म के उदय से संसारावस्था में पायी जाने वाली क्षुधा आदि बाधाओं का पूर्ण अभाव हो जाने से अव्याबाध सुख की प्राप्ति हो जाती है। इतना ही नहीं अपितु उनके एक असाधारण अन्तरंग कारण वेदनीयकर्म की निश्शेषता के निमित्त से प्रकट होने वाली निराकुलता को भी व्यक्त करता है। शिवपर्याय शोक, भय और शंका इन दुर्भावों से सर्वथा रहित है। मोहनीय कर्म के अभाव से अनन्त सुख, सम्यक्त्व और ज्ञानावरण कर्म के क्षय हो जाने से अनन्तज्ञान और दर्शनावरण कर्म के अभाव से अनन्त दर्शन प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार चार घातिया कर्मों के अभाव से चार अनन्तचतुष्टय प्रकट होते हैं, तथा शेष वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातियाकर्मों के अभाव से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है और अव्याबाध, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व तथा अगुरुलघुत्व गुण प्रकट हो जाते हैं।

सर्व प्रथम दर्शनमोह का अभाव हो जाने पर सम्यग्दर्शन के हो जाने से भूमि शुद्ध हो जाती है और बीज में अंकुर के उत्पादन की योग्यता आ जाती है। किन्तु इतने मात्र से ही वृक्ष उत्पन्न होकर फल हाथ में नहीं आ जाता है, उसके लिए अन्य भी अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। वह प्रयत्न योग और चारित्र है।

विवक्षित गुणस्थानों में चारित्र का क्षेत्र थोड़ा नहीं बहुत बड़ा है। सम्यक्त्वोत्पत्ति के बाद चौथे गुणस्थान से ऊपर दश गुणस्थानों में चारित्र का ही प्रभुत्व है तथा सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा होने में तपश्चरणरूप चारित्र का ही प्रबल साहाय्य काम किया करता है। सर्वोत्कृष्ट चारित्र-जिनलिंग धारण करके ही जीव अनन्य शरण होकर सम्यक्त्व की आराधना करते हैं और चारित्र मोहनीय कर्म का नाश करते हैं, तत्पश्चात् तीन घातिया कर्मों के नाश के प्रयत्नरूप सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ध्यान को ध्याते हैं और घातिया कर्मों का समूलरूप से निर्मूलन कर देते हैं। पश्चात् व्युपरतक्रियानिवर्ती ध्यान के द्वारा शेष अघातिया कर्मों को एक झटके में नष्ट कर सर्वोत्कृष्ट अन्तिम परिनिर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं। यह निर्वाण पद भी परम अरहन्त

पद पूर्वक ही मिलता है, और अरहन्त पद को भी परम दिगम्बर जिनमुद्रा धारण करने वाले तपस्वी ही साधना के द्वारा प्राप्त करते हैं। तथा इस जिनमुद्रा को वे ही धारण कर सकते हैं जो कि सज्जाति युक्त सद्गृहस्थ हैं। इस तरह कारण-परम्परा की अपेक्षा ये तीन परमस्थान निर्वाण की सिद्धि में बाह्य साधन हैं। साक्षात् कारण तो दोनों शुक्लध्यानों के सामर्थ्य से प्राप्त अरहन्त पद ही है। किन्तु सुरेन्द्रता और परम-साम्राज्य के विषय में यह नियम नहीं है कि जितने भी सम्यग्दृष्टि हैं वे सभी इन अभ्युदय पदों को प्राप्त करें ही! कोई इनमें से किसी एक या कोई दोनों पदों को प्राप्त करके भी संसार से मुक्त हो सकते हैं, तो कोई सुरेन्द्रता, चक्रवर्तित्व और तीर्थंकरत्व इन तीनों को प्राप्त करके शिवरमणी का वरण करते हैं ॥४०॥

यत् प्राक् प्रत्येकं श्लोकैः सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्तं तद्दर्शनाधिकारस्य समाप्तौ संग्रहवृत्तेनोपसंहृत्य प्रतिपादयन्नाह—

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्,
राजेन्द्र चक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृत सर्वलोकम्
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥४१॥

'शिवं' मोक्षं। 'उपैति' प्राप्नोति। कोऽसौ? 'भव्यः' सम्यग्दृष्टिः। कथंभूतः? 'जिनभक्तिः' जिने भक्तिर्यस्य। किं कृत्वा? 'लब्ध्वा'। कं? 'देवेन्द्रचक्रमहिमानं' देवानामिन्द्रा देवेन्द्रास्तेषां चक्रं संघातस्तत्र तस्य वा महिमानं विभूति माहात्म्यं। कथं-भूतं? 'अमेयमानं' अमेयोऽपर्यन्तं मानं पूजा ज्ञानं वा यस्य तममेयमानं। तथा 'राजेन्द्र-चक्रं' लब्ध्वा राज्ञामिन्द्राश्चक्रवर्तिनस्तेषां चक्रं चक्ररत्नं। किं विशिष्टं? 'अवनीन्द्र-शिरोऽर्चनीयं' अवन्यां निज निजपृथिव्यां इन्द्राःमुकुटबद्धाः राजानस्तेषां शिरोभिरर्चनीयं। तथा 'धर्मेन्द्रचक्रं' लब्ध्वा धर्मस्तस्योत्तमक्षमादिलक्षणस्य चारित्रलक्षणस्य वा इन्द्रा अनुष्ठातारः प्रणेतारो वा तीर्थंकरादयस्तेषां चक्रं संघातं धर्मेन्द्राणां वा तीर्थकृतां सूचकं चक्रं धर्मचक्रं। कथंभूतं? 'अधरीकृतसर्वलोकं' अधरीकृतो भृत्यतां नीतः सर्वलोक-स्त्रिभुवनं येन तत्। एतत्सर्वं लब्ध्वा पश्चाच्छिवं चोपैति भव्य इति ॥४१॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां
प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

पूर्व में पृथक्-पृथक् श्लोकों के द्वारा सम्यग्दर्शन का जो फल कहा है उसे अब दर्शनाधिकार की समाप्ति के समय संग्रहरूप से उपसंहार करते हुए कहते हैं—

(जिनभक्तिः) जिनेन्द्र भगवान का भक्त (भव्यः) सम्यग्दृष्टि पुरुष (अमेयमानं) अपरिमित प्रतिष्ठा अथवा ज्ञान से सहित (देवेन्द्रचक्रमहिमानं) इन्द्र समूह की महिमा को (अवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयं) मुकुटबद्ध राजाओं के मस्तकों से पूजनीय (राजेन्द्रचक्रं) चक्रवर्ती के चक्ररत्न को (च) और (अधरीकृतसर्वलोकं) समस्तलोक को नीचा करने वाले (धर्मेन्द्रचक्रं) तीर्थंकर के धर्मचक्र को (लब्ध्वा) प्राप्त कर (शिवं) मोक्ष को (उपैति) प्राप्त होता है।

टीकार्थ—जिनेन्द्र भगवान में सातिशय भक्ति रखने वाला भव्य सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग के इन्द्र समूह विभूतिरूप उस माहात्म्य को प्राप्त करता है जिसका मान-ज्ञान अपरिमित होता है। वह राजेन्द्रचक्र-चक्रवर्ती के उस सुदर्शन चक्र को प्राप्त करता है जो अपनी-अपनी पृथ्वी के मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा अर्चनीय होता है। तथा उत्तम-क्षमादि अथवा चारित्रलक्षण वाले धर्म के जो अनुष्ठाता प्रणेता ऐसे तीर्थंकरों के समूह को अथवा तीर्थंकरों के सूचक उस धर्मचक्र को प्राप्त होता है जो अपने माहात्म्य से तीनों लोकों को अपना सेवक बना लेता है। इन सभी पदों को प्राप्त करने के पश्चात् अन्त में वह मोक्ष को प्राप्त होता है।

इस प्रकार समन्तभद्रस्वामी विरचित उपासकाध्ययन की प्रभाचन्द्र आचार्य
विरचित टीका में प्रथम परिच्छेद पूर्ण हुआ।

विशेषार्थ—अनादिकाल से जिन जीवों में सिद्ध होने की योग्यता पायी जाती है वे भव्य हैं। ऐसे जीवों के काललब्धि आदि निमित्त मिलने पर सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति हो जाया करती है ऐसे ही जीव जब अपने पुरुषार्थ के बल पर अन्य निमित्तों के साहचर्य से अपने शुद्ध स्वभाव में पूर्णतया लीनता तथा शैलेश्य भाव को प्राप्त हो जाते हैं तब वे सिद्धि को भी प्राप्त कर लेते हैं। संसार में भव्य जीव ही जिनेन्द्र भगवान में वास्तविक भक्ति रखने वाले सम्यग्दृष्टि होकर शिव पर्याय को प्राप्त करते हैं।

सिद्ध जीव संसार सम्बन्धी सभी विकल्पों और उनके कारणभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से रहित हैं। पर-सम्पर्क से सर्वथा रहित होने के कारण एकरूप हैं। अपने

शुद्धज्ञानादि गुणों के अखण्ड पिण्डरूप में विद्यमान रहते हुए भी वे परसंबंध निमित्तक माने जाने वाले सभी भेदों से एकांततः विमुक्त हैं, परन्तु ऐसा होते हुए भी आगम में भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा उनमें भी अनेक प्रकार से भेदव्यवहार का उल्लेख पाया जाता है, उसी प्रकार यहां इस कारिका के आशय को भी समझना चाहिए। यों तो अपने शुद्ध गुणधर्म की अपेक्षा संसार से मुक्त हो जाने वाले सिद्धों में कोई अन्तर नहीं है, सब एकरूप हैं। फिर भी उनमें पूर्व पर्याय के आश्रय से भेद भी पाया जाता है। आशय यह है कि सम्यग्दर्शन के निमित्त से जो संसार में रहते हुए छह परमस्थानों का लाभ हुआ करता है, उनकी अपेक्षा सातवें परमस्थान में भी भेद कहा गया है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के निमित्त से शिवपर्याय को जो जीव प्राप्त करता है उसमें पहले तीन पद– सज्जाति, सद्गृहस्थता और पारिव्राज्य तो आवश्यक निमित्त हैं। परन्तु अन्तिम तीन पद सुरेन्द्रता, परमसाम्राज्य-चक्रवर्तित्व और अरहन्ततीर्थंकरत्व ये तीन आवश्यक निमित्त नहीं हैं। इनके बिना भी कोई सज्जातीय, सद्गृहस्थ सम्यग्दृष्टि जीव दीक्षा धारण कर आत्मसाधना करके शिवपर्याय को प्राप्त कर लेते हैं। सुरेन्द्रतादि के समान प्रारम्भिक तीन पद अनावश्यक नहीं हैं। सज्जातित्वादि तो मोक्ष की प्राप्ति में साधन होने के कारण सर्वथा आवश्यक हैं।

यद्यपि यह ठीक है कि सामान्यतया तीनों ही पद कर्माधीन होने से परतन्त्र हैं, नश्वर हैं तथा अनेक दुःखों से आक्रान्त भी हैं, इसलिए शिवपर्याय की अपेक्षा हेय हैं। तथापि सम्यग्दर्शन के सहचारी पुण्य विशेष के फल होने के कारण सातिशय एवं संसार में सर्वाधिक सम्मान्य हैं। गौणरूप से कहे गये भी ये तीनों पद जो सुरेन्द्र, राजेन्द्र और धर्मेन्द्र ये तीनों एक इन्द्र शब्द के द्वारा कहे गये हैं, वह इन्द्र शब्द परमैश्वर्य का वाचक होने से शासन के अधिकार की योग्यता को मुख्यतया प्रकट करता है। क्योंकि ऐश्वर्य में आज्ञा की प्रधानता रहा करती है, न कि वैभव की। यद्यपि उनका वैभव भी अधिक रहता है फिर भी ऐश्वर्य में उसकी अपेक्षा नहीं है। किसी व्यक्ति का वैभव कम हो या ज्यादा परन्तु उसकी आज्ञा प्रवृत्त हुआ करती हो तो वही वास्तव में इन्द्र कहलाता है। इस तरह के पद तीन ही हैं, और वे नियम से सम्यग्दृष्टि को ही प्राप्त होते हैं, तथा अन्त में वे नियम से शिवपर्याय को भी प्राप्त होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इस तरह के किसी भी पद की वास्तव में आकांक्षा नहीं रखता, उसका अन्तिम लक्ष्य साध्य पद तो अपना शुद्ध शिव स्वरूप ही है। हाँ जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं

होती तब तक उसको संसार में इस तरह के पद भी प्राप्त होते रहते हैं। फिर भी यह नियम नहीं है कि वह इन पदों को प्राप्त करे ही। अन्त में तो ये अनन्तकाल के लिए संसार का परित्याग कर ध्रुव, अचल, अनुपम, शाश्वत शिवस्वरूप सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेते हैं। जैसे कि—तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ तीर्थंकर चक्रवर्ती और कामदेव पदों को भोगकर एक साथ सबका परित्याग कर परमोत्कृष्ट मोक्षपुरुषार्थ को सिद्ध करके शिवस्वरूप हो गये ॥४१॥

इस प्रकार समन्तभद्रस्वामिविरचित उपासकाध्ययन की प्रभाचन्द्र विरचित टीका में प्रथम (सम्यग्दर्शन अधिकार) पूर्ण हुआ।

ज्ञानाधिकारोद्वितीयः

अथ दर्शनरूपं धर्मं व्याख्याय ज्ञानरूपं तं व्याख्यातुमाह—

अन्यूनमनतिरिक्तं यथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ १ ॥

'वेद' वेत्ति । 'यत्तदाहुर्ब्रुवते । 'ज्ञानं' भावश्रुतरूपं । के ते ? 'आगमिनः' आगमज्ञाः । कथं वेद ? 'निःसन्देहं' निःसंशयं यथा भवति तथा । 'विना च विपरीतात्' विपरीताद्विपर्ययाद्विनैव विपर्ययव्यवच्छेदेनेत्यर्थः । तथा 'अन्यूनं' परिपूर्णं सकलं वस्तुस्वरूपं यद्वेद 'तद्ज्ञानं' न न्यूनं विकलं तत्स्वरूपं यद्वेद । तर्हि जीवादि वस्तुस्वरूपेऽविद्यमानमपि सर्वथानित्यत्वक्षणिकत्वाद्वैतादिरूपं कल्पयित्वा यद्वेत्ति तदधिकार्थवेदित्वात् ज्ञानं भविष्यतीत्यत्राह—'अनतिरिक्तं' वस्तुस्वरूपादनतिरिक्तमनधिकं यद्वेद तज्ज्ञानं न पुनस्तद्वस्तुस्वरूपादधिकं कल्पनाशिल्पिकल्पितं यद्वेद । एवं चैतद्विशेषण चतुष्टयसामर्थ्याद्यथाभूतार्थवेदकत्वं तस्य संभवति तद्दर्शयति–'याथातथ्यं' यथावस्थितवस्तुस्वरूपं यद्वेद तद्ज्ञानं भावश्रुतं । तद्रूपस्यैव ज्ञानस्य जीवाद्यशेषार्थानामशेषविशेषतः केवलज्ञानवत् साकल्येन स्वरूपप्रकाशन सामर्थ्यसम्भवात् । तदुक्तं—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्चह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१॥ इति

अतस्तदेवात्र धर्मत्वेनाभिप्रेतं मुख्यतो मूलकारणभूततया स्वर्गापवर्ग साधन सामर्थ्य संभवात् ॥ १ ॥

(यत्) जो पदार्थ को (अन्यूनं) न्यूनता रहित (अनतिरिक्तं) अधिकता रहित (यथातथ्यं) ज्यों का त्यों (विपरीतात्) विपरीतता (विना) रहित (च) और (निःसन्देहं) सन्देह रहित (वेद) जानता है (तत्) उसे (आगमिनः) आगम के ज्ञाता पुरुष (ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान (आहु) कहते हैं।

टीकार्थ—ज्ञान शब्द से यहाँ भावश्रुत ज्ञान विवक्षित है। सर्वज्ञ जानने को ज्ञान कहते हैं। सम्यग्ज्ञान पदार्थों को सन्देह रहित जानता है, और वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा ही जानता है, विपरीतता रहित जानता है, न्यूनता रहित समस्त वस्तु स्वरूप को जानता है अर्थात् परस्पर विरोधी नित्यानित्यादि दो धर्मों में से किसी एक को छोड़कर नहीं जानता किन्तु उभय धर्मों से युक्त पूर्ण वस्तु को जानता है, अधिकता रहित जानता है अर्थात् वस्तु में नित्य एकान्त अथवा क्षणिकएकान्त आदि जो धर्म अविद्यमान हैं, उनको कल्पित करके नहीं जानता, यदि कल्पित करके जानेगा तो अधिक अर्थ को जानने वाला हो जायेगा।

अतः इन चार विशेषणों से सहित ज्ञान यथावत् वस्तुतत्त्व को जानता है। इस तरह स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान भी जीवादि समस्त पदार्थों को उनकी सब विशेषताओं सहित जानता है, क्योंकि उसमें भी केवलज्ञान के समान पूर्णरूप से वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करने का सामर्थ्य है। कहा भी है—

'स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान ये दोनों ही समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं। इनमें भेद केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष की अपेक्षा है अर्थात् केवलज्ञान प्रत्यक्षरूप से जानता है और श्रुतज्ञान परोक्षरूप से जानता है। जो श्रुतज्ञान वस्तु के एक धर्म को ही ग्रहण करता है वह अवस्तु अर्थात् मिथ्या होता है।

इस प्रकार यहाँ भावश्रुतज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान ही धर्म शब्द से अभिप्रेत है क्योंकि वही मूलकारण होने से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त कराने का सामर्थ्य रखता है।

विशेषार्थ—मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का सर्वज्ञ ने जैसा वर्णन किया है उसको संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित जैसे-का-तैसा जानने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से पाँच भेद हैं। इनमें से आदि के चार ज्ञान तो क्षायोपशमिक हैं। वे अपने-अपने प्रतिपक्षी मतिज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से होते हैं और केवलज्ञान क्षायिक

है। आदि के तीन ज्ञान समीचीन भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं। मिथ्या होने का अन्तरंग कारण मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय है।

यहाँ पर जो ज्ञान का कथन किया है उससे भावश्रुतज्ञान का ग्रहण किया है। मनुष्य जो बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करते हैं, वह पुरुषार्थ समीचीन शास्त्रों के स्वाध्याय के द्वारा भावश्रुतज्ञान को प्राप्त करने के लिए होता है। अवधिज्ञान, मनःपर्यय और केवलज्ञान बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं होते। किन्तु प्रतिपक्षी आवरणों के अभाव में स्वयं प्रकट हो जाते हैं। यद्यपि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। तथापि वह मति-ज्ञान इतना साधारण ज्ञान है कि वह श्रुतज्ञान के अवलम्बन के बिना मोक्षमार्ग में सहायक नहीं होता। इस प्रकार बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ के द्वारा भावश्रुतज्ञान ही प्राप्त किया जा सकता है। तथा भावश्रुत ज्ञान का विकास द्रव्यश्रुत के आधार से होता है अतः मनुष्यों को चाहिए कि वे द्रव्यश्रुत के अभ्यास का सतत अध्ययन मनन चिन्तन करें। द्रव्यश्रुत वह है जो अनन्तधर्मात्मक वस्तुतत्त्व का वर्णन स्याद्वादशैली से करता है। बिना स्याद्वाद के वस्तुतत्त्व का अन्यून, अनतिरिक्त, अविपरीत, निःसन्देह और यथार्थज्ञान नहीं हो सकता।

यदि कोई कहे कि वस्तु को न्यूनता और अधिकता आदि से रहित ज्यों का त्यों तो केवलज्ञान ही जान सकता है, अन्य ज्ञानों में वह सामर्थ्य नहीं है तो सम्यग्ज्ञान का यह लक्षण सदोष ठहरेगा, किन्तु यहाँ केवलज्ञान की विवक्षा नहीं है, भावश्रुतज्ञान की विवक्षा है। यहाँ अन्यून, अनतिरिक्त आदि से रहित का इतना ही अर्थ लेना चाहिए कि वस्तु में रहने वाले जितने भी धर्म हैं उनको छोड़ा नहीं जावे और जो धर्म वस्तु में नहीं है उनको न माना जावे। स्याद्वाद, वस्तु का कथन करते समय जिसकी विवक्षा है उसे मुख्य और जिसकी विवक्षा नहीं है उसे गौण कर कथन करता है, सर्वथा छोड़ता नहीं।

भावश्रुतज्ञान का आधारभूत द्रव्यश्रुत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इस प्रकार चार भेदों में विभक्त है ॥१॥४२॥

तस्यविषयभेदाद् भेदान् प्ररूपयन्नाह—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥२॥

'बोधः समीचीनः' सत्यं श्रुतज्ञानं । 'बोधति' जानाति । कं ? प्रथमानुयोगं । किं पुनः प्रथमानुयोग शब्देनाभिधीयते इत्याह—'चरितं पुराणमपि' एकपुरुषाश्रिता कथा चरितं त्रिषष्टिशलाकापुरुषाश्रिता कथा पुराणं, तदुभयमपि प्रथमानुयोग शब्दाभिधेयं । तस्य प्रकल्पितत्वव्यवच्छेदार्थमर्थाख्यानमिति विशेषणं, अर्थस्य परमार्थस्य विषयस्याख्यानं प्रतिपादनं यत्र येन वा तं । तथा 'पुण्यं' प्रथमानुयोगं हि शृण्वतां पुण्यमुत्पद्यते इति पुण्यहेतुत्वात्पुण्यं तदनुयोगं । तथा 'बोधिसमाधिनिधानं' अप्राप्तानां हि सम्यग्दर्शनादीनां प्राप्तिर्बोधिः, प्राप्तानां तु पर्यन्तप्रापणं समाधिः ध्यानं वा धर्म्यं शुक्लं च समाधिः तयोर्निधानं । तदनुयोगं हि शृण्वतां सद्दर्शनादेः प्राप्त्यादिकं धर्म्यध्यानादिकं च भवति ।। २ ।।

आगे, विषय भेद की अपेक्षा सम्यग्ज्ञान के भेदों का वर्णन करते हुए सर्व प्रथम प्रथमानुयोग का लक्षण कहते हैं—

(समीचीनः बोधः) सम्यक् श्रुतज्ञान (अर्थाख्यानं) परमार्थ विषय का कथन करने वाले (चरितं) एक पुरुषाश्रित कथा (अपि) और (पुराणं) त्रेशठशलाका पुरुष सम्बन्धी कथारूप (पुण्यं) पुण्यवर्धक तथा (बोधिसमाधिनिधानं) बोधि और समाधि के निधान (प्रथमानुयोगं) प्रथमानुयोग को (बोधति) जानता है ।

टीकार्थ—सम्यग्श्रुतज्ञान प्रथमानुयोग को जानता है । जिसमें एक पुरुष से सम्बन्धित कथा होती है वह **चरित्र** कहलाता है, और जिसमें त्रेशठशलाका पुरुषों से सम्बन्ध रखने वाली कथा होती है उसे **पुराण** कहते हैं । चरित्र और पुराण ये दोनों ही प्रथमानुयोग शब्द से कहे जाते हैं । यह प्रथमानुयोग कल्पित अर्थ का वर्णन नहीं करता, किन्तु परमार्थभूत विषय का प्रतिपादन करता है इसलिए इसे **अर्थाख्यान** कहते हैं । इसको पढ़ने और सुनने वालों को पुण्य का बन्ध होता है इसलिए इसे **पुण्य** कहा है । तथा यह प्रथमानुयोग बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शनादिरूप रत्नत्रय की प्राप्ति और समाधि–अर्थात् धर्म्य और शुक्लध्यान की प्राप्ति का निधान–खजाना है । इस प्रकार इस अनुयोग को सुनने से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति और धर्म्यध्यानादिक होते हैं ।

विशेषार्थ—प्रथमानुयोग जिनवाणी का एक प्रमुख अंग है । प्रथमानुयोग का अर्थ है कि प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि या अव्रतिक अव्युत्पन्न श्रोताओं को लक्ष्य करके जो प्रवृत्त हो । इसमें त्रेसठशलाका पुरुषों आदि का वर्णन किया गया है । कथाओं के

माध्यम से वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करने वाला यह अंग प्राथमिक जीवों के लिए अत्यन्त हितकारक है। इसको सुनकर जीवों को बोधि-समाधि की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति को बोधि कहते हैं और तत्त्वों का अच्छी तरह बोध होना अथवा धर्मध्यान-शुक्लध्यान को प्राप्त करना समाधि है। प्रथमानुयोग बोधि-समाधि का खजाना है। प्रथमानुयोग में सत्य-कथाओं का वर्णन है। इसमें उपन्यास की तरह कपोल कल्पित कथाएँ नहीं हैं। तीर्थंकर चक्रवर्ती बलभद्रादि महापुरुषों के जीवनवृत्त को पढ़ने से मन पवित्र होता है तथा हेयोपादेय का विवेक जागृत होता है। संसारासक्त जीवों की क्या दशा होती है तथा अनासक्त जीवों की कैसी स्थिति होती है यह सब पुराण पुरुषों की जीवनी का वर्णन करने वाले महापुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण, प्रद्युम्नचारित्र आदि का अध्ययन करने से विदित होता है ।।२।।४३।।

तथा—

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ।।३।।

'तथा' तेन प्रथमानुयोगप्रकारेण। मतिर्मननं श्रुतज्ञानं। अवैति जानाति। कं? 'करणानुयोगं' लोकालोकविभागं पंचसंग्रहादिलक्षणं। कथंभूतमिव? 'आदर्शमिव' यथा आदर्शो दर्पणो मुखादेर्यथावत्स्वरूप प्रकाशकस्तथा करणानुयोगोऽपि स्वविषयस्यार्थ प्रकाशकः। 'लोकालोकविभक्तेः' लोक्यन्ते जीवादयः पदार्था यत्रासौ लोकस्त्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयपरिमितरज्जुपरिमाणः, तद्विपरीतोऽलोकोऽनन्तमानावच्छिन्न शुद्धाकाशस्वरूपः तयोर्विभक्तिर्विभागो भेदस्तस्याः आदर्शमिव। तथा 'युगपरिवृत्तेः' युगस्य कालस्योत्सर्पिण्यादेः परिवृत्तिः परावर्तनं तस्या आदर्शमिव। तथा 'चतुर्गतीनां च' नरकतिर्यग्मनुष्यदेवलक्षणानामादर्शमिव ।।३।।

करणानुयोग का लक्षण—

(तथा) प्रथमानुयोग की तरह (मतिः) मननरूप श्रुतज्ञान, (लोकालोकविभक्तेः) लोक और अलोक के विभाग (युगपरिवृत्तेः) युगों के परिवर्तन (च) और (चतुर्गतीनां) चारों गतियों के लिए (आदर्शमिव) दर्पण के समान (करणानुयोगं च) करणानुयोग को भी (अवैति) जानता है।

टीकार्थ—जिस प्रकार सम्यग्ज्ञान प्रथमानुयोग को जानता है उसी प्रकार करणानुयोग को भी जानता है। करणानुयोग में लोक-अलोक का विभाग तथा पंचसंग्रह आदि भी समाविष्ट है। यह करणानुयोग दर्पण के समान है। अर्थात् जिस प्रकार दर्पण मुख आदि के यथार्थ स्वरूप का दर्शक है, उसी प्रकार करणानुयोग भी स्व विषय का प्रकाशक होता है। जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं उसे **लोक** कहते हैं। यह लोक तीन सौ तेंतालीस राजू प्रमाण है। इससे विपरीत अनन्त प्रमाणरूप जो शुद्ध-परद्रव्यों के संसर्ग से रहित आकाश है वह अलोक कहलाता है।

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी आदि काल के भेदों को **युग** कहते हैं। इनमें सुषमादि छह काल का परिवर्तन होता है वह **युगपरिवर्तन** है, नरक, तिर्यंच, मनुष्य देवादि लक्षण वाली चार गतियाँ हैं। करणानुयोग इन सबका विशद वर्णन करने के लिए दर्पण के समान है।

विशेषार्थ—जिसमें अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक का वर्णन होता है, जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर और मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, तथा पर्वत, नदी, सरोवरादि हैं, इन सभी के विस्तार को निकालने के लिए करणसूत्रों-गणितसूत्रों का वर्णन होता है, उसे करणानुयोग कहते हैं। इसी प्रकार जीव की अशुद्धावस्था का वर्णन, गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमास आदि के माध्यम से किया जाता है। जीव द्रव्य की यद्यपि दो अवस्थायें हैं, किन्तु यह जीव की अशुद्ध-संसारावस्था का ही प्रधानता से वर्णन करता है।

अनादिकाल से किन-किन कारणों से इस जीवात्मा की कैसी-कैसी अवस्थाएँ हो रही हैं और उनमें से वह अपने शुद्धस्वरूप को किस तरह से प्राप्त कर सकता है, इस प्रकार आत्मा की हेय-उपादेय दो अवस्थाओं में से प्रथम हेयरूप, परनिमित्तक, आकुलता एवं दुःखस्वरूप पराधीन अवस्था का और उससे विपरीत इन अवस्थाओं से रहित होने के कारण शुद्ध, मुक्त निराकुल सुखस्वरूप अपनी अनन्त स्वाधीन उपादेय अवस्था का भी प्रत्यय कराता है। अशुद्ध निश्चयनय के विषयभूत इस वर्णन को सर्वथा हेय कहकर उस पर से मिथ्यात्व एवं प्रमत्तबुद्धि को हटाकर अपने समीचीन शुद्ध स्वरूप में उपयुक्त होने और उसी में सावधानतया स्थिर रहने का उपदेश देता है इस प्रकार चारों गतियों के जीवों की दशा का वर्णन करने वाला करणानुयोग है। षट्खण्डागम-जीवस्थान, खुद्दाबन्ध, बंधस्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्गणाखंड, महाबन्ध,

त्रिलोकसार, त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति, जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड लोकविभाग आदि ग्रन्थ करणानुयोग के ग्रन्थ कहलाते हैं ।।३।।४४।।

तथा—

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षांगम् ।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ।।४।।

'सम्यग्ज्ञानं' भावश्रुतरूपं । 'विजानाति' विशेषेण जानाति । कं ? 'चरणानुयोगसमयं' चारित्रप्रतिपादकं शास्त्रमाचाराङ्गादि । कथंभूतं ? 'चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्' चारित्रस्योत्पत्तिश्च वृद्धिश्च रक्षा च तासामङ्ग कारणं अंगानि वा कारणानि प्ररूप्यन्ते यत्र । केषां तदङ्ग ? 'गृहमेध्यनगाराणां' गृहमेधिनः श्रावकाः अनगारा मुनयस्तेषां ।। ४ ।।

अब चरणानुयोग का लक्षण कहते हैं—

(सम्यग्ज्ञानं) भावश्रुतरूप सम्यग्ज्ञान (गृहमेध्यनगाराणां) गृहस्थ और मुनियों के (चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षांगं) चारित्र की उत्पत्ति वृद्धि और रक्षा के कारणभूत (चरणानुयोगसमयं) चरणानुयोग शास्त्र को (विजानाति) जानता है ।

टीकार्थ – सम्यग्ज्ञान चरणानुयोग को भी जानता है । चारित्र का प्रतिपादन करने वाले आचारांग आदि शास्त्र चरणानुयोग शास्त्र कहलाते हैं । इन शास्त्रों में गृहस्थ-श्रावक और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के कारणों का विशद वर्णन है । समीचीन श्रुतज्ञान इन सब शास्त्रों को विशेषरूप से जानता है ।

विशेषार्थ—'आचरंति-मोक्षमार्गमाराधयन्ति अस्मिन्ननेनेति वा आचारः, जिसमें गृहस्थ और मुनियों के चारित्र का वर्णन पाया जाता है उसे चरणानुयोग कहते हैं । गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, चारित्र की वृद्धि कैसे होती है, तथा चारित्र रक्षण के क्या उपाय हैं, इन सभी का निरूपण जिसमें होता है उसे चरणानुयोग शास्त्र कहते हैं ।

प्रथम आचारांग में—किस तरह आचरण करें ? किस तरह खड़े हों ? किस तरह बैठें ? किस तरह शयन करें ? किस तरह भाषण करें ? किस तरह भोजन करें ? जिससे कि पाप का बन्ध न हो । अर्थात् किस तरह से इन क्रियाओं के तथा

अन्य भी इसी तरह की क्रियाओं के करने पर भी पाप का बन्ध नहीं होता ? इत्यादि प्रश्नों के अनुसार यत्नपूर्वक आचरण करें, यत्नपूर्वक खड़े हों। यत्नपूर्वक बैठें। यत्नपूर्वक शयन करें। यत्नपूर्वक भाषण करें। यत्नपूर्वक भोजन करें। इस तरह से पाप का बन्ध नहीं होता। अर्थात् किसी भी क्रिया के यत्नाचारपूर्वक प्रमाद रहित होकर करने पर पाप का बन्ध नहीं होता। इत्यादि उत्तररूप वाक्यों के द्वारा मुनियों के समस्त आचरण का वर्णन है।

सातवें उपासकाध्ययन अंग में—श्रावकों के सम्यग्दर्शनादि ग्यारह प्रतिमा सम्बन्धी व्रत, गुण, शील, आचार तथा अन्य भी क्रियाकाण्डों का सविस्तार वर्णन है। इस प्रकार श्रावक एवं मुनिधर्म का वर्णन करने वाले इन अंगों से चरणानुयोग के अनेक शास्त्रों की रचना हुई है। जैसे—उपासकाध्ययन, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, सागारधर्मामृत, अनगारधर्मामृत, मूलाचार तथा भगवती आराधना आदि चरणानुयोग के प्रमुख ग्रन्थ हैं ॥४॥४५॥

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥५॥

'द्रव्यानुयोगदीपो' द्रव्यानुयोगसिद्धान्तसूत्रं तत्त्वार्थसूत्रादिस्वरूपो द्रव्यागमः स एव दीपः स। 'आतनुते' विस्तारयति अशेषविशेषतः प्ररूपयति। के ? 'जीवाजीवसुतत्त्वे' उपयोगलक्षणो जीवः तद्विपरीततोऽऽजीवः तावेव शोभने अबाधिते तत्त्वे वस्तुस्वरूपे आतनुते। तथा 'पुण्यापुण्ये' सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि हि पुण्यं ततोऽन्यत्कर्मापुण्यमुच्यते, ते च मूलोत्तर प्रकृतिभेदेनाशेषविशेषतो द्रव्यानुयोगदीप आतनुते। तथा 'बन्धमोक्षौ च' मिथ्यात्वाविरति प्रमादकषाय योगलक्षण हेतु वशादुपार्जितेन कर्मणा सहात्मनः संश्लेषो बन्धः बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्षस्तावप्यशेषतः द्रव्यानुयोगदीप आतनुते। कथं ? श्रुतविद्यालोकं श्रुतविद्या भावश्रुतं सैवालोकः प्रकाशो यत्र कर्मणि तद्यथाभवत्येवं जीवादीनि स प्रकाशयतीति ॥५॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययन
टीकायां द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥

आगे द्रव्यानुयोग का स्वरूप कहते हैं—

(द्रव्यानुयोगदीपः) द्रव्यानुयोगरूपी दीपक (जीवाजीवसुतत्त्वे) जीव, अजीव प्रमुख तत्त्वों को (पुण्यापुण्ये च) पुण्य और पापको (बन्धमोक्षौ) बन्ध और मोक्ष को तथा चकार से आस्रव संवर और निर्जरा को (श्रुतविद्यालोकं) भावश्रुतज्ञानरूप प्रकाश को फैलाता हुआ (आतनुते) विस्तृत करता है।

टीकार्थ—'द्रव्यानुयोग दीपो' द्रव्यानुयोग सिद्धान्त सूत्रतत्त्वार्थसूत्रादिरूप द्रव्यागमरूपदीपक उपयोग लक्षण वाला जीव द्रव्य कहलाता है। इससे विपरीत उपयोग लक्षण से रहित अजीवद्रव्य है। सातावेदनीय, शुभायु, शुभनाम और शुभगोत्र ये पुण्य कर्म कहलाते हैं। इससे विपरीत असातावेदनीय, अशुभायु, अशुभनाम और अशुभगोत्र ये पाप कर्म कहलाते हैं। इन सबके मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति के भेद से अनेक भेद हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप हेतुओं से आत्मा और कर्म का जो परस्पर संश्लेष होता है, उसे बन्ध कहते हैं, बन्ध के हेतुओं के अभावरूप संवर और निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का आत्मा से पृथक् हो जाना मोक्ष कहलाता है। श्लोक में आये हुए 'च' शब्द से आस्रव, संवर, निर्जरा का भी ग्रहण होता है। इस प्रकार द्रव्यानुयोगरूपी दीपक नौ पदार्थों को श्रुतविद्या-भावश्रुतज्ञानरूपी प्रकाश प्रकाशित करता है अर्थात् जानता है।

विशेषार्थ—जिस अनुयोग में छह द्रव्य, सात तत्त्व नौ पदार्थ तथा पञ्चास्तिकाय का विस्तार से वर्णन हो उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं।

आग्रायणीय पूर्व में सातसौ सुनय तथा दुर्नय, पञ्चास्तिकाय, षड्द्रव्य सप्ततत्त्व नौ पदार्थ आदि का वर्णन है। इससे द्रव्यानुयोग के अनेक शास्त्रों की रचना हुई है। जैसे तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि। इस तरह मोक्षाभिलाषी पुरुष चारों अनुयोगों में समानरूप से श्रद्धान रखते हैं और अपने ज्ञान का विकास करते हैं ॥५॥४६॥

इस प्रकार समन्तभद्रस्वामिविरचित उपासकाध्ययन की प्रभाचन्द्र-विरचित टीका में द्वितीय परिच्छेद (ज्ञानाधिकार) पूर्ण हुआ।

चारित्राधिकारस्तृतीयः

अथ चारित्ररूपं धर्मं व्याचिख्यासुराह—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥१॥

'चरणं' हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चारित्रं । 'प्रतिपद्यते' स्वीकरोति । कोऽसौ ? 'साधु' भव्यः । कथंभूतः ? 'अवाप्तसंज्ञानः' । कस्मात् ? 'दर्शनलाभात्' । तल्लाभोऽपि तस्य कस्मिन् सति संजातः ? 'मोहतिमिरापहरणे' मोहो दर्शनमोहः स एव तिमिरं तस्यापहरणे यथासम्भवमुपशमे क्षये क्षयोपशमे वा । अथवा मोहो दर्शनचारित्रमोहस्तिमिरं ज्ञानावरणादि तयोरपहरणे । अयमर्थः—दर्शनमोहापहरणे दर्शनलाभः । तिमिरापहरणे सति दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः भवत्यात्मा । ज्ञानावरणापगमे हि ज्ञानमुत्पद्यमानं सद्दर्शनप्रसादात् सम्यग्व्यपदेशं लभते, तथाभूतश्चात्मा चारित्रमोहापगमे चरणं प्रतिपद्यते । किमर्थं ? 'रागद्वेषनिवृत्त्यै' रागद्वेषनिवृत्तिनिमित्तं ॥१॥

अब चारित्ररूप धर्म के व्याख्यान की इच्छा करते हुए आचार्य कहते हैं—

(मोहतिमिरापहरणे) मोहरूपी अन्धकार के दूर होने पर (दर्शनलाभात्) सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से (अवाप्तसंज्ञानः) जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा (साधुः) भव्य जीव (रागद्वेषनिवृत्त्यै) रागद्वेष की निवृत्ति के लिए (चरणं) चारित्र को (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है ।

टीकार्थ—'चरणं' हिंसादि पापों से निवृत्ति होने को चारित्र कहते हैं । भव्य जीव ऐसे चारित्र को कब और क्यों धारण करता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए

कहते हैं कि मोह-दर्शनमोह-मिथ्यात्वरूपी अन्धकार का अपहरण-यथा सम्भव उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाने पर जिसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है और सम्यक्त्व की प्राप्ति होने से जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा भव्य पुरुष रागद्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र धारण करता है। अथवा, 'मोहोदर्शनचारित्रमोहस्तिमिरं ज्ञानावरणादि तयोरपहरणे' अर्थात् मोह का अर्थ दर्शनमोह तथा चारित्रमोह इन दो भेदों से उपलक्षित मोहकर्म और तिमिर शब्द का अर्थ ज्ञानावरणादि कर्म है, जब इन दोनों का अभाव हो जाता है तभी जीव को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि–दर्शनमोह का अभाव हो जाने से सम्यग्दर्शन का लाभ होता है और ज्ञानावरणादि के अभाव-क्षयोपशम होने से ज्ञान प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन के प्रसाद से ज्ञान में समीचीनपने का व्यवहार होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को जिस भव्यात्मा ने प्राप्त कर लिया है वह चारित्रमोहरूप राग-द्वेष को दूर करने के लिए चारित्र को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—हिंसादि पंच पापों से निवृत्ति होने को चरण या चारित्र कहते हैं। किन्तु भव्य जीव इस चारित्र को किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं? इसका समाधान करते हुए कहा है कि संसारी जीवों के अनादिकाल से दर्शनमोहरूप तीव्र अन्धकार से ज्ञानरूपी नेत्र आच्छादित हैं अतः स्व-पर के भेदविज्ञान से रहित होता हुआ जीव चारों गतियों के अन्तर्गत चौरासी लक्ष योनियों में ममत्व बुद्धि के कारण अनन्तकाल से परिभ्रमण कर रहा है।

कदाचित् काललब्धि के मिलने पर किसी भव्य जीव के करणलब्धि आदि योग्य सामग्री के द्वारा दर्शनमोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम होने पर जिसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई है और सम्यक्त्व की प्राप्ति होने से जिसने सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसा भव्य जीव राग-द्वेष को दूर करने के लिए चारित्र को धारण करता है।

इस प्रकार इस कारिका में आचार्यश्री ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के क्रम और प्रयोजन का दिग्दर्शन किया है। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोहमिथ्यात्व के उदय से यह जीव पर-पदार्थों में अहं बुद्धि रखता है। अर्थात् अपने को शरीरादिरूप मानता है और चारित्रमोह के उदय से स्त्री-पुत्रादि पर-पदार्थों में ममत्व बुद्धि रखता है अर्थात् ये मेरे हैं, इस प्रकार के भावों की जागृति होती है। इसलिए मोह को अन्धकार की उपमा

दी है। जिस प्रकार अन्धकार में नेत्र से देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय से जीव की दर्शनशक्ति-समीचीन श्रद्धान करने रूप शक्ति-सामर्थ्य प्रकट नहीं हो सकती। किन्तु जैसे ही मिथ्या अन्धकार दूर होकर समीचीन श्रद्धान प्रकट होता है तब उसे सही दिशा का बोध होता है। पर-पदार्थों में जो एकत्वभाव चल रहा था वह नष्ट होकर स्व-पर का सही श्रद्धान हो जाता है तब मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है और तत्पश्चात् राग-द्वेष को दूर करने के लिए समीचीन चारित्र की शरण लेता है। समीचीन चारित्र से ही जीव का कल्याण होता है ॥१॥४७॥

तन्निवृत्तावेव हिंसादिनिवृत्तेः संभवादित्याह—

रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादि निवर्त्तना कृता भवति।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥२॥

'हिंसादेः निवर्तना' व्यावृत्तिः कृता भवति। कुतः? 'रागद्वेषनिवृत्तेः'। अयमत्र तात्पर्यार्थः—प्रवृत्तरागादिक्षयोपशमादेः हिंसादिनिवृत्ति लक्षणं चारित्रं भवति। ततो भाविरागादिनिवृत्तेरेवं प्रकृष्टतरप्रकृष्टतमत्वात् हिंसादि निवर्तते। देशसंयतादि-गुणस्थाने रागादिहिंसादिनिवृत्तिस्तावद्वर्तते यावन्निःशेषरागादिप्रक्षयः तस्माच्च निःशेष-हिंसादि निवृत्तिलक्षणं परमोदासीनतास्वरूपं परमोत्कृष्टचारित्रं भवतीति। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमर्थान्तरन्यासमाह–'अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्' अनपेक्षिताऽ-नभिलषिता अर्थस्य प्रयोजनस्य फलस्य वृत्तिः प्राप्तिर्येन स तथाविधः पुरुषः को, न कोऽपि प्रेक्षापूर्वकारी, सेवते नृपतीन् ॥२॥

आगे रागद्वेष की निवृत्ति होने पर ही हिंसादि पापों से निवृत्ति हो सकती है, यह कहते हैं—

(रागद्वेषनिवृत्तेः) रागद्वेष की निवृत्ति होने से (हिंसादिनिवर्तना) हिंसादि पापों से निवृत्ति (कृता भवति) स्वयमेव हो जाती है क्योंकि (अनपेक्षितार्थवृत्तिः) जिसे किसी प्रयोजनरूप फल की प्राप्ति अभिलषित नहीं है, ऐसा (कः पुरुषः) कौन पुरुष (नृपतीन् सेवते) राजाओं की सेवा करता है? अर्थात् कोई नहीं।

टीकार्थ—रागद्वेष की निवृत्ति से हिंसादि पापों की निवृत्ति स्वतः हो जाती है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान में जिन रागादि भावों की प्रवृत्ति है उनका क्षयोपशमादि

होने पर हिंसादि पापों का त्यागरूप चारित्र होता है। तदनन्तर आगामीकाल में उत्पन्न होने वाले रागादि भावों की निवृत्ति भी हो जाती है, इसी प्रकार आगे-आगे प्रकृष्ट से प्रकृष्टतर और प्रकृष्टतम निवृत्ति होती जाती है। तथा ऐसा होने पर हिंसादि पापों की स्वयं निवृत्ति हो जाती है। देशसंयतादि गुणस्थानों में रागादिभाव और हिंसादि पापों की निवृत्ति वहाँ तक होती जाती है जहाँ तक कि पूर्णरूप से रागादिका क्षय और उससे होने वाली समस्त हिंसादि पापों के त्यागरूप लक्षण वाला परम उदासीनता स्वरूप परमोत्कृष्ट चारित्र होता है। इसी अर्थ का समर्थन करने के लिए अर्थान्तिरन्यास द्वारा दृष्टान्त देते हैं कि—'अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्' अर्थात् जिसे किसी भी अभिलषित फल की चाह नहीं है, ऐसा कौनसा पुरुष राजाओं की सेवा करता है ? अर्थात् कोई बुद्धिमान् मनुष्य नहीं करता।

विशेषार्थ—चारित्र धारण करने का मूल उद्देश्य राग-द्वेषादि की निवृत्ति करना है। हिंसादि पापों में प्रवृत्ति राग-द्वेष के कारण ही होती है, जिसने रागद्वेष की प्रवृत्ति छोड़ दी, उसके हिंसादि पंच पापों का त्याग स्वयमेव हो जाता है।

रागद्वेष की उत्पत्ति का प्रमुख कारण मिथ्यात्व और अज्ञान है, मिथ्यात्व के कारण ही यह जीव परपदार्थों को सुख-दुःख का कारण मानता हुआ हर्ष, विषाद करता रहता है। जो पदार्थ सुखद प्रतीत होते हैं उनका संयोग मिलने पर हर्षित होता है और उन पदार्थों में राग करता है। जिन पदार्थों से दुःख उत्पन्न होता है उनको दुःख उत्पत्ति का कारण मानकर द्वेष करता है। किन्तु सुख-दुःख का अन्तरंग कारण स्वोपार्जित शुभ-अशुभ कर्म है। अज्ञानतावश प्राणी अन्तरंग कारणों की ओर दृष्टि नहीं रखता हुआ मात्र बहिरंग निमित्तों को ही महत्त्व देता हुआ कुटुम्बीजन या मित्रादिजनों के साथ मित्रता या शत्रुता रखता हुआ राग-द्वेष करता है। इसलिए राग-द्वेष को दूर करने के लिए पहले मिथ्यात्व और मिथ्याज्ञान को दूर करके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए तत्पश्चात् समीचीन चारित्र की प्राप्ति सरल हो जाती है ॥ २ ॥ ४८ ॥

अत्रापरः प्राह—चरणं प्रतिपद्यतइत्युक्तं तस्य तु लक्षणं नोक्तं तदुच्यतां, इत्याशंक्याह—

हिंसानृतचौर्य्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥३॥

'चारित्रं' भवति । कासौ ? 'विरतिः' व्यावृत्तिः । केभ्यः 'हिंसानृतचौर्येभ्यः' ? हिंसादीनां स्वरूपकथनं स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकारः करिष्यति । न केवलमेतेभ्य एव विरतिः– अपि तु 'मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां' । एतेभ्यः कथंभूतेभ्यः ? 'पापप्रणालिकाभ्यः' पापस्य प्रणालिका इव पापप्रणालिका आस्रवणद्वाराणिताभ्यः । कस्य तेभ्यो विरतिः ? 'संज्ञस्य' सम्यग्जानातीति संज्ञः तस्य हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानवतः ।।३।।

यहाँ कोई कहता है कि 'साधुः चरणं प्रतिपद्यते' साधु चारित्र को प्राप्त होता है यह तो कहा परन्तु चारित्र का लक्षण नहीं कहा, उसे कहो, ऐसी आशंका कर कहते हैं—

(संज्ञस्य) सम्यग्ज्ञानी जीव का (पापप्रणालिकाभ्यः) पाप के पनालेस्वरूप (हिंसानृतचौर्येभ्यः) हिंसा, झूठ, चोरी (च) और (मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां) कुशील तथा परिग्रह से (विरतिः) निवृत्ति होना (चारित्रम्) चारित्र (कथ्यते) कहा जाता है ।

टीकार्थ—हिंसादि पापों के त्याग से चारित्र होता है । हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन सेवन और परिग्रह इनके स्वरूप का कथन ग्रन्थकार आगे करेंगे, क्योंकि ये पापरूप गन्दे पानी को बहाने के लिए गन्दे नालों के समान हैं, इसलिए हेय और उपादेय तत्त्वों के ज्ञाता इन पापों से विरक्त होते हैं ।

विशेषार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँचों कार्य पापास्रव के रास्ते हैं । इन कार्यों को करने से निरन्तर पापास्रव होता रहता है । सम्यग्ज्ञानी जीव इन पाप कार्यों को हेय जानकर इनसे विरक्त रहता है ।

यद्यपि निश्चय चारित्र तो बहिरंग समस्त प्रवृत्तियों के छूटने से परम-वीतरागता के प्रभाव से परमसाम्यभाव को प्राप्त होने पर अपने एक ज्ञायक भावरूप स्वभाव में चर्यारूप है किन्तु हिंसादि पंच पापों से विरक्त हुए बिना, अन्तरंग-बहिरंग प्रवृत्ति की उज्ज्वलतारूप व्यवहारचारित्र के बिना निश्चय चारित्र प्राप्त नहीं हो सकता है । इसलिए इन हिंसादि पाँचों पापों का त्याग करना ही श्रेष्ठ है, पंच पापों का पूर्ण रूप से त्याग करना ही चारित्र है ।।३।।४९।।

तच्चेत्थंभूतं चारित्रं द्विधा भिद्यत इत्याह—

सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम् ।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम् ।। ४ ।।

हिंसादिविरतिलक्षणं 'यच्चरणं' प्राक्प्ररूपितं तत् सकलं विकलं च भवति । तत्र 'सकलं' परिपूर्णं महाव्रतरूपं । केषां तद्भवति ? 'अनगाराणां' मुनीनां । किंविशिष्टानां 'सर्वसंगविरतानां' बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितानां । 'विकलं' परिपूर्णं अणुव्रतरूपं । केषां तद्भवति 'सागाराणां' गृहस्थानां । कथम्भूतानां ? 'ससंगानां' सग्रन्थानाम् ।।४।।

ऐसा चारित्र दो प्रकार का है, यह कहते हैं—

(तत्) वह (चरणं) चारित्र (सकल विकलं) सकल चारित्र और विकल चारित्र के भेद से दो प्रकार का है । उनमें से (सकलं) सम्पूर्ण चारित्र (सर्वसंगविरतानां) समस्त परिग्रहों से रहित (अनगाराणां) मुनियों के और (विकलं) एकदेश चारित्र (ससंगानां) परिग्रहयुक्त (सागाराणां) गृहस्थों के (भवति) होता है ।

टीकार्थ—हिंसादि पापों के त्यागरूप लक्षण से युक्त जिस चारित्र का पहले वर्णन किया है वह चारित्र सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का होता है । उनमें सकलचारित्र परिपूर्ण महाव्रतरूप कहा है, जो बाह्य और अभ्यन्तर समस्त परिग्रह के त्यागी मुनियों के होता है । विकलचारित्र देशचारित्ररूप है, जो पंच अणुव्रत के धारक परिग्रह से सहित गृहस्थों के होता है ।

विशेषार्थ—आत्मा के चारित्र गुण का घात करने वाला चारित्रमोहनीय कर्म है । चारित्र के दो भेद हैं—देशचारित्र और सकलचारित्र । सकलचारित्र का घात करने वाली प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ ये कर्म प्रकृतियाँ हैं । और विकलचारित्र-देशचारित्र का घात करने वाली अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ ये कर्म प्रकृतियाँ हैं । जब किसी सम्यग्दृष्टि जीव के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षयोपशम होता है तब उस जीव के हिंसादि पाँच पापों के एकदेशत्यागरूप अणुव्रत होता है । यह विकलचारित्र कहलाता है और जब किसी सम्यक्त्वी के प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षयोपशम होता है तब उसके पंच पापों का पूर्ण त्याग हो जाने से सकलचारित्र होता है । सकलचारित्र के धारक गृह कुटुम्ब परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ मुनिराज होते हैं तथा विकलचारित्र परिग्रह से सहित गृहस्थ

होते हैं। चारित्र के द्वारा ही आते हुए कर्मों का संवर होता है और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है ।।४।।५०।।

तत्र विकलमेव तावच्चारित्रं व्याचष्टे—

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु-गुण-शिक्षाव्रतात्मकं चरणम् ।
पञ्च-त्रि-चतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम् ।। ५ ।।

'गृहिणां' सम्बन्धी यत् विकलं चरणं तत् 'त्रेधा' त्रिप्रकारं। 'तिष्ठति' भवति। किं विशिष्टं सत्? 'अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं' सत् अणुव्रतरूपं गुणव्रतरूपं शिक्षाव्रतरूपं सत्। त्रयमेव। तत्प्रत्येकं। 'यथासंख्यं'। 'पंचत्रिचतुर्भेदमाख्यातं' प्रतिपादितं। तथाहि—अणुव्रतं पंचभेदं गुणव्रतं त्रिभेदं शिक्षाव्रतं चतुर्भेदमिति ।।५।।

अब, विकलचारित्र का व्याख्यान करते हैं—

(गृहिणां) गृहस्थों का (चरणं) विकलचारित्र (अणुगुण शिक्षाव्रतात्मकं) अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतरूप (सत्) होता हुआ (त्रेधा) तीन प्रकार का (तिष्ठति) है और (त्रयं) तीनों ही। (यथासंख्यं) क्रम से (पञ्चत्रिचतुर्भेदं) पाँच, तीन और चार भेदों से युक्त (आख्यातं) कहे गये हैं।

टीकार्थ—गृहस्थों का जो विकलचारित्र है वह अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत के भेद से तीन प्रकार का है। उन तीनों में प्रत्येक के क्रम से पाँच भेद, तीन भेद और चार भेद कहे गये हैं। अर्थात् पँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतरूप भेद जानने चाहिए।

विशेषार्थ—जो गृहवास छोड़ने में समर्थ नहीं हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि घर में रह कर पंच अणुव्रत—१ अहिंसाणुव्रत, २ सत्याणुव्रत, ३ अचौर्याणुव्रत, ४ ब्रह्मचर्याणुव्रत और ५ परिग्रह परिमाणाणुव्रत। तीन गुणव्रत—१ दिग्व्रत, २ अनर्थदण्डव्रत और ३ भोगोपभोगपरिमाणव्रत। तथा चार शिक्षाव्रत—१ देशावकाशिक, २ सामायिक, ३ प्रोषधोपवास और ४ वैयावृत्य; इन बारह प्रकार के विकल चारित्र-देशचारित्र का परिपालन करते हैं। इनमें पंच अणुव्रत और शेष सात को शील कहते हैं।

मैं सम्यग्दर्शनपूर्वक निरतिचार पाँच अणुव्रतों का पालन करूंगा इस अभिप्राय से वह तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का भी निरतिचार पालन करता है तथा

यथायोग्य ईर्या, भाषा, एषणा आदान निक्षेपण और उत्सर्ग इन पाँच समितियों का भी पालन करता है । ये समितियाँ मुनियों के ही लिए नहीं हैं, किन्तु मुनि बनने के इच्छुक श्रावक को भी इनका अभ्यास करना चाहिए । आगम में कहा है कि यदि अणुव्रत और महाव्रत समिति के साथ होते हैं तो संयम कहलाता है और यदि समिति के साथ नहीं होते तो उन्हें केवल विरति कहते हैं । मुमुक्षु श्रावक को श्रुतज्ञानी भी होना चाहिए । गुरु महाराज के कहने से व्रत धारण कर व्रतों का ठीक-ठीक स्वरूप ज्ञात करना चाहिए ।। ५ ।। ५१ ।।

तत्राणुव्रतस्य तावत्पंचभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेय काममूर्च्छाभ्यः ।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति ।।६।।

'अणुव्रतं' विकलव्रतं । किं तत् ? 'व्युपरमणं' व्यावर्तनं यत् । केभ्यः इत्याह–'प्राणेत्यादि' प्राणानामिन्द्रियादीनामतिपातश्चातिरतनं वियोगकरणं विनाशनं । 'वितथव्याहारश्च' वितथोऽसत्यः स चासौ व्याहारश्च शब्दः । 'स्तेयं' च चौर्यं । 'कामश्च' मैथुनं । 'मूर्च्छा' च परिग्रहः मूर्च्छा च मूर्च्छ्यते लोभावेशात् परिगृह्यते इति मूर्च्छा इति व्युत्पत्तेः । तेभ्यः । कथंभूतेभ्यः ? 'स्थूलेभ्यः' । अणुव्रतधारिणो हि सर्वसावद्यविरतेरसम्भवात् स्थूलेभ्य एव हिंसादिभ्यो व्युपरमणं भवति । स हि त्रस प्राणातिपातान्निवृत्तो न स्थावरप्राणातिपातात् । तथा पापादिभयात् परपीडादिकारणमिति मत्वा स्थूलादसत्यवचन् निवृत्तो न तद्विपरीतात् । तथान्यपीडाकरात् राजादिभयादिना परेण परित्यक्तादप्यदत्तार्थात् स्थूलान्निवृत्तो न तद्विपरीतात् । तथा उपात्ताया अनुपात्तायाश्च परांगनायाः पापभयादिना निवृत्तो नान्यथा इति स्थूलरूपाऽब्रह्मनिवृत्तिः तथा धनधान्यक्षेत्रादेरिच्छावशात् कृतपरिच्छेदा इति स्थूलरूपात् परिग्रहान्निवृत्तिः । कथंभूतेभ्यः प्राणातिपातादिभ्यः ? 'पापेभ्यः' पापास्रवणद्वारेभ्यः ।।६।।

अणुव्रत के पांच भेदों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

(प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छाभ्यः) हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और मूर्च्छा इन (स्थूलेभ्यः) स्थूल (पापेभ्यः) पापों से (व्युपरमणं) विरत होना (अणुव्रतं) अणुव्रत (भवति) है ।

टीकार्थ—इन्द्रियादि प्राणों का वियोग करना प्राणातिपात है। असत्य वचन बोलना वितथव्याहार है। स्वामी की आज्ञा के बिना किसी वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। मैथुन-सेवन काम है, और लोभ के वशीभूत होकर बाह्य परिग्रह को ग्रहण करना परिग्रह-मूर्च्छा है। ये पाँच पाप स्थूल और सूक्ष्म की अपेक्षा दो प्रकार के हैं। इनमें स्थूल पापों से विरक्त होना अणुव्रत कहलाता है। अणुव्रतधारी जीवों के सूक्ष्म सम्पूर्ण पापों का त्याग होना असम्भव है। इसलिए वे स्थूल हिंसादि पापों का ही त्याग कर अणुव्रत धारण कर सकते हैं। अहिंसाणु व्रतधारी पुरुष त्रसहिंसा से तो विरक्त होता है, परन्तु स्थावर हिंसा से निवृत्त नहीं होता। सत्याणुव्रत का धारक पापादिक के भय से पर पीड़ाकारकादि स्थूल असत्य वचन से निवृत्त होता है, किन्तु सूक्ष्म असत्य वचन से नहीं। अचौर्याणुव्रत का धारी पुरुष राजादिक के भय से दूसरे के द्वारा छोड़ी गई अदत्तवस्तु का स्थूलरूप से त्यागी होता है, सूक्ष्मरूप से नहीं। ब्रह्मचर्याणुव्रत का धारक पाप के भय से दूसरे की गृहीत अथवा अगृहीत स्त्री से विरक्त होता है, स्वस्त्री से नहीं। इसी प्रकार परिग्रह परिमाणाणुव्रत का धारी पुरुष धन-धान्य तथा खेत आदि परिग्रह का अपनी इच्छानुसार परिमाण करता है, इसलिए स्थूल परिग्रह का ही त्यागी होता है; सूक्ष्म का नहीं। ये हिंसादि कार्य पापरूप हैं। क्योंकि पाप कर्मों के आस्रव के द्वार हैं। इनके निमित्त से जीव के सदा पापकर्मों का आस्रव होता रहता है।

विशेषार्थ—जिसके संयोग से जीव जीता है और जिसके वियोग होने पर मरण जाना जाता है, उसे प्राण कहते हैं। द्रव्य प्राण और भाव प्राण की अपेक्षा प्राण के दो भेद हैं। द्रव्य प्राण के दस भेद हैं—**पांच इन्द्रियां**—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण। **तीन बल**—मनबल, वचनबल, कायबल और **आयु** तथा **श्वासोच्छ्वास**। ज्ञान, दर्शनादिगुणरूप भाव प्राण हैं। इन प्राणों का संकल्पपूर्वक घात करना प्राणातिपात कहलाता है, जिसे हिंसा कहते हैं। जो जीवों को मारने के संकल्प का त्याग कर त्रस की हिंसा से विरक्त होता है, वह स्थूल हिंसा के त्यागरूप अहिंसाणुव्रत है। जो वस्तु जैसी नहीं है, उसे उस प्रकार कहना, जिस वचन व्यवहार से अन्य प्राणी का घात हो, अपवाद हो, धर्म की हानि हो, कलह हो, संक्लेश हो, भयादि प्रकट हो जाय ऐसे क्रोध के वचन, लोभ के वचन, कलह के वचन, हास्य के वचन, निन्दारूप वचन तथा गर्हितादि ये सभी प्रकार के वचन असत्य वचन कहलाते हैं, सत्याणुव्रत का धारक स्थूल

असत्य वचन का त्याग करता है। बिना दिये, लोभ के वश छल-कपट करके दूसरे के धन का हरण करने का त्याग करना अचौर्याणुव्रत है। अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़कर समस्त स्त्रियों के साथ मैथुन अभिलाषा का त्याग करना ब्रह्मचर्य-अणुव्रत है। तथा दस प्रकार के परिग्रह में मूर्च्छा भाव का त्याग करके परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक का त्याग करना परिग्रहपरिमाण अणुव्रत है। लोक में भी इन पापों के करने वाले को दण्ड दिया जाता है, इसलिए भी इनको स्थूल पाप कहते हैं ॥६॥५२॥

तत्राद्यव्रतं व्याख्यातुमाह—

संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥७॥

'चरसत्त्वान्' त्रसजीवान्। 'यन्नहिनस्ति'। तदाहुः 'स्थूलवधाद्विरमणं'। के ते? 'निपुणाः' हिंसादि विरतिव्रतविचारदक्षाः। कस्मान्न हिनस्ति? 'संकल्पात्' संकल्पं हिंसाभिसंधिमाश्रित्य। कथंभूतात् संकल्पात? 'कृतकारितानुमननात्' कृतकारितानुमननरूपात्। कस्य सम्बन्धिनः? 'योगत्रयस्य' मनोवाक्कायत्रयस्य। अत्र कृतवचनं कर्तुः स्वातंत्र्यप्रतिपत्त्यर्थं। कारितानुविधानं परप्रयोगापेक्षमनुवचनं। अनुमननवचनं प्रयोजकस्य मानसपरिणाम प्रदर्शनार्थं। तथा हि—मनसा चरसत्त्वहिंसां स्वयं न करोमि, चरसत्त्वान् हिनस्मीति मनःसंकल्पं न करोमीत्यर्थः। मनसा चरसत्त्व-हिंसामन्यं न कारयामि, चरसत्त्वान् हिंसय-हिंसयेति मनसा प्रयोजको न भवामीत्यर्थः। तथा अन्यं चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तं मनसा नानुमन्ये, सुन्दरमनेन कृतमिति मनः संकल्पं न करोमीत्यर्थः। एवं वचसा स्वयं चरसत्त्वहिंसां न करोमि चरसत्त्वान हिनस्मीति स्वयं वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः। वचसा चरसत्त्वहिंसां न कारयामि चरसत्त्वान् हिंसय हिंस-येति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः। तथा वचसा चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तं नानुमन्ये, साधुकृतं त्वयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः। तथा कायेन चरसत्त्वहिंसां न करोमि, चरसत्त्वहिंसने दृष्टिमुष्टिसन्धाने स्वयं काय व्यापारं न करोमीत्यर्थः। तथा कायेन चरसत्त्वहिंसां न कारयामि, चरसत्त्वहिंसने कायसंज्ञया परं न प्रेरयामीत्यर्थः। तथा चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तमन्यं नरवच्छोटिकादिना कायेन नानुमन्ये। इत्युक्तमहिंसाणुव्रतम् ॥७॥

आगे, प्रथम अहिंसाणुव्रतका व्याख्यान करने के लिए कहते हैं—

(यत्) जो (योगत्रयस्य) तीनों योगों के (कृतकारितानुमननात्) कृत, कारित, अनुमोदनारूप (संकल्पात्) संकल्प से (चरसत्त्वान्) त्रस जीवों को (न हिनस्ति) नहीं मारता है (तत्) उसे (निपुणाः) हिंसादि पापों के त्यागरूप व्रत के विचार करने में समर्थ मनुष्य (स्थूलवधाद् विरमणं) स्थूल हिंसा का त्याग अर्थात् अहिंसाणुव्रत (आहुः) कहते हैं।

टीकार्थ—स्थूल हिंसा का त्यागी अहिंसाणुव्रती संकल्पपूर्वक त्रसजीवों का घात नहीं करता है।

'मैं इस जीव को मारूँ' इस अभिप्राय से जो हिंसा की जाती है, उसे संकल्प कहते हैं। यह संकल्प मन, वचन और काय इन तीनों योगों की कृत, कारित तथा अनुमोदनारूप परिणति से होता है। किसी कार्य को स्वतन्त्ररूप से स्वयं करना कृत है। दूसरे से कराना कारित है, और करने वाले के लिए अपने मानसिक परिणामों को प्रकट करते हुए अनुमति के वचन कहना अनुमोदना है। इस प्रकार यह कृत-कारित-अनुमोदना मन, वचन कायरूप तीनों योगों से प्रकट होती है। यथा–१ मैं मन से त्रस जीवों की हिंसा स्वयं नहीं करता हूँ अर्थात् मैं त्रस जीवों को मारूँ ऐसा मन से संकल्प नहीं करता हूँ। २ दूसरों से त्रस हिंसा नहीं कराता हूँ, अर्थात् 'तुम त्रस जीवों को मारो' ऐसा मन से संकल्प नहीं करता हूँ। ३ तथा त्रस जीवों की हिंसा करते हुए किसी जीव की मन से अनुमोदना नहीं करता हूँ अर्थात् 'इसने यह कार्य अच्छा किया' ऐसा मन से संकल्प नहीं करता हूँ। ४ इसी प्रकार वचन से मैं स्वयं त्रस जीवों की हिंसा नहीं करता हूँ अर्थात् 'मैं त्रस जीवों को मारूँ' ऐसे वचन नहीं बोलता हूँ। ५ वचन से दूसरों के द्वारा त्रस जीवों की हिंसा नहीं कराता हूँ अर्थात् 'तुम त्रस जीवों को मारो' ऐसे वचनों का प्रयोग नहीं करता हूँ। ६ तथा त्रस जीवों की हिंसा करते हुए अन्य पुरुष की वचन से अनुमोदना नहीं करता हूँ अर्थात् 'तुमने बहुत अच्छा किया' ऐसा वचनों से उच्चारण नहीं करता हूँ। ७ काय से त्रस जीवों की स्वयं हिंसा नहीं करता हूँ अर्थात् स्वयं आँख से संकेत करना मुट्ठी बाँधना आदि शारीरिक व्यापार नहीं करता हूँ। ८ शरीर से दूसरे के द्वारा त्रस जीवों की हिंसा नहीं कराता हूँ अर्थात् शरीर के संकेत से दूसरे को प्रेरित नहीं करता हूँ। तथा ९ त्रस जीवों की हिंसा करते हुए किसी अन्य पुरुष को चुटकी बजाना आदि शरीर के अन्य किसी व्यापार से अनुमति नहीं देता हूँ। इन नौ कोटि से त्रस हिंसा का त्याग करना अहिंसाणुव्रत है।

विशेषार्थ—हिंसा चार प्रकार की है। संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। 'मैं इस जीव को मारूँ' इस प्रकार के विचार से किसी प्राणी को मारना **संकल्पी हिंसा** कहलाती है। गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों को करते समय जो हिंसा होती है उसे **आरम्भी हिंसा** कहते हैं, कृषि तथा अन्य उद्योग धन्धों से होने वाली हिंसा **उद्योगी हिंसा** कहलाती है और शत्रु आदि के द्वारा अपने ऊपर आक्रमण होने पर अपने बचाव के लिए जो हिंसा होती है उसे **विरोधी हिंसा** कहते हैं। इन चार प्रकार की हिंसाओं में अहिंसाणुव्रत का धारक केवल संकल्पी हिंसा का ही त्यागी होता है। दयालु व्रती श्रावक संकल्प पूर्वक त्रस जीवों का घात न स्वयं करता है न दूसरों से कराता है और न घात करने वाले की मन-वचन-काय से प्रशंसा ही करता है। जो कोई दुष्ट वैर-ईर्ष्यादि से मारना चाहे या धनादि का हरण करना चाहे तो उसका भी घात करना नहीं चाहता। कोई धनादि देकर दूसरे को मरवाना चाहे तब भी वह किसी प्राणी को मारने का संकल्प नहीं करता। तथा रोगादि आपत्तियाँ आने पर जीवन के लोभ से भी किसी त्रस जीव को नहीं मारता, वह हिंसा कर्म से अत्यन्त भयभीत रहता है। आरम्भादि कार्य यत्नाचारपूर्वक करते हुए यदि कोई जीव अकस्मात् मर भी जाय तो भी वह हिंसा का भागी नहीं होता। उमास्वामी आचार्य ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' में हिंसा का लक्षण बतलाया है—**'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'** अर्थात् प्रमाद के योग से प्राणों का घात करना हिंसा है।

अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है—

**"यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥"**

अर्थ—कषाय के आवेश से इन्द्रियादि द्रव्य प्राण और ज्ञानादि भाव प्राण का वियोग करने से निश्चितरूप से हिंसा होती है। आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति नहीं होना अहिंसा है और रागादिभावों की उद्भूति होना हिंसा है ऐसा जिनागम का संक्षेप है पश्चात् दूसरे की हिंसा हो न हो, निश्चित नहीं है। इसलिए गृहस्थ को यथा शक्ति तीन, छह अथवा नौ कोटियों से हिंसा-पाप का त्याग करना चाहिए।

इस जगत में सर्वत्र जीव भरे हैं। जल, थल, आकाश का कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ सूक्ष्म या स्थूल जीव न हों। और वे हमारी चेष्टाओं से हाथ पैर

हिलाने से या श्वास लेने से न मरें अर्थात् मरते ही हैं। किन्तु जैन धर्म इस प्रकार के प्रत्येक जीव घात को हिंसा नहीं मानता। यहाँ सकषायरूप आत्मपरिणाम के योग से प्राणों के घात को हिंसा कहा है। जहाँ सकषायरूप आत्मपरिणाम नहीं है वहाँ प्राण घात हो जाने पर भी हिंसा नहीं है। जिस प्रकार ईर्यासमिति से चलने वाले साधु के अचानक कोई जन्तु उड़कर पैर के नीचे आकर मर जाता है तो भी उस साधु को जीवघात का पाप नहीं लगता क्योंकि उनके प्रमादयोग नहीं है, वे पूर्णरूप से सावधानी से चल रहे हैं, यदि असावधानी से प्रवृत्ति हो तो जीवों के नहीं मरने पर भी हिंसा का पाप लगता है। अतः हिंसायुक्त परिणाम ही, वास्तव में, हिंसा है ॥७॥५३॥

तस्येदानीमतीचारानाह—

छेदनबन्धनपीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद् व्युपरतेः पञ्च ॥८॥

'व्यतीचारा' विविधा विरूपका वा अतीचारा दोषाः। कति? 'पंच'। कस्य? 'स्थूलवधाद् व्युपरतेः'। कथमित्याह 'छेदनेत्यादि' कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदनं, अभिमतदेशे गतिनिरोधहेतुर्बन्धनं, पीडा दण्डकशाद्यभिघातः, अतिभारारोपणं न्याय्यभारादधिकभारारोपणं। न केवलमेतच्चतुष्टयमेव किन्तु 'आहारवारणापि च' आहारस्य अन्नपान लक्षणस्य वारणा निषेधो धारणा वा निरोधः ॥८॥

अहिंसाणुव्रत के अतिचार—

(स्थूलवधाद्व्युपरतेः) अहिंसाणुव्रत के (छेदनबन्धनपीडनम्) छेदना, बांधना, पीड़ा देना, (अतिभारारोपणम्) अधिक भार लादना (अपि च) और (आहारवारणा) आहार का रोकना अथवा (आहारधारणा) आहार बचाकर रखना ये (पञ्च) पाँच (व्यतीचाराः) अतिचार (सन्ति) हैं।

टीकार्थ — 'विविधा विरूपका वा अतिचारा दोषाः व्यतिचाराः' इस समास के अनुसार व्यतीचार का अर्थ है—नाना प्रकार के अथवा व्रत को विकृत करने वाले दोष। ये अतिचार-दोष पाँच हैं। दुर्भावना से नाक, कानादि अवयवों को छेदना, इच्छित स्थान पर जाने से रोकने के लिए रस्सी आदि से बाँध देना, डण्डे कोड़े आदि

से पीटना, उचित भार से अधिक भार लादना तथा अन्न पानादिरूप आहार का निषेध करना अथवा थोड़ा देना। अहिंसाणुव्रत के ये पांच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—'अतिचारोऽश भञ्जनम्' के अनुसार अतिचार का अर्थ होता है व्रत का एकदेश भंग होना। मन, वचन काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ कोटियों से व्रत की पूर्णता होती है। इन नौ कोटियों में से यदि किसी के द्वारा भी व्रतों में दूषण लगे तो वह अतिचार कहलाता है और व्रत को पूर्णरूप से दूषित करना अनाचार कहलाता है। रस्सी आदि से गाय, मनुष्य आदि को बांधना बन्धन है। पुत्र आदि को भी विनीत बनाने के लिए माता-पिता बांधते हैं किन्तु प्रबल कषाय के उदयरूप दुर्भावना से जो बन्धन किया जाता है, उसे छोड़ना चाहिए। बन्धन दोपायों या चौपायों का सप्रयोजन और निष्प्रयोजन होता है। इनमें निष्प्रयोजन बन्धन तो श्रावक को नहीं करना चाहिए। प्रयोजनवश किया भी जाय तो ढीली गाँठ लगाकर चौपायों को रखा जाय, जिससे सरलता से खोला जा सके और उन्हें कष्ट भी विशेषरूप से न हो। इसी प्रकार दुर्भावना से डण्डे, कोड़े आदि से पीटना, दुर्भावना से नाक, कान आदि अवयवों को काटना अतिचार है। किन्तु स्वास्थ्य के लिए फोड़े वगैरह को चीरना या हाथ-पाँव आदि अवयवों का काटना अतिचार नहीं है।

व्रती श्रावकों को दोपाये या चौपायों की सवारी से आजीविका करना छोड़ ही देना चाहिए यह उत्तम पक्ष है। यदि सम्भव न हो तो उतना ही भार लादा जाय जितना मनुष्य या पशु आसानी से वहन कर सके।

आचार्यों ने तीन प्रकार की व्यवस्था बतलाई है। उत्तम, मध्यम और जघन्य। उत्तम व्यवस्था तो यह है कि व्रती मनुष्य गाय, भैंसादि को रखे ही नहीं, मध्यम यह है कि यदि रखे तो किसी बाड़े में उन्हें बिना बन्धन के रखे और जघन्य यह है कि यदि बन्धन देवे भी तो ऐसा लगावे जिससे आपत्ति आने पर जीव अपनी रक्षा स्वयं कर सके।

आचार्य अमितगति ने कहा है कि अतिचार सहित व्रतों का पालन पुण्य के लिए नहीं होता। क्या लोक में कहीं मलसहित धान्य को उपजते हुए देखा है? अर्थात् नहीं।

आचार्य ने **अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार** के लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—

क्षतिं मनःशुद्धि विधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनम् ।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥९॥

अर्थ—मानसिक शुद्धि का नष्ट होना अतिक्रम है। शीलरूप बाड़ का उल्लंघन करना व्यतिक्रम है। विषयों में कदाचित् प्रवृत्ति करना अतिचार है और विषयों में अत्यन्त आसक्त हो जाना अनाचार है।

यहाँ पर यह ध्यान अवश्य रखना है कि प्रमाद या अज्ञानदशा में जब कभी व्रतों में अतिचार (दोष) लग जाता है, तो उस दोष को दूर करने के लिए साधक प्रायश्चित्त, पश्चाताप का अनुभव करता है। किन्तु जब व्रत में बुद्धिपूर्वक बार-बार अतिचार लगता जाता है और साधक को पश्चाताप भी नहीं होता तो वह अतिचार अनाचाररूप से परिवर्तित हो जाता है।

आचार्यों ने व्रतों की रक्षा के लिए अतिचारों का वर्णन किया है। क्योंकि अतिचारों का निराकरण किये बिना व्रतों की रक्षा नहीं हो सकती। इसलिये उमा-स्वामी आचार्य ने व्रतों की रक्षा के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओं का वर्णन किया है।

अहिंसाव्रत की भावना—'वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपान भोजनानि पञ्च' वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकितपान भोजन अहिंसाव्रत की इन पाँच भावनाओं से ही अहिंसाव्रत की रक्षा हो सकती है।

वचन को वश में रखने से वचनों के द्वारा होने वाली हिंसा टल जाती है। मन पर नियंत्रण रखने से अर्थात् मनमें हिंसात्मक भावों का विचार नहीं आने से मानसिक हिंसा से रक्षा हो जाती है।

ईर्यासमिति—चार हाथ आगे देखकर चलने से, **आदाननिक्षेपणसमिति**—उपकरणों को रखते, उठाते समय देख-भालकर रखने उठाने से तथा **आलोकितपान-भोजन**—दिनमें देख शोधकर भोजन करने से, कायिक हिंसा से रक्षा हो जाती है।

व्यक्ति इस प्रकार की अपनी प्रवृत्ति से हिंसा से बच सकता है, इसलिए अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए इस प्रकार का विचार करके हिंसा न हो, ऐसी प्रवृत्ति करनी चाहिए ।। ८ ।। ५४ ।।

एवमहिंसाणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीमनृतविरत्यणुव्रतं प्रतिपादयन्नाह—

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे ।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावाद वैरमणम् ।। ९ ।। १०।।

'स्थूलमृषावादवैरमणम्' स्थूलश्चासौ मृषावादश्च तस्माद्वैरमणं विरमणमेव वैरमणं । 'तद्वदन्ति' । के ते ? 'सन्तः' सत्पुरुषाः गणधरदेवादयः । तत्किं, सन्तो यन्न वदन्ति । 'अलीकम्' असत्यं । कथंभूतं ? 'स्थूलं' यस्मिन्नुक्ते स्वपरयोर्वधबन्धादिकं राजादिभ्यो भवति तत्स्वयं तावन्न वदति । तथा 'परान्' अन्यान् तथाविधमलीकं न वादयति । न केवलमलीकं किन्तु 'सत्यमपि' चोरोऽयमित्यादिरूपं न स्वयं वदति न परान् वादयति । किं विशिष्टं यदुक्तं 'सत्यमपि' परस्य 'विपदे' ऽपकाराय भवति ।।९।।

इस प्रकार अहिंसाणुव्रत का प्रतिपादन कर अब सत्याणुव्रत का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

(यत्) जो (स्थूलं) स्थूल (अलीकं) झूठ को (न वदति) न स्वयं बोलता है (न परान्वादयति) न दूसरों से बुलवाता है और ऐसा (सत्यमपि) सत्य भी न स्वयं बोलता है न दूसरों से बुलवाता है जो (विपदे) दूसरे के प्राणघात के लिये हो (तत्) उसे (सन्तः) सत्पुरुष (स्थूलमृषावादवैरमणं) स्थूल झूठ का त्याग अर्थात् सत्याणुव्रत (वदन्ति) कहते हैं ।

टीकार्थ—'विरमणमेव वैरमणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वैरमण' शब्द में स्वार्थ में अण् प्रत्यय हुआ है । इसलिए जो अर्थ विरमण शब्द का होता है, वही वैरमण शब्द का अर्थ है । 'स्थूलं' का अर्थ यह है कि जिसके कहने से स्व और पर के लिए राज्यादिक से वध बन्धनादिक प्राप्त हों ऐसे स्थूल असत्य को जो न तो स्वयं बोलता है और न दूसरों को प्रेरित कर बुलवाता है । तथा ऐसा सत्य भी जैसे 'यह चोर है' इत्यादि, न स्वयं बोलता है न दूसरों से बुलवाता है, उसे सत्याणुव्रत कहते हैं ।

विशेषार्थ—**उमास्वामी आचार्य ने** असत्य का लक्षण–'असदभिधानमनृतम' कहा है। अर्थात् अविद्यमान पदार्थों का कथन करना असत्य है। जैसे–देवदत्त के नहीं होने पर भी कहना कि देवदत्त है। **आचार्य हेमचन्द्र ने** अपने योगशास्त्र में असत्य पाँच प्रकार के कहे हैं–कन्याअलीक, गोअलीक, भूमिअलीक, कूटसाक्ष्य और न्यासापलाप। तदनुसार **पं० आशाधरजी** ने भी इन पाँच स्थूल अलीकों को छोड़ने वाले को सत्याणुव्रती कहा है। कन्या के विषय में झूठ बोलना कन्यालीक है। जिस प्रकार शादी-विवाह के समय माता-पिता अपनी सदोष कन्या को निर्दोष कहते हैं। या विरोधीजन निर्दोष कन्या को सदोष कहते हैं। गाय के विषय में झूठ बोलना गो-अलीक है। जैसे–थोड़ा दूध देने वाली को बहुत दूध देने वाली कहना और बहुत दूध देने वाली को थोड़ा दूध देने वाली कहना। भूमि के सम्बन्ध में झूठ बोलना क्ष्मालीक है। जैसे दूसरों की भूमि को अपनी बताना और कारणवश अपनी भूमि को दूसरों की बताना। इत्यादि। यहाँ कन्यालीक में सब दोपाये और गोअलीक में सब चौपाये और क्ष्मालीक में सब बिना पैर की वस्तुएँ ली गयी हैं, तो इन असत्यों को कन्यालीक, गोअलीक और क्ष्माअलीक नाम क्यों दिया? द्विपदअलीक आदि नाम क्यों नहीं दिया? इसका समाधान यह है कि लोक में कन्या, गाय और भूमि के सम्बन्ध में झूठ बोलने को अतिनिन्दनीय माना जाता है। अतः लोकविरुद्ध होने से ये तीनों झूठ नहीं बोलने चाहिए। घूस के लालच से या ईर्ष्यावश झूठी बात को सच और सच्ची बात को झूठ कहना कि मैंने ऐसा देखा, मैं इसका साक्षी हूँ, यह कूटसाक्ष्य है इसके द्वारा दूसरे के पाप का समर्थन होता है, अतः यह पहले के तीन झूठों से भिन्न है, धर्म का विरोधी है, इसलिए नहीं बोलना चाहिए। अज्ञान और संशय में भी झूठ नहीं बोलना चाहिए, तो राग-द्वेष से झूठ बोलने की तो बात ही क्या है। यह पं० आशाधरजी ने सत्याणुव्रत का स्वरूप कहा है। दिगम्बर परम्परा के श्रावकाचारों में इस तरह का लक्षण, जिसमें कुछ असत्यों का नाम लिया है, नहीं मिलता। सबने स्थूल असत्य या उसके भेदों के त्याग को सत्याणुव्रत कहा है। यथा–**अमृतचन्द्राचार्य** ने तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार असत् कथन को झूठ कहा है। और उसके चार भेद कहे हैं–सत् का निषेध करना। यथा–देवदत्त के घर में होते हुए भी कहना कि वह घर में नहीं है। असत् का विधान, जो नहीं है उसे कहना कि है। तीसरा–अन्य को अन्य कहना, जैसे बैल को घोड़ा बतलाना। चौथा–गर्हित, पाप सहित और अप्रियवचन बोलना। इन सबका त्याग सत्याणुव्रत है।

सोमदेव आचार्य ने किसी बात को बढ़ाकर कहना, दूसरे के दोषों को कहना, असभ्य वचन बोलना, इनको असत्य कहा है और उसके त्याग को सत्याणुव्रत कहा है। **अमितगति आचार्य** ने भी निन्दनीय धार्मिकों के द्वारा अनादरणीय वचन को तथा अनिष्ट वचन को असत्य कहा है। इन्होंने अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा कहे गये असत्य के चार भेदों को भी बताया है। **वसुनन्दि आचार्य** ने राग-द्वेष से झूठ न बोलने को तथा प्राणियों का घात करने वाले सत्य वचन भी न बोलने को सत्याणुव्रत कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के असत् कथन को असत्य कहते हैं। इस लक्षण को आगे के ग्रन्थकारों ने विस्तृत या स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। **स्वामी समन्तभद्र** ने उसे स्थूल झूठ के रूप में लिया है और जिस सत्य से अपने पर या दूसरों के प्राणों पर आपत्ति आती हो ऐसे सत्य को भी असत्य ठहराया है क्योंकि वह भी असत् की परिभाषा में आता है। जिनसे किसी प्राणी को पीड़ा पहुँचे वे सब वचन अप्रशस्त या असत् हैं चाहे वे विद्यमान को कहते हों चाहे अविद्यमान अर्थ को कहते हों। असत् की यह परिभाषा **पूज्यपाद स्वामी** ने की है। अतः जो वस्तु जैसी देखी हो या सुनी हो उसको वैसा कहना यह सत्य की एकांगी परिभाषा है। जैन धर्म में मूलव्रत अहिंसा है। अतः जिस सत्य से हिंसा होती हो, वह सब असत्य की कोटि में आता है। वैसे तो सत्य बोलने से स्वार्थ का घात होता है और स्वार्थ का घात होने से व्यक्ति को कष्ट पहुँचता है। किन्तु ऐसे सत्य वचन को हिंसा नहीं कह सकते। यदि कहें तो फिर सत्य बोलना ही असम्भव हो जायेगा। अतः स्वार्थघाती सत्य असत्य नहीं है, किन्तु प्राण-घाती सत्य ही असत्य में सम्मिलित है। इसलिए ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए। सदा हित-मित-प्रिय वचन बोलना चाहिए ॥६॥५५॥

साम्प्रतं सत्याणुव्रतस्यातीचारानाह—

परिवादरहोभ्याख्यापैशुन्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य ॥१०॥ ५६॥

परिवादो मिथ्योपदेशोऽभ्युदय निःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेष्वन्यस्यान्यथाप्रवर्तन-मित्यर्थः। रहोऽभ्याख्या रहसि एकान्ते स्त्रीपुंसाभ्यामनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्याभ्याख्या-प्रकाशनं। पैशुन्यं अंगविकारभ्रूविक्षेपादिभिः पराभिप्रायं ज्ञात्वा असूयादिना तत्प्रकटनं साकारमंत्रभेद इत्यर्थः। कूटलेखकरणं च अन्येनानुक्तमननुष्ठितं यत्किंचिदेव तेनोक्त-

मनुष्ठितं चेति वंचनानिमित्तं कूटलेखकरणं कूटलेखक्रियेत्यर्थः । न्यासापहारिता द्रव्य-निक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पसंख्यं द्रव्यमाददानस्य एवमेवेत्यभ्युपगमवचनं । एवं परिवादाद-यश्चत्वारो न्यासापहारिता पंचमिति सत्याणुव्रतस्य पंच व्यतिक्रमाः अतिचाराः भवन्ति ।। १० ।।

आगे सत्याणुव्रत के अतिचार कहते हैं—

(परिवादरहोऽभ्याख्यापैशुन्यं) मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्या, पैशुन्य, (कूटलेख-करणं च) कूटलेख लिखना (अपि च) और (न्यासापहारिता) धरोहर को हड़प करने के वचन कहना ये (पञ्च) पाँच (सत्यस्य) सत्याणुव्रत के (व्यतिक्रमाः) अतिचार (सन्ति) हैं ।

टीकार्थ—परिवाद का अर्थ मिथ्योपदेश है अर्थात् अभ्युदय और मोक्ष की प्रयोजनभूत क्रियाओं में दूसरे को अन्यथा प्रवृत्ति कराना परिवाद या मिथ्योपदेश है । स्त्री-पुरुषों की एकान्त में की हुई विशिष्ट क्रिया को प्रकट करना रहोभ्याख्यान है । अंग विकार तथा भौंहों का चलाना आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट करना पैशुन्य है । इसे साकारमन्त्रभेद कहते हैं । दूसरे के द्वारा अनुक्त अथवा अकृत किसी कार्य के विषय में ऐसे कहना कि यह उसने कहा है या किया है । इस प्रकार धोखा देने के अभिप्राय से कपटपूर्ण लेख लिखना कूटलेखकरण है तथा धरोहर रखने वाला व्यक्ति यदि अपनी वस्तु की संख्या को भूलकर अल्पसंख्या में ही वस्तु को मांग रहा है तो कह देना हाँ, इतनी ही तुम्हारी वस्तु है, ले लो, इसे न्यासापहारिता कहते हैं । इस प्रकार परिवादादिक चार और न्यासापहार मिलकर सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार होते हैं ।

विशेषार्थ—उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में सत्याणुव्रत के अतिचार इस प्रकार बतलाये हैं—

'मिथ्योपदेशरहोऽभ्याख्यान कूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्र भेदाः' अर्थात् मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं । **समन्तभद्र स्वामी** ने उमास्वामी आचार्य का अनुकरण तो किया है किन्तु कुछ अतिचारों में परिवर्तन भी किया है जैसे—सत्याणुव्रत के अतिचारों में परिवाद और पैशुन्य इनको सम्मिलित किया है । और मिथ्योपदेश तथा साकारमन्त्र-

भेद को छोड़ दिया है। सोमदेव आचार्य ने मंत्रभेद परिवाद, पैशुन्य और कूटलेख के साथ झूठी गवाही को भी अलग से अतिचार माना है। इन्होंने न्यासापहार को नहीं कहा है।

जिसने स्थूलझूठ को न बोलने का व्रत लिया है उसे ये पाँच बातें छोड़नी चाहिए। यदि किसी को अभ्युदय और मोक्ष की कारणभूत विशेष क्रियाओं में सन्देह हो और वह पूछे तो अज्ञानवश या अन्य किसी अभिप्रायवश अन्यथा बतला देना अथवा जिसने सत्य बोलने का व्रत लिया है वह यदि परको पीड़ा पहुँचाने वाले वचन बोलता है तो ऐसे वचन असत्य ही हैं। प्रमादवश परपीड़ाकारी उपदेश देता हो तो वह अतिचार है। जैसे–घोड़ों और ऊँटों को लादो, चोरों को मारो इत्यादि निष्प्रयोजन वचन मिथ्योपदेश है। रहोभ्याख्यान 'रह' अर्थात् एकान्त में स्त्री-पुरुष के द्वारा की गई विशेष क्रिया को 'अभ्याख्या' अर्थात् प्रकट कर देना जिससे दम्पती में या अन्य पुरुष और स्त्री में विशेष राग उत्पन्न हो किन्तु यदि ऐसा हँसी या कौतुकवश किया जावे तभी अतिचार है। यदि किसी प्रकार के आग्रहवश ऐसा किया जाता है तो व्रतका ही भंग होता है। कूटलेखक्रिया–दूसरे ने वैसा न तो कहा और न किया, फिर भी ठगने के अभिप्राय से किसी के दबाव में आकर इसने ऐसा किया या कहा इस प्रकार के लेखन को कूटलेखक्रिया कहते हैं। अन्यमत से दूसरे के हस्ताक्षर बनाना, जाली मोहर बनाना कूटलेख है। न्यासापहार–कोई व्यक्ति धरोहर रख गया, किन्तु उसकी संख्या भूल गया और भूल से जितना द्रव्य रखा गया था उससे कम मांगा तो हाँ इतनी ही है ऐसा कहना, इसे न्यासापहार कहते हैं। अन्य ग्रन्थों में इसे न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा नाम दिया है। मन्त्रभेद–अंगविकार तथा भ्रकुटियों के संचालन से दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्ष्यावश प्रकट करना, अथवा विश्वासी मित्रों आदि के द्वारा अपने साथ विचार किये गये किसी शर्मनाक विचार का प्रकट कर देना। ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

सत्यव्रत की रक्षा के लिये तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च' अर्थात् क्रोध का त्याग, लोभ का त्याग, भीरुत्व का त्याग, हास्य का त्याग और अनुवीचिभाषण-आगमानुकूल भाषण ये पाँच भावनाएँ बतलाई हैं। इनके द्वारा ही सत्यव्रत की रक्षा हो सकती है, अन्यथा नहीं। असत्य, कषाय या अज्ञानता के कारण बोला जाता है। कषायनिमित्तक असत्य से बचने के लिये क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग कराया है, क्योंकि ये चारों ही कषाय के रूप हैं।

और अज्ञानमूलक असत्य से बचने के लिए अनुवीचिभाषण—आचार्य परम्परा से प्राप्त आगमानुकूल वचन बोलने की भावना के लिए कहा है। आगम के अध्ययन से अज्ञान से होने वाला असत्य दूर हो जाता है ॥१०॥५६॥

अधुना चौर्यविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं ।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ॥५७॥१२॥

अकृशचौर्यात् स्थूलचौर्यात् । उपारमणं तत् । यत् न हरति न गृह्णाति । किं तत् ? परस्वं परद्रव्यं । कथंभूतं ? निहितं वा धृतं । तथा पतितं वा । तथा सुविस्मृतं वा अतिशयेन विस्मृतं । वा शब्दः सर्वत्र परस्परसमुच्चये । इत्थंभूतं परस्वं अविसृष्टं अदत्तं यत्स्वयं न हरति न दत्तेऽन्यस्मै तदकृशचौर्यादुपारमणं प्रतिपत्तव्यम् ॥११॥

अब अचौर्याणुव्रत का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

(निहितं वा) रखे हुए (पतितं वा) पड़े हुए अथवा (सुविस्मृतं वा) बिल्कुल भूले हुए (अविसृष्टं) बिना दिये हुए (परस्वं) दूसरे के धन को (न हरति) न स्वयं लेता है और न किसी दूसरे को देता है वह (अकृशचौर्यात्) स्थूलस्तेय का (उपारमणं) परित्याग अर्थात् अचौर्याणुव्रत है।

टीकार्थ—अकृशचौर्य का अर्थ स्थूल चोरी है। दूसरे का द्रव्य रखा हुआ हो पड़ा हो, भूला हुआ हो, वा शब्द सर्वत्र परस्पर समुच्चय के लिए है ऐसे धन को बिना दिये न स्वयं लेता है और न उठाकर अन्य को देता है। इस स्थूल चोरी से उपारमणं—निवृत्त होना यह अचौर्याणुव्रत है।

विशेषार्थ—उमास्वामी आचार्य ने चोरी का लक्षण 'अदत्तादानं स्तेयम्' इस प्रकार बतलाया है कि अदत्त-बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। किन्तु समन्तभद्राचार्य ने निहित, पतित, और सुविस्मृतरूप बताये हैं। अर्थात् पराया धन कहीं रखा हुआ हो, या गिरा हुआ हो, या भूला हुआ हो, अचौर्याणुव्रत का धारक मनुष्य ऐसे धनको न स्वयं उठाता है और न उठाकर दूसरे को देता है। यदि ऐसी प्रतीति हो कि 'इस पड़ी हुई वस्तु को यदि मैं नहीं उठाता हूँ तो मेरे पश्चात् आने वाले तो उठा ही लेंगे और यह वस्तु मालिक को नहीं मिल सकेगी' इस प्रकार के

विकल्प के आने पर उस वस्तु को किसी राजकीय स्थान में जमा करा देनी चाहिए और सूचना प्रसारित कर देनी चाहिए। पूज्यपादस्वामी ने भी जिससे दूसरे को पीड़ा पहुँचे और राजा दण्ड दे, ऐसे अवश्य छोड़े हुए, बिना दिये हुए, पराये द्रव्य को नहीं लेना अचौर्याणुव्रत कहा है। अमृतचन्द्राचार्य ने प्रमाद के योग से बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने को चोरी कहा है। यहाँ पर प्रमाद योग की अनुवृत्ति है, जिसका अर्थ होता है चोरी के अभिप्राय से बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण चोरी है और उसका त्याग अचौर्यव्रती करता है। किन्तु गृहस्थ तो अचौर्यव्रती नहीं होता, अचौर्याणुव्रती होता है। मुनिगण सर्व साधारण के भोगने के लिए पड़ी हुई जल और मिट्टी के सिवा बिना दी हुई कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करते। किन्तु गृहस्थ के लिए इस प्रकार का त्याग सम्भव नहीं है। इसलिए गृहस्थ ऐसी बिना दी हुई परायी वस्तु को ग्रहण नहीं करता जिसके ग्रहण करने से चोर कहलाये और राजदण्ड का भागी हो। आचार्य सोमदेव ने भी सर्व भोग्य जल, तृण आदि के अतिरिक्त बिना दी हुई परायी वस्तु के ग्रहण को चोरी कहा है। किन्तु गृहस्थ इस प्रकार का त्याग नहीं कर सकता इसलिए उन्होंने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि कोई ऐसे कुटुम्बी मर जावें जिनका उत्तराधिकार हमें प्राप्त है तो उनका धन बिना दिये भी लिया जा सकता है। यदि जीवित है तो उनकी आज्ञा से लिया जा सकता है। अपना धन हो या पराया जिसके लेने में चोरी का भाव होता है, वह चोरी है। इसी तरह जमीन वगैरह में गड़ा धन राजा का होता है क्योंकि जिस धन का कोई स्वामी नहीं है, उसका स्वामी राजा होता है। इस तरह आचार्य सोमदेव ने अचौर्याणुव्रत को अच्छा स्पष्ट किया है, इसी का अनुसरण आशाधरजी ने किया है ॥ ११ ॥ ५७ ॥

तस्यैदानीमति चारानाह—

चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः।
हीनाधिकविनिमानं पञ्चास्तेयेव्यतीपाताः ॥१२॥ १३॥

'अस्तेये' चौर्यविरमणे। 'व्यतीपाता' अतीचाराः पंच भवन्ति। तथा हि। चौरप्रयोगः चोरयतः स्वयमेवान्येन वा प्रेरणं प्रेरितस्य वा अन्येनानुमोदनं। चौरार्थादानं च अप्रेरितेनाननुमतेन च चोरेणानीतस्यार्थस्य ग्रहणं। विलोपश्च उचितन्यायादन्येन प्रकारेणार्थस्यादानं विरुद्धराज्यातिक्रम इत्यर्थः। विरुद्धराज्ये स्वल्पमूल्यानि

महार्घाणि द्रव्याणीति कृत्वा स्वल्पतरेणार्थेन गृह्णाति। सदृशसन्मिश्रश्च प्रतिरूपकव्यवहार इत्यर्थः सदृशेन तैलादिना सन्मिश्रं घृतादिकं करोति। कृत्रिमैश्च हिरण्यादिभिर्वंचनापूर्वकं व्यवहारं करोति। हीनाधिकविनिमानं विविधं नियमेन मानं विनिमानं मानोन्मानमित्यर्थः। मानं हि प्रस्थादि, उन्मानं तुलादि, तच्च हीनाधिकं, हीनेन अन्यस्मै ददाति, अधिकेन स्वयं गृह्णातीति ॥१२॥

अब, अचौर्याणुव्रत के अतिचार कहते हैं—

(चौरप्रयोग चौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः) चौरप्रयोग, चौरार्थादान, विलोप, सदृशसन्मिश्र और (हीनाधिकविनिमानं) हीनाधिक विनिमान (एते) ये (पञ्च) पाँच (अस्तेये) अचौर्याणुव्रत में (व्यतीपाताः) अतिचार (सन्ति) हैं।

टीकार्थ—अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं, तद्यथा–चोरी करने वाले चोर को स्वयं प्रेरणा देना, दूसरे से प्रेरणा दिलाना, और किसी ने प्रेरणा दी हो तो उसकी अनुमोदना करना **चौर प्रयोग** है। **चौरार्थादान**—जिसे अपने द्वारा प्रेरणा नहीं दी गई है, तथा जिसकी अनुमोदना भी नहीं की गई है ऐसे चोर के द्वारा चुराकर लायी हुई वस्तु को ग्रहण करना चौरार्थादान है। क्योंकि चोरी के माल को खरीदने से चोर को चोरी करने की प्रेरणा मिलती है। **विलोप**—उचित न्याय को छोड़कर अन्य प्रकार के पदार्थ का ग्रहण करना इसे विलोप कहते हैं, इसे ही विरुद्धराज्यातिक्रम कहते हैं। जिस राज्य में अन्य राज्य की वस्तुओं का आना-जाना निषिद्ध किया गया है, उसे विरुद्ध राज्य कहते हैं। विरुद्ध राज्य में महँगी वस्तुएँ अल्पमूल्य में मिलती हैं ऐसा समझकर वहाँ स्वल्प मूल्य में वस्तुओं को खरीदना, और अपने राज्य में अधिक मूल्य में बेचना विरुद्धराज्यातिक्रम कहलाता है। **सदृशसन्मिश्र**—समानरूप-रंगवाली नकली वस्तु को असली वस्तु में मिलाकर असली वस्तु के भाव से बेचना, जैसे–घी में तैल आदि मिश्रित करके बेचना, कृत्रिम-बनावटी सोना-चांदी आदि के द्वारा दूसरों को धोखा देते हुए व्यापार करना सदृशसन्मिश्र कहलाता है। **हीनाधिकविनिमान**—जिससे वस्तुओं का लेन-देन होता है इसको विनिमान कहते हैं, मानोन्मान भी कहते हैं। जिसमें भरकर या तौलकर वस्तु दी जाती है उसे 'मान' कहते हैं जैसे–प्रस्थ, तराजू आदि। और जिससे नाप कर वस्तु ली या दी जाती है उसे उन्मान कहते हैं जैसे–गज, फुट आदि। किसी वस्तु को देते समय कम देना हीन है और खरीदते समय

अधिक लेना हीनाधिक मानोन्मान कहलाता है । अचौर्याणुव्रत का धारी मनुष्य इन सब अतिचारों से दूर रहकर अपने व्रतों की सुरक्षा करता है ।

विशेषार्थ—पहला अतिचार चोर प्रयोग–चोरी करने वाले को स्वयं या दूसरे के द्वारा 'तुम चोरी करो' अथवा जिसे प्रेरणा नहीं दी है किन्तु उस चोर को कहना कि तुम अच्छा करते हो इस प्रकार अनुमोदना करना भी चोर प्रयोग है । अथवा चोरों को चोरी करने के औजार आदि देना या उनको बेचना भी चोर प्रयोग है यद्यपि जिसने–मैं न चोरी करूंगा और न कराऊंगा, इस प्रकार का व्रत लिया है उसके लिए चोर प्रयोगव्रत भंगरूप ही है । तथापि आजकल तुम खाली बेकार क्यों बैठे हो ? यदि तुम्हारे पास खाने को नहीं है तो मैं दे देता हूँ । यदि तुम्हारे चोरी के माल का कोई खरीददार नहीं है तो मैं बेचूंगा, इस प्रकार के वचनों से चोरों को चोरी के लिए प्रेरणा देते हुए भी वह अपने मन में ऐसा सोचता है कि मैं तो चोरी नहीं करता हूँ, इस प्रकार व्रत की अपेक्षा रखने से यह अतिचार है । दूसरा अतिचार है चौराहृत ग्रहण–जिस चोर को न तो चोरी करने की प्रेरणा दी थी और न अनुमोदना, ऐसे चोर के द्वारा लाये गये सुवर्ण वस्त्रादि को मूल्य देकर लेना । जो चोरी का माल छिपकर खरीदता है वह चोर होता है । और चोरी करने से व्रत भंग होता है, किन्तु ऐसा करने वाला समझता है कि मैं तो व्यापार करता हूँ चोरी नहीं । इस प्रकार के संकल्प से व्रत की अपेक्षा रखने से व्रत भंग नहीं होता, किन्तु एकदेशव्रत का भंग और एकदेश का अभंग होने से अतिचार होता है । तीसरा अतिचार है हीनाधिक मानोन्मानमापने के गज-बाट वगैरह को मान कहते हैं और तराजू को उन्मान कहते हैं । दो तरह के तराजू-बाट रखना एक हीन और एक अधिक । हीन या कम से दूसरों को देता है । अधिक से स्वयं लेता है । यह चौथा अतिचार है । प्रतिरूपकव्यवहार–प्रतिरूपक कहते हैं समान को । जैसे–घी का प्रतिरूपक चर्बी, तेल का प्रतिरूपक मूत्र । असली सोने का प्रतिरूपक नकली सोना चांदी । घी में चर्बी मिलाकर बेचना आदि प्रतिरूपकव्यवहार है । वस्तुतः इस प्रकार का काम पराये धन को लेने के लिए करने से चोरी है । किन्तु वह यह समझता है कि दूसरे के मकान में से धन लेना वगैरह ही चोरी प्रसिद्ध है । मैं तो व्यापार की कला मात्र करता हूँ इस भावना से व्रत की रक्षा का भाव होने से अतिचार कहा है । पांचवां अतिचार विरुद्धराज्यातिक्रम–राजा के द्वारा प्रजा पालन के योग्य कर्म को राज्य कहते हैं । वह राज्य नष्ट हो जाय या किसी के द्वारा अपने

अधिकार में कर लिया जाय तो उसे विरुद्ध राज्य कहते हैं। उसमें अतिक्रम का मतलब है उचित न्याय से भिन्न ही प्रकार से लेना देना, विरुद्ध राज्य में सस्ती वस्तुओं को ऊँचे मूल्य पर बेचने का प्रयत्न किया जाता है अथवा परस्पर में विरोधी दो राजाओं का राज्य अर्थात् उनकी नियमित भूमि, सेना वगैरह विरुद्ध राज्य है उसका अतिक्रम अर्थात् व्यवस्था का उल्लंघन। अर्थात् एक राज्य के निवासी का दूसरे राज्य में प्रवेश करना, जैसा—पाकिस्तान और भारत में होता है। यद्यपि अपने राजा की आज्ञा के बिना ऐसा करना बिना दी हुई वस्तु के ग्रहणरूप होने से तथा ऐसा करने वाले चोरी के दण्ड के योग्य होने से चोरी रूप ही है, तथापि ऐसा करने वाले व्यापारी की भावना यह रहती है कि मैं तो व्यापार करता हूं चोरी नहीं करता, लोक में भी उसे कोई चोर नहीं कहता, अतः व्रतसापेक्ष होने से यह अतिचार है।

वास्तव में, तो ये पाँचों ही स्पष्टरूप से चोरी में आते हैं। कोई चोर व्यक्ति यदि चोरी न करने का नियम लेता है तो उसकी दृष्टि से इन्हें अतिचार की श्रेणी में रखा जा सकता है। प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने ये पाँचों अतिचार बतलाये हैं। **आचार्य-समन्तभद्र** ने विरुद्धराज्यातिक्रम के स्थान पर विलोप नामक अतिचार रखा है, जिसका अर्थ है राजाज्ञा को न मानना। **सोमदेव** ने अधिक बाट तराजू और कम बाट-तराजू को अलग अतिचार गिनाया है। तथा विरुद्ध-राज्यातिक्रम के स्थान पर विग्रह और अर्थ संग्रह नामक अतिचार को स्थान दिया है। अर्थात् युद्ध के समय पदार्थों का संग्रह करना कि मूल्य बढ़ने पर बेचकर धन कमायेंगे। यह बराबर अतिचार की कोटि में आता है क्योंकि इसमें शुद्ध व्यापार की भावना है।

अचौर्याणुव्रत की रक्षा के लिए तत्त्वार्थसूत्र में पाँच भावनाओं का वर्णन इस प्रकार किया है—

'शून्यागार विमोचितावास परोपरोधाकरण भैक्ष्यशुद्धिसधर्म्माविसंवादाः पंच' अर्थात्—**शून्यागारवास**—पर्वत की गुफाओं तथा वृक्ष की कोटरों आदि प्राकृतिक शून्य स्थानों में निवास करना।

विमोचितावास—राजा आदि के द्वारा छुड़ाये हुए उजड़े गृहों में निवास करना।

परोपरोधाकरण—अपने स्थान पर दूसरे के ठहर जाने पर रुकावट नहीं करना।

भैक्ष्यशुद्धि—चरणानुयोग की पद्धति से भिक्षा की शुद्धि रखना।

सधर्माविसंवाद—सहधर्मी जनों के साथ उपकरणादि के प्रसंग को लेकर विसंवाद नहीं करना। इन पाँच कार्यों से अचौर्याणुव्रत की रक्षा होती है। मुनि इन भावनाओं का साक्षात् प्रवृत्तिरूप से और गृहस्थ भावनारूप से पालन करते हैं ॥ १२ ॥ ५८ ॥

साम्प्रतंब्रह्मविरत्यणुव्रतस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् ।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ॥ १३ ॥ १४ ॥

'सा परदारनिवृत्तिः' यत् 'परदारान्' परिगृहीतान परिगृहीतांश्च। स्वयं 'न च' नैव। गच्छति। तथा परानन्यान् परदारलम्पटान् न गमयति परदारेषु गच्छतो यत्प्रयोजयति न च। कुतः ? 'पापभीतेः' पापोपार्जनभयात् न पुनः नृपत्यादिभयात्। न केवलं सा परदारनिवृत्तिरेवोच्यते किन्तु 'स्वदारसन्तोषनामापि' स्वदारेषु सन्तोषः स्वदारसन्तोषस्तन्नाम यस्याः ॥१३॥

अब अब्रह्मत्याग अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

(यत्) जो (पापभीतेः) पाप के भय से (परदारान्) परस्त्रियों के प्रति (न तु गच्छति) न स्वयं गमन करता है। (च) और (न परान्) न दूसरों को (गमयति) गमन कराता है (सा) वह (परदारनिवृत्तिः) परस्त्री त्याग अथवा (स्वदारसन्तोषनामापि) स्वदारसन्तोष नामका अणुव्रत है।

टीकार्थ—परदार शब्द का समास—'परस्य दाराः परदारास्तान्' अर्थात् पर की स्त्री, अथवा 'पराश्चते दाराश्च परदारास्तान्' अर्थात् परस्त्रियाँ। यहाँ पर पहले समास में परके द्वारा गृहीत स्त्री को ग्रहण किया है और दूसरे में परके द्वारा जो ग्रहण नहीं की गई है ऐसी कन्या अथवा वेश्या का ग्रहण होता है। इस प्रकार परिगृहीत और अपरिगृहीत दोनों प्रकार की परस्त्रियों के साथ पापोपार्जन के भय से, न कि राजादिक के भय से, न स्वयं संगम करता है और न परस्त्री लम्पट अन्य पुरुषों को गमन कराता है वह परस्त्री त्याग अणुव्रत अथवा स्वदारसन्तोषव्रत कहलाता है।

विशेषार्थ—जिनके साथ धर्मानुकूल विवाह हुआ है वे तो स्वस्त्री कहलाती हैं। इनके सिवाय जो अन्य स्त्रियाँ हैं वे परस्त्रियाँ कहलाती हैं। परस्त्री दो प्रकार की होती है—परिगृहीता और अपरिगृहीता। जो दूसरे के द्वारा विवाहित है, वह तो परिगृहीता है और जो स्वच्छन्द है, जिसका पति परदेश में है या अनाथ, कुलीन स्त्री है वह अपरिगृहीता है।

कन्या का स्वामी भविष्य में होने वाला उसका पति है और वर्तमान में वह पिता के आधीन होने से सनाथ है। अतः वह भी अन्य स्त्री में आती है। पण्य स्त्री वेश्या को कहते हैं। इन दोनों प्रकार की स्त्रियों को जो पाप के भय से, न कि राजा या समाज के भय से मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से न तो स्वयं भोगता है और न दूसरों से ऐसा कराता है वह स्वदारसन्तोषी है। आचार्य ने परदारनिवृत्ति और स्वदारसन्तोष इन दो नामों का प्रयोग किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्याणुव्रत का धारक पुरुष देश-काल के अनुसार अपनी अनेक स्त्रियाँ हों तो उनका भी भोग कर सकता है, परस्त्रियों का नहीं।

बुद्धिमान मनुष्य को मन-वचन-काय से विष बेल की तरह परस्त्री का त्याग करके स्वस्त्री में ही सन्तोष करना चाहिए, तथा काम से पीड़ित होने पर अपनी पत्नी का सेवन भी अति आसक्ति से नहीं करना चाहिए। शीत से पीड़ित मनुष्य यदि आग की लपटों का सेवन अति आसक्ति से करे तो अग्नि उसे जला देगी। कहा भी है—विषयसेवन का फल नपुंसकता या लिंगच्छेद है ऐसा जानकर बुद्धिमान को स्वदार-सन्तोषी होना चाहिए और परस्त्रियों का त्याग करना चाहिए।

यद्यपि स्वीकार किये गये व्रत को पालन करने वाले गृहस्थ को वैसा पाप बन्ध नहीं होता जैसा अव्रती को होता है, तथापि मुनिधर्म का अनुरागी ही गृहस्थ धर्म को पालता है। इसलिए मुनिधर्म धारण करने से पहले गृहस्थावस्था में भी जो काम-भोग से विरक्त होकर श्रावक धर्म को पालता है, उसे वैराग्य की अन्तिम सीमा पर ले जाने के लिये सामान्य से अब्रह्म के दोषों से बचना चाहिए ॥१३॥५९॥

तस्यातिचारानाह—

अन्यविवाहाकरणानंगक्रीडाविटत्वविपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ॥१४॥६०॥

'अस्मरस्या' ब्रह्मनिवृत्त्यणुव्रतस्य । पंच व्यतीचाराः । कथमित्याह—अन्येत्यादि—कन्यादानं विवाहोऽन्यस्य विवाहोऽन्यविवाहः तस्य आ समन्तात् करणं, तच्च अनंगक्रीडा च अंगं लिंगं योनिश्च तयोरन्यत्र मुखादिप्रदेशे क्रीडा अनंगक्रीडा । विटत्वं भण्डिमा प्रधानकायवाक्प्रयोगः । विपुलतृट् च कामतीव्राभिनिवेशः । इत्वरिकागमनं च परपुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी पुंश्चली कुत्सायां के कृते इत्वरिका भवति तत्र गमनं चेति ।।१४।।

अब ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार कहते हैं—

(अन्यविवाहाकरणानंगक्रीडाविटत्वविपुलतृषः) अन्य विवाहाकरण, अनंगक्रीड़ा, विटत्व, विपुलतृषा (च) और (इत्वरिकागमनं) इत्वरिकागमन (एते) ये (पञ्च) पाँच (अस्मरस्य) ब्रह्मचर्याणुव्रत के (व्यतीचाराः) अतिचार (सन्ति) हैं ।

टीकार्थ—ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं—**अन्यविवाहाकरण**- कन्यादान को विवाह कहते हैं । अपनी या अपने आश्रित बन्धुजनों की सन्तान को छोड़कर अन्य लोगों की सन्तान का विवाह प्रमुख बनकर करना, वह अन्य विवाहाकरण है । किन्तु सहधर्मीभाई के नाते उनके विवाह में सम्मिलित होने में कोई निषेध नहीं है । **अनंग क्रीड़ा**—कामसेवन के निश्चित अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से क्रीड़ा करना । **विटत्व**—शरीर से कुचेष्टा करना और मुख से अश्लील भद्दे शब्दों का प्रयोग करना विटत्व है । **विपुलतृषा**—कामसेवन की तीव्र अभिलाषा रखना विपुलतृषा है । **इत्वरिकागमन**—परपुरुषरत व्यभिचारिणी स्त्री को इत्वरिका कहते हैं । ऐसी स्त्रियों के यहाँ आना-जाना उनके साथ उठना-बैठना तथा व्यापारिक सम्पर्क बढ़ाना आदि इत्वरिकागमन है ।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्र में ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार बतलाये हैं, तद्यथा—'परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीड़ाकामतीव्राभिनिवेशाः' अर्थात् परविवाहकरण, परिगृहीतेत्वरिकागमन, अपरिगृहीतेत्वरिकागमन, अनंगक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं । समन्तभद्रस्वामी ने परिगृहीतेत्वरिकागमन और अपरिगृहीतेत्वरिकागमन इन दो अतिचारों को एक इत्वरिकागमन में सम्मिलित कर विटत्व को अलग गिनाया है । ब्रह्मचर्याणुव्रत का अतिचार इत्वरिकागमन है जिसका कोई स्वामी नहीं है और जो गणिका या दुराचारिणी के रूप में पुरुषों के पास आती जाती है उसे इत्वरी कहते हैं । तथा जो प्रत्येक पुरुष के पास

जाती है वह इत्वरी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेश्या भी इत्वरी है। इस इत्वरी शब्द से कुत्सा के अर्थ में 'क' प्रत्यय करने पर इत्वरिका शब्द बनता है। उसमें गमन करना अर्थात् उसका सेवन करना इत्वरिका गमन नामका अतिचार है।

आचार्यसमन्तभद्र ने परदारनिवृत्ति और स्वदारसन्तोष को भिन्न नहीं माना है, एक ही माना है। उन्होंने अन्य विवाहकरण, अनंगक्रीड़ा, विटत्व, विपुलतृषा और इत्वरिकागमन ये पांच अतिचार कहे हैं। और **सोमदेवसूरि** ने परस्त्रीसंगम, अनंगक्रीड़ा, अन्यविवाह, तीव्रता, और विटत्व इनको अतिचार कहा है। इन्होंने इत्वरिकागमन के स्थान पर परस्त्रीसंगम नाम दिया है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत की रक्षा के लिए **तत्त्वार्थसूत्र** में पांच भावनाओं का उल्लेख किया गया है।

'स्त्रीरागकथा श्रवण तन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरस स्वशरीर संस्कारत्यागाः पंच' अर्थात् स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने का त्याग करना, उनके मनोहर अंगों के देखने का त्याग करना, पहले भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग करना, गरिष्ठ एवं कामोत्तेजक पदार्थों के सेवन का त्याग करना और अपने शरीर की सजावट का त्याग करना इन भावनाओं से ब्रह्मचर्यव्रत सुरक्षित रहता है ॥ १४ ॥ ६० ॥

अथेदानीं परिग्रहविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपंदर्शयन्नाह—

धनधान्यादिग्रन्थं परिमायततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥१५॥ १६॥

'परिमितपरिग्रहो' देशतः परिग्रह विरतिरणुव्रतं स्यात्। कासौ ? या 'ततोऽधिकेषु निस्पृहता' ततस्तेभ्य इच्छावशात् कृतपरिसंख्यातेभ्योऽर्थेभ्योऽधिकेष्वर्थेषु या निस्पृहता वाञ्छाव्यावृत्तिः। किं कृत्वा ? 'परिमाय' देवगुरुपादाग्रे परिमितं कृत्वा। कं ? 'धनधान्यादिग्रन्थं' धनं गवादि, धान्यं व्रीह्यादि। आदिशब्दाद् दासी दासभार्यागृह क्षेत्रद्रव्यसुवर्णरूप्याभरणवस्त्रादिसंग्रहः। स चासौ ग्रन्थश्च तं परिमाय। स च परिमितपरिग्रहः 'इच्छापरिमाण नामापि' स्यात्, इच्छायाः परिमाणं यस्य स इच्छापरिमाणस्तन्नाम यस्य स तथोक्तः ॥१५॥

आगे, परिग्रहविरति–अणुव्रत का स्वरूप दिखलाते हुए कहते हैं—

(धनधान्यादि ग्रन्थं) धन-धान्य आदि परिग्रह का (परिमाय) परिमाणकर (ततः) उससे (अधिकेषु) अधिक में (निस्पृहता) इच्छा रहित होना (परिमित परिग्रहः) परिमितपरिग्रह अथवा (इच्छापरिमाणनामापि) इच्छापरिमाण नामका अणुव्रत (स्यात्) होता है।

टीकार्थ—परिग्रह का परिमाण करने वाला परिग्रह परिमाणाणुव्रती कहलाता है। क्योंकि प्रमाण से अधिक में होने वाली इच्छा का निरोध हो गया। अपनी इच्छा से धन-गाय-भैंसादि। धान्य-चावलादि। तथा आदि शब्द से दासी-दास स्त्री-मकान-खेत-नकद द्रव्य-सोना-चांदी आदि के आभूषण तथा वस्त्रादि के संग्रहरूप परिग्रह की संख्या का परिमाण कर उससे अधिक वस्तु में वाञ्छा-इच्छा नहीं रखना इसलिए इसका दूसरा नाम इच्छापरिमाणव्रत भी है।

विशेषार्थ—'परितः गृह्णाति आत्मानमिति परिग्रहः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो आत्मा को सब ओर से जकड़ ले उसे परिग्रह कहते हैं। स्त्री-पुत्र आदि चेतन वस्तु हैं। घर-स्वर्णादि अचेतन वस्तु हैं और बाह्य पुष्पवाटिका आदि तथा अभ्यन्तर मिथ्यात्व आदि चेतन-अचेतन हैं, ये चेतन या अचेतन अथवा चेतन-अचेतन वस्तुएँ मेरी हैं मैं इनका स्वामी हूँ, इस प्रकार के मानसिक अध्यवसाय को-ममत्वपरिणाम को परिग्रह कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में भी मूर्च्छा को परिग्रह कहा है। उसकी व्याख्या करते हुए **पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में** कहा है—बाह्य गाय, भैंस, मणि, मुक्ता आदि चेतन-अचेतन वस्तुओं के तथा राग आदि अभ्यन्तर परिग्रहों के संरक्षण, उपार्जन, संस्कार आदिरूप संलग्नता को मूर्च्छा कहते हैं। तो प्रश्न होता है कि यदि ममत्वपरिणामरूप मूर्च्छा है तो बाह्य सम्पत्ति और स्त्री-पुत्रादि परिग्रह नहीं कहलायेंगे ? इसके समाधान में कहा है कि आपका कहना सत्य है। ममत्वभाव ही प्रधान परिग्रह है। अतः उसी का ग्रहण किया है, बाह्यपरिग्रह के नहीं होने पर भी, 'जिसमें यह मेरा है' इस प्रकार का जो ममत्वभाव है वह परिग्रह है। पुनः प्रश्न हुआ कि तब तो बाह्य परिग्रह ही नहीं होता ? इसके उत्तर में कहते हैं कि बाह्य भी परिग्रह होता है। क्योंकि वह मूर्च्छा का कारण है। स्त्री-पुत्र-धनादि के होने पर ममत्वभाव होता है और जहां ममत्वभाव हुआ, तत्काल उसके संरक्षण आदि की चिन्ता हो जाती है। अतः परिग्रह

का मूल ममत्वभाव है। इसलिए उसमें कमी करके बाह्यपरिग्रह को कम करना परिग्रह परिमाणव्रत है। इसी कारण से स्वामी समन्तभद्र ने इस व्रत का दूसरा नाम इच्छा-परिमाणव्रत दिया है। उन्होंने धन-धान्यादि का परिमाण करके उससे अधिक की इच्छा न करने को परिग्रह परिमाणव्रत कहा है। और उसका दूसरा नाम इच्छा-परिमाण कहा है। क्योंकि इच्छा का परिमाण करके ही परिग्रह का परिमाण किया जाता है। यदि इच्छाओं की सीमा न हो तो परिग्रह का परिमाण करना व्यर्थ ही है। मनुष्य की तृष्णा को कम करने के लिए ही यह व्रत है ऐसा अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—बाह्यपरिग्रह से भी अनुचित असंयम होता है इसलिए समस्त सचित्त और अचित्त परिग्रह छोड़ना चाहिए। जो धन-धान्य, मकान मनुष्य आदि छोड़ने में अशक्य है, उसे भी कम तो करना ही चाहिए। क्योंकि तत्त्व तो निवृत्तिरूप है।

श्रावक देश, काल, आत्मा, स्वयं और जाति आदि की अपेक्षा परिग्रह-विषयक तृष्णा को सन्तोष की भावना के द्वारा रोककर मकान, खेत, धन, धान्य, दासी-दास, पशु, शय्यासन, सवारी, कुप्य और भाण्ड इन दस प्रकार के परिग्रहों का जीवन पर्यन्त के लिए परिमाण करे। तथा किये हुए परिमाण वाले परिग्रह को भी निष्परिग्रह की भावना से उत्पन्न हुई अपनी शक्ति के अनुसार पुनः कम करे। परिग्रह परिमाण करते समय श्रावक को अपने परिवार, उसके रहन-सहन तथा देश-काल और जाति का ध्यान रखकर ही परिमाण करना चाहिए जिससे आगे निर्वाह होने में कोई कठिनाई उपस्थित न हो।

परिग्रह के दोष—जैसे रात्रि अन्धकार का कारण है, वैसे ही परिग्रह अविश्वास का कारण है। परिग्रही व्यक्ति किसी का भी विश्वास नहीं करता। रात्रि में सोता नहीं और दिन में भी सशंक रहता है कि कोई मेरा धन न हर ले, तथा जैसे आग में घी डालने से आग प्रज्वलित सन्ताप देने वाली होती है तथा जैसे समुद्र में मगरमच्छ रहते हैं वैसे ही परिग्रह होने से मनुष्य खूब रोजगार धन्धा फैलाता है। उसकी कभी तृप्ति नहीं होती। ऐसे परिग्रह को लोग अच्छा मानते हैं, यही आश्चर्य है। कहा है—परिग्रह का फल असन्तोष, अविश्वास, आरम्भ और ममत्व है जो दुःख का कारण है इसलिए परिग्रह का नियन्त्रण करना चाहिए ॥१५॥६१॥

तस्यातिचारानाह—

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभाति भारवहनानि ।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ।।१६।।१७।।

'विक्षेपाः' अतिचाराः । पंच 'लक्ष्यन्ते' निश्चीयन्ते । कस्य ? परिमितपरिग्रहस्य न केवलमहिंसाद्यणुव्रतस्य पंचातिचारा निश्चीयन्ते अपि तु परिमितपरिग्रहस्यापि । च शब्दोऽत्रापिशब्दार्थे । के तस्यातिचारा इत्याह—अतिवाहनेत्यादि । लोभातिगृद्धिनिवृत्त्यर्थं परिग्रह परिमाणे कृते पुनर्लोभावेशवशादतिवाहनं करोति । यावन्तं हि मार्गं बलीवर्दादयः सुखेन गच्छन्ति ततोऽप्यतिरेकेण वाहनमतिवाहनं । अतिशब्दः प्रत्येकं लोभान्तानां सम्बध्यते । इदं धान्यादिकमग्रे विशिष्टं लाभं दास्यतीति लोभावेशादतिशयेन तत्संग्रहं करोति । तत्प्रतिपन्नलाभेन विक्रीते तस्मिन् मूलतोऽप्यसंगृहीतवाधिकेऽर्थे लब्धे लोभावेशादतिविस्मयं विषादं करोति । विशिष्टेऽर्थे लब्धेऽप्यधिकलाभाकांक्षावशादतिलोभं करोति । लोभावेशादधिकभारारोपणमति भारवाहनं । ते विक्षेपाः पंच ।।१६।।

अब, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार कहते हैं—

(अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि) अतिवाहन, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ और अतिभारवाहन (एते) ये (पंच) पाँच (परिमितपरिग्रहस्य च) परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के भी (विक्षेपाः) अतिचार (लक्ष्यन्ते) निश्चित किये जाते हैं ।

टीकार्थ—विक्षेप का अर्थ अतिचार है । जिस प्रकार अहिंसादि अणुव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं । उसी प्रकार परिग्रहपरिमाणअणुव्रत के भी पाँच अतिचार निश्चित किये हैं । श्लोक में आया हुआ च शब्द 'अपि' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । वे अतिचार इस प्रकार हैं—**अतिवाहन**—लोभ की तीव्रता को कम करने के लिए परिग्रह का परिमाण कर लेने पर भी लोभ के आवेश से अधिक वाहन करता है अर्थात् बैल आदि पशु जितने मार्ग को सुखपूर्वक पार कर सकते हैं । उससे अधिक दूर तक उन्हें चलाना अतिवाहन कहलाता है । अति शब्द प्रत्येक में लगाना चाहिए । **अतिसंग्रह**—यह धान्यादिक आगे जाकर बहुत लाभ देगा, इस लोभ के वश से जो अधिक संग्रह करता है उसका यह कार्य अति संग्रह नामक अतिचार है । **अतिविस्मय**—संगृहीत वस्तु को वर्तमान भाव से बेच देने पर किसी का मूल भी वसूल नहीं हुआ और दूसरा कुछ ठहर कर बेचता है तो उसके अधिक लाभ होता है, यह देखकर लोभ

के आवेश से जो अत्यन्त खेद एवं अतिविस्मय करता है। यह अतिविस्मय नामक अतिचार है। **अतिलोभ**—विशिष्ट अर्थलाभ होने पर भी और भी अधिक लाभ की आकांक्षा करता है वह अतिलोभनामका अतिचार है। **अतिभारारोपण**—लोभ के आवेश से अधिक भार लादना अतिभारारोपण अतिचार है। अतिभारारोपण अतिचार अहिंसाणुव्रत के अतिचारों में भी आया है। परन्तु वहाँ पर कष्ट देने का भाव है और यहां पर अधिक लाभ प्राप्ति की भावना है। इस प्रकार परिग्रह परिमाणव्रत के ये पाँच अतिचार कहे गये हैं।

विशेषार्थ—**तत्वार्थसूत्र** में क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, दासी-दास, धन-धान्य और कुप्यभाण्ड के परिमाण के अतिक्रम को परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार कहे हैं। **पुरुषार्थसिद्धयुपाय** में भी ऐसा ही कथन है। किन्तु इनके परिमाण का उल्लंघन कैसे किया जाता है। इसको **पं० आशाधरजी** ने स्पष्ट किया है। बाह्य परिग्रह को पाँच मानकर पाँच अतिचारों का सुखपूर्वक बोध कराने के लिए यहां वास्तु और क्षेत्र को मिला दिया है। क्षेत्र और वास्तु का जो परिमाण किया था उसका उल्लंघन करना जैसे—किसी ने नियम कर लिया कि मैं एक खेत और एक मकान रखूंगा, बाद में पास का खेत और मकान खरीद लिया और वास्तु और क्षेत्र में बीचकी दीवार वगैरह हटाकर मकान में दूसरा मकान और खेत में दूसरा खेत मिलाकर एक कर लिया। परिग्रह परिमाणव्रत के धारी श्रावक को देव-गुरु की साक्षीपूर्वक व्रत ग्रहण करते समय जीवन पर्यन्त के लिए सीमित की गई संख्या का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। 'मैं तो मकान वगैरह बढ़ाता हूँ, स्वीकार की गई संख्या को तो नहीं बढ़ाता।' इस प्रकार की भावना से परिमाण का अतिक्रम नहीं करना चाहिए। अन्यथा वास्तु-क्षेत्र-प्रमाणातिक्रम नामका प्रथम अतिचार होता है। क्योंकि जो व्रत की अपेक्षा रखते हुए अपनी बुद्धि से व्रतभंग नहीं करता उसे ही अतिचार कहा है।

इसी प्रकार सोना-चांदी के विषय में किसी ने नियम लिया कि मैं गले के दो हार, चार चूड़ियाँ, पैरों की दो जोड़ी पायल रखूंगा। पीछे चलकर लोभ सताने लगा तो सोने के आभूषणों में और सोना मिलवा लेना, चांदी के आभूषणों में और चांदी मिलाकर आभूषण बना लेना यहाँ आभूषण की संख्या तो नहीं बढ़ायी किन्तु वजन बढ़ा लिया, इस प्रकार भंगाभंग की अपेक्षा यह अतिचार बनता है। इसी प्रकार अन्य अतिचारों को भी समझना चाहिए। इस व्रत की रक्षा के लिए उमास्वामी आचार्य ने

निम्नलिखित पाँच भावनाएँ लिखी हैं – 'मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानिपंच' अर्थात्–स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों के मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषय में राग-द्वेष नहीं करना परिग्रहत्यागव्रत की पांच भावनाएँ हैं ॥१६॥६२॥

एवं प्ररूपितानि पंचाणुव्रतानि निरतिचाराणि किं कुर्वन्तीत्याह—

पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥१७॥१८॥

'फलन्ति' फलं प्रयच्छन्ति। के ते ? 'पंचाणुव्रतनिधयः' पंचाणुव्रतान्येव निधयो निधानानि। कथंभूतानि ? 'निरतिक्रमणा' निरतिचाराः। किं फलन्ति ? 'सुरलोकं'। यत्र सुरलोके 'लभ्यन्ते'। कानि ? 'अवधिरवधिज्ञानं'। 'अष्टगुणा' अणिमामहिमेत्यादयः। 'दिव्यशरीरं च' सप्तधातुविवर्जितं शरीरं। एतानि सर्वाणि यत्र लभ्यन्ते ॥१७॥

इस प्रकार अतिचार रहित पांच अणुव्रतों का वर्णन किया। अब ये क्या फल देते हैं ? यह कहते हैं—

(निरतिक्रमणाः) अतिचाररहित (पञ्च) पांच (अणुव्रतनिधयः) अणुव्रतरूपी निधियां (तं) उस (सुरलोकं) स्वर्गलोकको (फलन्ति) फलती हैं–देती हैं (यत्र) जिसमें (अवधिः) अवधिज्ञान (अष्टगुणाः) अणिमा महिमा आदि आठ गुण (च) और (दिव्य शरीरं) सात धातुओं से रहित वैक्रियिक शरीर (लभ्यन्ते) प्राप्त होते हैं।

टीकार्थ—निरतिचार पंच अणुव्रत निधियों के समान हैं। इस प्रकार जो इनका अतिचार रहित परिपालन करता है वह नियम से स्वर्ग जाता है। स्वर्ग में भवप्रत्यय अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है, और अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ ऋद्धियां प्राप्त होती हैं तथा सप्तधातु से रहित दिव्य वैक्रियिक शरीर प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—अणुव्रत धारण करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं। बद्धायुष्क और अबद्धायुष्क। जो अणुव्रत धारण करने के पहले आयु बाँध चुके हैं वे बद्धायुष्क कहलाते हैं और जो अणुव्रतों के धारण करने के पश्चात् आयु बांधते हैं वे अबद्धायुष्क कहलाते हैं। ये दोनों ही प्रकार के अणुव्रती नियम से वैमानिक देव होते हैं, क्योंकि ऐसा नियम है। 'अणुवदमहव्वदाई न लहदि देवाउगं मोत्तु' क्योंकि

ऐसा नियम है कि देवायु को छोड़कर जिस जीवके अन्य आयु का बन्ध हो गया है, वह उस पर्याय में अणुव्रत तथा महाव्रत धारण नहीं कर सकता है। और अणुव्रत के काल में यदि आयुबन्ध होता है तो नियम से देवायु का ही बन्ध होता है। अणुव्रत धारण करने के पहले मिथ्यात्व अवस्था में किसी ने भवनत्रिक की आयु बांधी हो तो वह भी अणुव्रती होने के पश्चात् वैमानिक देव की आयु में परिवर्तित हो जाती है। अणुव्रतों का धारक जीव सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है। उसके आगे उत्पन्न होने के लिए तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा धारण करना आवश्यक है। जिसे समतारूपी अमृतपान करने की तीव्र उत्कण्ठा है, उसे व्रत धारण करने का लक्ष्य बनाकर पंच अणुव्रतों को अपनाकर उन्हें भावनाओं के द्वारा निरतिचार बनाना चाहिए और उनको पुष्ट करने के लिए सात शीलों का पालन करना चाहिए। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में कहा है—

परिधय इव नगराणि व्रतानि परिपालयन्ति शीलानि।
व्रत पालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥

अर्थ—जिस प्रकार कोट से नगर की रक्षा होती है वैसे ही शीलों से व्रतों की रक्षा होती है। अतः शीलों का भी परिपालन करना चाहिए। इस प्रकार व्रतों का पालन करते हुए समाधिपूर्वक मरण करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है ॥१७॥६३॥

इह लोके किं न कस्याप्यहिंसाद्यणुव्रतानुष्ठानफलप्राप्तिर्दृष्टा येन परलोकार्थं तदनुष्ठीयते इत्याशंक्याह—

मातंगो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च सम्प्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥१८॥ ६४॥

हिंसा विरत्यणुव्रतात् मातंगेन चाण्डालेन उत्तमः पूजातिशयः प्राप्तः।

अस्य कथा

सुरम्यदेशे पोदनपुरे राजा महाबलः। नन्दीश्वराष्टम्यां राज्ञा अष्टदिनानि जीवामारण घोषणायां कृतायां बलकुमारेण चात्यन्तमांसासक्तेन कंचिदपि पुरुषमपश्यता राजोद्याने राजकीयमेण्ढकः प्रच्छन्नेन मारयित्वा संस्कार्य भक्षितः। राज्ञा च मेण्ढक-मारणवार्तामाकर्ण्य रुष्टेन मेण्ढकमारको गवेषयितुं प्रारब्धः। तदुद्यानमालाकारेण च

वृक्षोपरि चटितेन स तन्मारणं कुर्वाणो दृष्टः। रात्रौ च निजभार्यायाः कथितं। ततः प्रच्छन्नचरपुरुषेणाकर्ण्य राज्ञः कथितं। प्रभाते मालाकारोऽप्याकारितः। तेनैव पुनः कथितं। मदीयामाज्ञां मम पुत्रः खण्डयतीति रुष्टेन राज्ञा कोट्टपालो भणितो बलकुमारं नवखण्डं कारयेति। ततस्तं कुमारं मारणस्थानं नीत्वा मातङ्गमानेतुं ये गताः पुरुषास्तान् विलोक्य मातंगेनोक्तं प्रिये! मातङ्गो ग्रामं गत इति कथयत्वमेतेषामित्युक्त्वा गृहकोणे प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः। तलारैश्चाकारिते मातङ्गे कथितं मातंग्या सोऽद्य ग्रामं गतः। भणितं च तलारैः स पापोऽपुण्यवानद्य ग्रामं गतः कुमारमारणात्तस्य बहुसुवर्णरत्नादिलाभो भवेत। तेषां वचनमाकर्ण्यद्रव्यलुब्धया तथा हस्तसंज्ञया स दर्शितो ग्रामं गत इति पुनः पुनर्भणन्त्या। ततस्तैस्तं गृहान्निःसार्य तस्य मारणार्थं स कुमारः समर्पितः। तेनोक्तं नाहमद्य चतुर्दशीदिने जीवघातं करोमि। ततस्तलारैः स नीत्वा राज्ञः कथितः, देव! अयं राजकुमारं न मारयति। तेन च राज्ञः कथितं सर्पदष्टो मृतः श्मशाने निक्षिप्तः सर्वौषधिमुनिशरीरस्य वायुना पुनर्जीवितोऽहं तत्पार्श्वे चतुर्दशीदिवसे मया जीवाहिंसाव्रतं गृहीतमतोऽद्य न मारयामि देवो यज्जानाति तत्करोतु। अस्पृश्यचाण्डालस्य व्रतमिति संचिन्त्य रुष्टेन राज्ञा द्वावपि गाढं बन्धयित्वा सुमारद्रहे निक्षेपितौ। तत्र मातङ्गस्य प्राणात्ययेऽप्यहिंसाव्रतमपरित्यजतो व्रतमाहात्म्याज्जलदेवतया जलमध्ये सिंहासनमणिमण्डपिकादुन्दुभिसाधुकारादिप्रातिहार्यादिकं कृतं। महाबलराजेन चैतदाकर्ण्य भीतेन पूजयित्वा निजच्छत्रतले स्नापयित्वा स स्पृश्यो विशिष्ट कृत इति प्रथमाणुव्रतस्य।

अनृतविरत्यणुव्रताद्धनदेवश्रेष्ठिना पूजातिशयः प्राप्तः।

अस्य कथा

जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविषये पुण्डरीकिण्यां पुर्यां वणिजौ जिनदेवधनदेवौ स्वल्पद्रव्यौ। तत्र धनदेवः सत्यवादी। द्रव्यस्य लाभं द्वावप्यर्धमर्धं ग्रहीष्याव इति निःसाक्षिकां व्यवस्थां कृत्वा दूरदेशं गतौ बहुद्रव्यमुपार्ज्य व्याघुट्य कुशलेन पुण्डरीकिण्यामायातौ। तत्र जिनदेवो लाभार्धं धनदेवाय न ददाति। स्तोकद्रव्यमौचित्येन ददाति ततो शकटके न्याये च सति स्वजनमहाजनराजाग्रतो निःसाक्षिकव्यवहार बलाज्जिनदेवो वदति न मयाऽस्य लाभार्धं भणितमुचितमेवभणितं। धनदेवश्च सत्यमेव वदति द्वयोरर्धमेव ततो राजनियमात्तयोर्दिव्यं दत्तं धनदेवः शुद्धो नेतरः। ततः सर्वं द्रव्यं धनदेवस्य समर्पितं तथा सर्वैः पूजितः साधुकारितश्चेति द्वितीयाणुव्रतस्य।

चौर्यविरत्यणुव्रताद्वारिषेणेन पूजातिशयः प्राप्तः । अस्य कथा स्थितीकरणगुण-व्याख्यान प्रघट्टके कथितेह द्रष्टव्येति तृतीयाणुव्रतस्य ।

ततः परं नीली जयश्च । ततस्तेभ्यः परं यथा भवत्येवं पूजातिशयं प्राप्तौ । तत्राब्रह्मविरत्यणुव्रतान्नीली वणिक्पुत्री पूजातिशयं प्राप्ता ।

अस्याः कथा

लाटदेशे भृगुकच्छपत्तने राजा वसुपालः । वणिग्जिनदत्तो भार्या जिनदत्ता पुत्री नीली अतिशयेन रूपवती । तत्रैवापरः श्रेष्ठी समुद्रदत्तो भार्या सागरदत्ता पुत्रः सागरदत्तः । एकदा महापूजायां वसन्तौ कायोत्सर्गेण संस्थितां सर्वाभरणविभूषितां नीली-मालोक्य सागरदत्तेनोक्तं किमेषापि देवता काचिदेतदाकर्ण्य तन्मित्रेण प्रियदत्तेन भणितं—जिनदत्तश्रेष्ठिन इयं पुत्री नीली । तद्रूपालोकनादतीवासक्तो भूत्वा कथमियं प्राप्यत इति तत्परिणयनचिन्तया दुर्बलो जातः । समुद्रदत्तेन चैतदाकर्ण्य भणितः—हे पुत्र ! जैनं मुक्त्वा नान्यस्य जिनदत्तो ददातीमां पुत्रिकां परिणेतुं । ततस्तौ कपटश्रावकौ जातौ परिणीता च सा, ततः पुनस्तौ बुद्धभक्तौ जातौ, नील्याश्च पितृगृहे गमनमपि निषिद्धं, एवं वंचने जाते भणित जिनदत्तेन—इयं मम न जाता कूपादौ वा पतिता यमेन वा नीता इति । नीली च श्वसुरगृहे भर्तुः वल्लभा भिन्नगृहे जिनधर्ममनुतिष्ठन्ती तिष्ठति । दर्शनात् संसर्गाद् धर्मवचनाकर्णनाद्वा कालेनेयं बुद्धभक्ता भविष्यतीति पर्यालोच्य समुद्र-दत्तेन भणिता नीली पुत्री ! ज्ञानिनां वन्दकानामस्मदर्थं भोजनं देहि । ततस्तया वंदका-नामामंत्र्याहूय च तेषामेकैका प्राणहितातिपिष्टा संस्कार्य तेषामेव भोक्तुं दत्ता । तैर्भोजनं भुक्त्वा गच्छद्भिः प्रष्टं—क्व प्राणहिताः ? तयोक्तं भवन्त एव ज्ञानेन जानन्तु यत्र तास्तिष्ठन्ति, यदि पुनर्ज्ञानं नास्ति तदा वमनं कुर्वन्तु भवतामुदरे प्राणहितास्तिष्ठन्तीति । एवं वमने कृते दृष्टानि प्राणहिताखण्डानि । ततो रुष्टश्च श्वसुरपक्षजनः । ततः सागर-दत्तभगिन्या कोपात्तस्या असत्यपरपुरुषदोषोद्भावना कृता । तस्मिन् प्रसिद्धि गते सा नीली देवाग्रे संन्यासं गृहीत्वा कायोत्सर्गेण स्थिता, 'दोषोत्तारे भोजनादौ प्रवृत्तिर्मम नान्यथेति' ततः क्षुभित नगरदेवतया आगत्य रात्रौ सा भणिता—हे महासति ! मा प्राण-त्यागमेवं कुरु, अहं राज्ञः प्रधानानां पुरजनस्य स्वप्नं ददामि । लग्ना यथा नगरप्रतोल्यः कीलिता महासतीवामचरणेन संस्पृश्य उद्घटिष्यन्ति इति । ताश्च प्रभाते भवच्चरणं स्पृष्ट्वा एवं वा उद्घटिष्यन्तीति पादेन प्रतोलीस्पर्शं कुर्यास्त्वमिति भणित्वा राजादीनां

तथा स्वप्नं दर्शयित्वा पत्तनप्रतोली: कीलित्वा स्थिता सा नगरदेवता। प्रभाते कीलिता: प्रतोलीर्दृष्ट्वा राजादिभिस्तं स्वप्नं स्मृत्वा नगरस्त्रीचरणताडनं प्रतोलीनां कारितं। न चैकापि प्रतोली कयाचिदप्युद्घटिता। सर्वासां पश्चात् नीली तत्रोत्क्षिप्य नीता। तच्चरणस्पर्शात् सर्वा अप्युद्घटिता: प्रतोल्य:, निर्दोषा राजादिपूजिता च नीली जाता चतुर्थाणुव्रतस्य।

परिग्रहविरत्यणुव्रताज्जय: पूजातिशयं प्राप्त:।

अस्य कथा

कुरुजांगलदेशे हस्तिनागपुरे कुरुवंशे राजा सोमप्रभ:, पुत्रो जय: परिमित-परिग्रहो भार्यासुलोचनायामेव प्रवृत्ति:। एकदा पूर्वविद्याधरभव कथनानन्तरं समायात पूर्वजन्मविद्यौ हिरण्यधर्मप्रभावतीविद्याधररूप मादाय च मेर्वादौ वन्दनाभक्तिं कृत्वा कैलासगिरौ भरतप्रतिष्ठापित चतुर्विंशतिजिनालयान् वन्दितुमायातौ सुलोचनाजयौ। तत्प्रस्तावे च सौधर्मेन्द्रेण जयस्य स्वर्गे परिग्रहपरिमाणव्रतप्रशंसाकृता। तां परीक्षितुं रतिप्रभदेव: समायात:। तत: स्त्रीरूपमादाय चतसृभिर्विलासिनीभि: सह जयसमीपं गत्वा भणितो जय:। सुलोचनास्वयंवरे येन त्वया सह संग्राम: कृत: तस्य नमिविद्याधरपते राज्ञींसुरूपामभिनवयौवनां सर्वविद्याधारिणीं तद्विरक्तचित्तामिच्छ, यदि तस्य राज्यमात्मजीवितं च वाञ्छसीति। एतदाकर्ण्य जयेनोक्तं—हे सुन्दरि ! मैवं ब्रूहि, परस्त्री मम जननीसमानेति। ततस्तया जयस्योपसर्गे महति कृतेऽपि चित्तं न चलितं। ततो मायामुपसंहृत्य पूर्ववृत्तं कथयित्वा प्रशस्य वस्त्रादिभि: पूजयित्वा स्वर्गं गत इति पंचमाणुव्रतस्य ।।१८।।

आगे क्या इस लोक में किसी जीव को अहिंसादि अणुव्रतों के धारण करने के फल की प्राप्ति नहीं देखी गयी है जिससे कि परलोक के लिये ही उनकी आराधना की जाती है ? ऐसी आशंका कर आचार्य उत्तर देते हैं—

(मातंग:) यमपाल नामका चाण्डाल (धनदेव:) धनदेव, (तत: पर:) उसके बाद (वारिषेण:) वारिषेण नामका राजकुमार, (नीली) नीली (च) और (जय:) जयकुमार ये क्रम से अहिंसादि अणुव्रतों में (उत्तमं) उत्तम (पूजातिशयं) पूजा के अतिशय को (संप्राप्ता:) प्राप्त हुए हैं।

टीकार्थ—हिंसाविरति नामक अणुव्रत से यमपाल चाण्डाल ने उत्तम प्रतिष्ठा प्राप्त की । इसकी कथा इस प्रकार है—

यमपाल चाण्डाल की कथा

सुरम्य देश पोदनपुर में राजा महाबल रहता था । नन्दीश्वर पर्व की अष्टमी के दिन राजा ने यह घोषणा की कि आठ दिन तक नगर में जीवघात नहीं किया जावेगा । राजा का बल नामका एक पुत्र था, जो मांस खाने में आसक्त था । उसने यह विचार कर कि यहां कोई पुरुष दिखाई नहीं दे रहा है, इसलिए छिपकर राजा के बगीचे में राजा के मेंढा को मारकर तथा पकाकर खा लिया । राजा ने जब मेंढा मारे जाने का समाचार सुना, तब वह बहुत क्रुद्ध हुआ । उसने मेंढा मारने वाले की खोज शुरू कर दी । उस बगीचे का माली पेड़ के ऊपर चढ़ा था । उसने राजकुमार को मेंढा मारते हुए देख लिया था । माली ने रात में यह बात अपनी स्त्री से कही । तदनन्तर छिपे हुए गुप्तचर पुरुष ने राजा से यह समाचार कह दिया । प्रातःकाल माली को बुलाया गया । उसने भी यह समाचार फिर कह दिया । मेरी आज्ञा को मेरा पुत्र ही खण्डित करता है इससे रुष्ट होकर राजा ने कोटपाल से कहा कि बलकुमार के नौ टुकड़े करा दो अर्थात् उसे मरवा दो ।

तदनन्तर उस कुमार को मारने के स्थान पर ले जाकर चाण्डाल को लाने के लिये जो आदमी गये थे उन्हें देखकर चाण्डाल ने अपनी स्त्री से कहा कि हे प्रिये ! तुम इन लोगों से कह दो कि चाण्डाल गांव गया है । ऐसा कहकर वह घर के कोने में छिपकर बैठ गया । जब सिपाहियों ने चाण्डाल को बुलाया तब चाण्डाली ने कह दिया कि वे आज गांव गये हैं । सिपाहियों ने कहा कि वह पापी अभागा आज गांव चला गया । राजकुमार को मारने से उसे बहुत भारी सुवर्ण और रत्नादिक का लाभ होता । उनके वचन सुनकर चाण्डाली को धन का लोभ आ गया । अतः वह मुख से तो बार-बार यही कहती रही कि वे गांव गये हैं, परन्तु हाथ के संकेत से उसे दिखा दिया । तदनन्तर सिपाहियों ने उसे घर से निकाल कर मारने के लिए वह राजकुमार सौंप दिया । चाण्डाल ने कहा कि मैं आज चतुर्दशी के दिन जीवघात नहीं करता हूँ । तब सिपाहियों ने उसे ले जाकर राजा से कहा कि देव ! यह राजकुमार को नहीं मार रहा है । उसने राजा से कहा कि एक बार मुझे सांप ने डस लिया था, जिससे मृत

समझकर मुझे श्मशान में डाल दिया गया था। वहां सर्वौषधिऋद्धि के धारक मुनिराज के शरीर की वायु से मैं पुनः जीवित हो गया। उस समय मैंने उन मुनिराज के पास चतुर्दशी के दिन जीवघात न करने का व्रत लिया था, इसलिए आज मैं नहीं मार रहा हूँ—आप जो जानें सो करें। 'अस्पृश्य चाण्डाल के भी व्रत होता है' यह विचार कर राजा बहुत रुष्ट हुआ और उसने दोनों को मजबूत बँधवाकर सुमार (शिशुमार) नामक तालाब में डलवा दिया। उन दोनों में चाण्डाल ने प्राणघात होने पर भी अहिंसाव्रत को नहीं छोड़ा था, इसलिए उसके व्रत के माहात्म्य से जल देवता ने उसके लिए जल के मध्य सिंहासन, मणिमय मण्डप, दुन्दुभिबाजों का शब्द तथा साधुकार—अच्छा किया, अच्छा किया, आदि शब्दों का उच्चारण, यह सब महिमा की। महाबल राजा ने जब यह समाचार सुना तब भयभीत होकर उसने चाण्डाल का सम्मान किया तथा अपने छत्र के नीचे उसका अभिषेक कराकर उसे स्पर्श करने योग्य विशिष्ट पुरुष घोषित कर दिया।

यह प्रथम अहिंसाणुव्रत की कथा पूर्ण हुई।

सत्याणुव्रत से धनदेव सेठ ने पूजातिशय को प्राप्त किया था। उसकी कथा इस प्रकार है—

धनदेव की कथा

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र सम्बन्धी पुष्कलावती देश में एक पुण्डरीकिणी नामक नगरी है। उसमें जिनदेव और धनदेव नामके दो अल्पपूँजी वाले व्यापारी रहते थे। उन दोनों में धनदेव सत्यवादी था। एक बार वे दोनों जो लाभ होगा उसे आधा-आधा ले लेंगे। ऐसी बिना गवाह की व्यवस्था कर दूर देश गये। वहां बहुत सा धन कमाकर लौटे और कुशलपूर्वक पुण्डरीकिणी नगरी आ गये। उनमें जिनदेव, धनदेव के लिए लाभ का आधा भाग नहीं देता था। वह उचित समझकर थोड़ा सा द्रव्य उसे देता था। तदनन्तर झगड़ा होने पर न्याय होने लगा। पहले कुटुम्बीजनों के सामने, फिर महाजनों के सामने और अन्त में राजा के आगे मामला उपस्थित किया गया। परन्तु बिना गवाही का व्यवहार होने से जिनदेव कह देता कि मैंने इसके लिए लाभ का आधा भाग देना नहीं कहा था। उचित भाग ही देना कहा था। धनदेव सत्य ही कहता था कि दोनों का आधा-आधा भाग ही निश्चित हुआ था। तदनन्तर राजकीय

नियम के अनुसार उन दोनों को दिव्य न्याय दिया गया । अर्थात् उनके हाथों पर जलते हुए अङ्गारे रखे गये । इस दिव्य न्याय से धनदेव निर्दोष सिद्ध हुआ, दूसरा नहीं । तदनन्तर सब धन धनदेव के लिए दिया गया और धनदेव सब लोगों के द्वारा पूजित हुआ तथा धन्यवाद को प्राप्त हुआ ।

इस प्रकार द्वितीय अणुव्रत की कथा है ।

चौर्यविरति अणुव्रत से वारिषेण ने पूजा का अतिशय प्राप्त किया था । इसकी कथा स्थितीकरण गुण के व्याख्यान के प्रकरण में कही गयी है । वह इस प्रकरण में भी देखनी चाहिए । इस प्रकार तृतीय अणुव्रत की कथा है । मातंग, धनदेव और वारिषेण के आगे नीली और जयकुमार पूजातिशय को प्राप्त हुए हैं । उनमें अब्रह्म-विरति अणुव्रत-ब्रह्मचर्याणुव्रत से नीली नामकी वणिक्पुत्री पूजातिशय को प्राप्त हुई है ।

उसकी कथा इस प्रकार है—

नीली की कथा

लाटदेश के भृगुकच्छ नगर में राजा वसुपाल रहता था । वहीं एक जिनदत्त नामका सेठ रहता था । उसकी स्त्री का नाम जिनदत्ता था । उनके नीली नामकी एक पुत्री थी, जो अत्यन्त रूपवती थी । उसी नगर में समुद्रदत्त नामका एक सेठ रहता था, उसकी स्त्री का नाम सागरदत्ता था और उन दोनों के एक सागरदत्त नामका पुत्र था । एक बार महापूजा के अवसर पर मन्दिर में कायोत्सर्ग से खड़ी हुई तथा समस्त आभूषणों से सुन्दर नीली को देखकर सागरदत्त ने कहा कि क्या यह भी कोई देवी है? यह सुनकर उसके मित्र प्रियदत्त ने कहा कि यह जिनदत्त सेठ की पुत्री नीली है । नीली का रूप देखने से सागरदत्त उसमें अत्यन्त आसक्त हो गया और यह किस तरह प्राप्त हो सकती है, इस प्रकार उससे विवाह की चिन्ता से दुर्बल हो गया । समुद्रदत्त ने यह सुनकर उससे कहा कि हे पुत्र ! जैन को छोड़कर अन्य किसी के लिए जिनदत्त इस पुत्री को विवाहने के लिए नहीं देता है ।

तदनन्तर वे दोनों पिता पुत्र कपट से जैन हो गये और नीली को विवाह लिया । विवाह के पश्चात् वे फिर बुद्धभक्त हो गये । उन्होंने नीली का पिता के घर जाना भी बन्द कर दिया । इस प्रकार धोखा होने पर जिनदत्त ने यह कहकर सन्तोष

कर लिया कि यह पुत्री मेरे हुई ही नहीं है अथवा कुआ आदि में गिर गयी है अथवा मर गयी है। नीली अपने पति को प्रिय थी, अतः वह ससुराल में, जिनधर्म का पालन करती हुई एक भिन्न घर में रहने लगी।

समुद्रदत्त यह विचार कर कि बौद्ध साधुओं के दर्शन से, उनके धर्म और देव का नाम सुनने से काल पाकर यह बुद्ध की भक्त हो जायेगी, एक दिन समुद्रदत्त ने कहा कि नीली बेटी! बौद्ध साधु बहुत ज्ञानी होते हैं, उन्हें देने के लिए हमें भोजन बनाकर दो। तदनन्तर नीली ने बौद्ध साधुओं को निमन्त्रित कर बुलाया और उनकी एक-एक प्राणहिता-जूती को अच्छी तरह पीसकर तथा मसालों से सुसंस्कृतकर उन्हें खाने के लिए दे दिया। वे बौद्ध साधु भोजन कर जब जाने लगे तो उन्होंने पूछा कि हमारी जूतियां कहां हैं? नीली ने कहा कि आप ही अपने ज्ञान से जानिये, जहाँ वे स्थित हैं। यदि ज्ञान नहीं है तो वमन कीजिये। आपकी जूतियां आपके ही पेट में स्थित हैं। इस प्रकार वमन किये जाने पर उनमें जूतियों के टुकड़े दिखाई दिये। इस घटना से नीली के श्वसुरपक्ष के लोग बहुत रुष्ट हो गये।

तदनन्तर सागरदत्त की बहन ने क्रोधवश उसे परपुरुष के संसर्ग का झूठा दोष लगाया। जब इस दोष की प्रसिद्धि सब ओर फैल गयी, तब नीली भगवान जिनेन्द्र के आगे संन्यास लेकर कायोत्सर्ग से खड़ी हो गयी और उसने नियम ले लिया कि इस दोष से पार होने पर ही मेरी भोजन आदि में प्रवृत्ति होगी, अन्य प्रकार से नहीं। तदनन्तर क्षोभ को प्राप्त हुई नगर देवता ने आकर रात्रि में उससे कहा कि हे महासती! इस तरह प्राण त्याग मत करो, मैं राजा को तथा नगर के प्रधान पुरुषों को स्वप्न देती हूँ कि नगर के सब प्रधान द्वार कीलित हो गये हैं, वे महापतिव्रता स्त्री के बांये चरण के स्पर्श से खुलेंगे। वे प्रधान द्वार प्रातःकाल आपके पैरका स्पर्श कर ही खुलेंगे, ऐसा कहकर वह नगर देवता राजा आदि को वैसा स्वप्न दिखाकर तथा नगर के प्रधान द्वारों को बन्द कर बैठ गयी। प्रातःकाल नगर के प्रधान द्वारों को कीलित देखकर राजा आदि ने पूर्वोक्त स्वप्न का स्मरण कर नगर की सब स्त्रियों के पैरों से द्वारों की ताड़ना करायी। परन्तु किसी भी स्त्री के द्वारा एक भी प्रधान द्वार नहीं खुला। सब स्त्रियों के बाद नीली को भी वहां उठाकर ले जाया गया। उसके चरणों के स्पर्श से सभी प्रधान द्वार खुल गये। इस प्रकार नीली निर्दोष घोषित हुई और राजा आदि के द्वारा सम्मान को प्राप्त हुई। यह चतुर्थ अणुव्रत की कथा पूर्ण हुई।

परिग्रहविरति अणुव्रत से जयकुमारपूजातिशय को प्राप्त हुआ था। उसकी कथा इस प्रकार है—

जयकुमार की कथा

कुरुजांगल देश के हस्तिनागपुर नगर में कुरुवंशी राजा सोमप्रभ रहते थे। उनके जयकुमार नामका पुत्र था। वह जयकुमार परिग्रहपरिमाणव्रत का धारी था तथा अपनी स्त्री सुलोचना से ही सम्बन्ध रखता था। एक समय, विद्याधर अवस्था के पूर्व भवों की कथा के बाद जिन्हें अपने पूर्वभवों का ज्ञान हो गया था, ऐसे जयकुमार और सुलोचना हिरण्यधर्मा और प्रभावती नामक विद्याधर पुद्गल का रूप रखकर मेरु आदि पर वन्दना-भक्ति करके कैलास पर्वत पर भरत चक्रवर्ती के द्वारा प्रतिष्ठापित चौबीस जिनालयों की वन्दना करने के लिए आये। उसी अवसर पर सौधर्मेन्द्र ने स्वर्ग में जयकुमार के परिग्रहपरिमाणव्रत की प्रशंसा की। उसकी परीक्षा करने के लिए रतिप्रभ नामका देव आया। उसने स्त्री का रूप रख चार स्त्रियों के साथ जयकुमार के समीप जाकर कहा कि सुलोचना के स्वयंवर के समय जिसने तुम्हारे साथ युद्ध किया था उस नमि विद्याधर राजा की रानी को, जो कि अत्यन्त रूपवती, नवयौवनवती, समस्त विद्याओं को धारण करने वाली और उससे विरक्तचित्त है, स्वीकृत करो, यदि उसका राज्य और अपना जीवन चाहते हो तो। यह सुनकर जयकुमार ने कहा कि हे सुन्दरि! ऐसा मत कहो, परस्त्री मेरे लिए माता के समान है। तदनन्तर उस स्त्री ने जयकुमार पर बहुत उपसर्ग किया, परन्तु उसका चित्त विचलित नहीं हुआ। अनन्तर वह रतिप्रभदेव माया को संकुचित कर पहले का सब समाचार कहकर प्रशंसा कर और वस्त्र आदि से पूजाकर स्वर्ग चला गया। इस प्रकार पञ्चम अणुव्रत की कथा पूर्ण हुई ।।१८।।६४।।

एवं पंचानामहिंसादिव्रतानां प्रत्येकं गुणं प्रतिपाद्येदानीं तद्विपक्षभूतानां हिंसाद्यव्रतानां दोषं दर्शयन्नाह—

धनश्रीसत्यघोषौ च तापसारक्षकावपि।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ।।१९।।२०।।

धनश्रीश्रेष्ठिन्या हिंसातो बहुप्रकारं दुःखफलमनुभूतं। सत्यघोषपुरोहितेनानृतात्। तापसेन चौर्यात्। आरक्षकेन कोट्टपालेन ब्रह्माणि वृत्यभावात्। ततोऽव्रतप्रभव-

दु:खानुभवने उपाख्येया दृष्टान्तत्वेन प्रतिपाद्याः । के ते । धनश्री सत्यघोषौ च । न केवलं एतौ एव किन्तु तापसारक्षकावपि । तथा तेनैव प्रकारेण श्मश्रुनवनीतो बणिक्, यतस्तेनापि परिग्रहनिवृत्यभावतो बहुतरदु:खमनुभूतं । यथाक्रमं उक्तक्रमानतिक्रमेण हिंसादिविरत्यभावे एते उपाख्येयाः प्रतिपाद्याः । तत्र धनश्री हिंसातो बहुदु:खं प्राप्ता ।

अस्याः कथा

लाटदेशे भृगुकच्छपत्तने राजा लोकपाल: । वणिग्धनपालो भार्या धनश्री मनागपि जीववधेऽविरता । तत्पुत्री सुन्दरी पुत्रो गुणपाल: । अपुत्रकाले धनश्रिया य: पुत्रबुद्ध्या कुण्डलो नाम बालकः पोषितः, धनपाले मृते तेन सह धनश्रीः कुकर्मरता जाता । गुणपाले च गुणदोष परिज्ञानके जाते धनश्रिया तच्छंकितया भणितः कुण्डल: प्रसरे गोधनं चारयितुमटव्यां गुणपालं प्रेषयामि, लग्नस्त्वं तत्र तं मारय येनावयोर्निरंकुशमवस्थानं भवतीति ब्रुवाणां मातरमाकर्ण्य सुन्दर्या गुणपालस्य कथितं—अद्य रात्रौ गोधनं गृहीत्वा प्रसरे त्वामटव्यां प्रेषयित्वा कुण्डलहस्तेन माता मारयिष्यत्यतः सावधानो भवेस्त्वमिति । धनश्रिया च रात्रिपश्चिमप्रहरे गुणपालो भणितो हे पुत्र कुण्डलस्य शरीरं विरूपकं वर्तते अतः प्रसरे गोधनं गृहीत्वाद्यत्वं व्रजेति । स च गोधनमटव्यां नीत्वा काष्ठं च वस्त्रेण पिधाय तिरोहितो भूत्वा स्थितः । कुण्डलेन चागत्य गुणपालोऽयमिति मत्वा वस्त्रप्रच्छादितकाष्ठेघातः कृतो गुणपालेन च स खड्गेन हत्वा मारितः । गृहे आगतो गुणपालो धनश्रिया पृष्टः 'क्व रे कुण्डलः' तेनोक्तं कुण्डलवार्तामियं खड्गोऽभिजानाति । ततो रक्तलिप्तं बाहुमालोक्य स तेनैव खड्गेन मारितः । तं च मारयन्तीं धनश्रियं दृष्ट्वा सुन्दर्या मुशलेन सा हता । कोलाहले जाते कोट्टपालैर्धनश्रीर्धृत्वा राज्ञोऽग्रे नीता । राज्ञा च गर्दभारोहणे कर्णनासिकाछेदनादिनिग्रहे कारिते मृत्वा दुर्गतिं गतेति प्रथमाव्रतस्य ।

सत्यघोषोऽनृताद्बहुदु:खं प्राप्तः ।

इत्यस्य कथा

जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे सिंहपुरे राजा सिंहसेनो राज्ञी रामदत्ता, पुरोहितः श्रीभूतिः । स ब्रह्मसूत्रे कर्तिकां बध्वा भ्रमति । वदति च यद्यसत्यं ब्रवीमितदाऽनया कर्तिकया निजजिह्वाच्छेदं करोमि । एवं कपटेन वर्तमानस्य तस्य सत्यघोष इति द्वितीयं नाम संजातम् । लोकाश्च विश्वस्तास्तत्पार्श्वे द्रव्यं धरन्ति च । तद्द्रव्यं किंचित्तेषां

समर्प्य स्वयं गृह्णाति । पूत्कर्तु बिभेति लोकः । न च पूत्कृतं राजा शृणोति । अथैकदा पद्मखण्डपुरादागत्य समुद्रदत्तो वणिक्पुत्रस्तत्र सत्यघोषपार्श्वेऽनर्घाणि पंच माणिक्यानि धृत्वा परतीरे द्रव्यमुपार्जयितुं गतः । तत्र च समुपार्ज्य आगच्छतः स्फुटित प्रवहण एक-फलकेनोत्तीर्य समुद्रं धृतमाणिक्यवांछया सिंहपुरे सत्यघोषसमीपमायातः । तं च रंकसमान-मागच्छन्तमालोक्य तन्माणिक्यहरणार्थिना सत्यघोषेण प्रत्ययपूरणार्थं समीपोपविष्ट-पुरुषाणां कथितं । अयं पुरुषः स्फुटितप्रवहणः ततो ग्रहिलो जातोऽत्रागत्य माणिक्यानि याचिष्यतीति । तेनागत्य प्रणम्य चोक्तं भो सत्यघोषपुरोहित ! ममार्थोपार्जनार्थं गतस्योपार्जितार्थस्य महाननर्थो जात इति मत्वा यानि मया तव रत्नानि धर्तुं समर्पितानि तानीदानीं प्रसादं कृत्वा देहि, येनात्मानं स्फुटितप्रवहणात् गतद्रव्यं समुद्धरामि । तद्वचन-माकर्ण्य कपटेन सत्यघोषेण समीपोपविष्टा जना भणिता मया प्रथमं यद् भणितं तद् भवतां सत्यं जातं । तैरुक्तं भवन्त एव जानन्त्ययं ग्रहिलोऽस्मात् स्थानान्निः सार्यतामि-त्युक्त्वा तैः समुद्रदत्तो ग्रहान्निः सारितः ग्रहिल इति भण्यमानः । पत्तने पूत्कारं कुर्वन् ममानर्घ्यपंचमाणिक्यानि सत्यघोषेण गृहीतानि । तथा राजगृह समीपेचिंचावृक्षमारुह्य पश्चिमरात्रौ पूत्कारं कुर्वन् षण्मासान् स्थितः । तां पूत्कृतिमाकर्ण्य रामदत्तया भणितः सिंहसेनः–देव ! नायं पुरुषः ग्रहिलः । राज्ञापि भणितं किं सत्यघोषस्य चौर्यं संभाव्यते? पुनरुक्तं राज्ञा देव ! संभाव्यते तस्य चौर्यं यतोऽयमेतादृशमेव सर्वदा वचनं ब्रवीति । एतदाकर्ण्य भणितं राज्ञा यदि सत्यघोषस्यैतत् संभाव्यते तदा त्वं परीक्षयेति । लब्धा-देशया रामदत्तया सत्यघोषो राजसेवार्थमागच्छन्नाकार्य पृष्टः–किं बृहद्वेलायामागतोऽसि? तेनोक्तं-मम ब्राह्मणीभ्राताद्य प्राघूर्णकः समायातस्तं भोजयतो बृहद्वेला लग्नेति । पुनर-प्युक्तं तया—क्षणमेकमत्रोपविश । ममातिकौतुकं जातं । अक्षक्रीडां कुर्मः । राजापि तत्रैवागतस्तेनाप्येवं कुर्वित्युक्तं । ततोऽक्षद्यूतेक्रीडया संजाते रामदत्तया निपुणमतिविला-सिनी कर्णे लगित्वा भणिता सत्यघोषः पुरोहितो राज्ञीपार्श्वे तिष्ठति तेनाहं ग्रहिलमाणि-क्यानि याचितुं प्रेषितेति तद् ब्राह्मण्यग्रे भणित्वा तानि याचयित्वा च शीघ्रमागच्छेति । ततस्तयागत्वा याचितानि । तद्ब्राह्मण्या च पूर्वं सुतरां निषिद्धया न दत्तानि । तद्विला-सिन्या चागत्य देवीकर्णे कथितं सा न ददातीति । ततो जितमुद्रिकां तस्य साभिज्ञानं दत्वा पुनः प्रेषिता तथापि तया न दत्तानि । ततस्तस्य कर्तिकायज्ञोपवीतं जितं साभि ज्ञानं दत्तं दर्शितं च तया । ब्राह्मण्या तद्दर्शनात्तुष्टया भीतया च समर्पितानि माणि-क्यानि तद्विलासिन्याः । तया च रामदत्तायाः समर्पितानि । तया च राज्ञो दर्शितानि ।

तेन च बहुमाणिक्यमध्ये निक्षेप्याकार्य चम्रहिलो भणितः रे निजमाणिक्यानि परिज्ञाय गृहाण । तेन च तथैव गृहीतेषु तेषु राज्ञा रामदत्तया च वणिक्पुत्रः प्रतिपन्नः । ततो राज्ञा सत्यघोषः पृष्टः-इदं कर्म त्वया कृतमिति । तेनोक्तं देव ! न करोमि, किं ममेदृशं कर्तुं युज्यते? ततोऽतिरुष्टेन तेन राज्ञा तस्य दण्डत्रयं कृतं । गोमयभृतं भाजनत्रयं भक्षय, मल्लमुष्टिघातत्रयं वा सहस्व, द्रव्यं वा सर्वं देहि । तेन च पर्यालोच्य गोमयं खादितुमारब्धं । तदशक्तेन मुष्टिघातः सहितुमारब्धः । तदशक्तेन द्रव्यं दातुमारब्धं । एवं दण्डत्रयमनुभूय-मृत्वातिलोभवशाद्राजकीय भांडागारे अगन्धनसर्पो जातः । तत्रापि मृत्वा दीर्घसंसारी जात इति द्वितीयाव्रतस्य ।

तापसश्चौर्याद्बहु दुःखं प्राप्तः ।

इत्यस्य कथा

वत्सदेशे कौशाम्बीपुरे राजा सिंहरथो राज्ञी विजया । तत्रैकश्चौरः कौटिल्येन तापसो भूत्वा परभूमिमस्पृशदवलम्बमान शिक्यस्थो दिवसे पंचाग्निसाधनं करोति । रात्रौ च कौशाम्बीं मुषित्वा तिष्ठति । एकदा महाजनान्मुष्टं नगरमाकर्ण्य राज्ञा कोट्टपालो भणितो रे सप्तरात्रमध्ये चौरं निजशिरो वाऽऽनय । ततश्चौरमलभमानश्चिन्तापरः तलारोऽपराह्णे बुभुक्षितब्राह्मणेन केनचिदागत्य भोजनं प्रार्थितः–तेनोक्तं–हे ब्राह्मण ! अच्छान्दसोऽसि मम प्राणसन्देहो वर्तते त्वं च भोजनं प्रार्थयसे । एतद्वचनमाकर्ण्य पृष्टं ब्राह्मणेन कुतस्ते प्राणसन्देहः ? कथितं च तेन । तदाकर्ण्य पुनः पृष्टं ब्राह्मणेन–अत्र किं कोऽप्यतिनिस्पृहवृत्तिपुरुषोऽप्यस्ति ? उक्तं तलारेणअस्ति विशिष्टस्तपस्वी न च तस्यैतत् सम्भाव्यते । भणितं ब्राह्मणेन–स एव चौरो भविष्यति अतिनिस्पृहत्वात् । श्रूयतामत्र मदीया कथा–मम ब्राह्मणी महासती परपुरुषशरीरं न स्पृशतीति निजपुत्रस्याप्यतिकुक्कुटात् कर्पटेन सर्वं शरीरं प्रच्छाद्य स्तनं ददाति । रात्रौ तु गृहपिण्डारेण सह कुकर्म करोति (?) तद्दर्शनात् संजात वैराग्योऽहं संबलार्थं सुवर्णशलाकां वंशयष्टिमध्ये निक्षिप्य तीर्थयात्रायां निर्गतः । अग्रे गच्छतश्च ममैकबटुको मिलितो, न तस्य विश्वासं गच्छाम्यहं यष्टिरक्षां यत्नतः करोमि । तेनाकलिता सा यष्टिः सगर्भेति । एकदा रात्रौ कुम्भकारगृहे निद्रां कृत्वा दूराद्गत्वा तेन निजमस्तके लग्नं कुथितं तृणमालोक्यातिकुक्कुटेन ममाग्रतो, हा हा मया परतृणमदत्तं ग्रसितमित्युक्त्वा व्याघुट्य तृणं तत्रैव कुम्भकारगृहे निक्षिप्य दिवसावसाने कृतभोजनस्य ममागत्य मिलितः । भिक्षार्थं गच्छतस्तस्यातिशुचि-

रयमिति मत्वा विश्वसितेन मया यष्टि: कुक्कुरादिनिवारणार्थं समर्पिता। तां गृहीत्वा स गतः (२) ततो मया महाटव्यां गच्छतातिवृद्धपक्षिणोऽतिकुकुंटं दृष्टं। यथा एकस्मिन् महति वृक्षे मिलिताः पक्षिगणो रात्रावेकेनातिवृद्धपक्षिणा निजभाषया भणितो रे रे पुत्राः। अहं अतीवगन्तुं न शक्नोमि। बुभुक्षित मनाः कदाचिद्भवत्पुत्राणां भक्षणं करोमि चित्तचापल्यादतो मम मुखं प्रभाते बध्वा सर्वेऽपि गच्छन्तु। तैरुक्तं हा हा तात! पितामहस्त्वं किं तवैतत् संभाव्यते ? तेनोक्तं–'बुभुक्षितः किं न करोति पापं' इति। एवं प्रभाते तस्य पुनर्वचनात् तन्मुखं बद्ध्वा ते गताः। स च बद्धो गतेषु चरणाभ्यां मुखाद्बन्धनं दूरीकृत्वा तद्बालकान् भक्षयित्वा तेषामागमनसमये पुनः चरणाभ्यां बन्धनं मुखेसंयोज्यातिकुकुंटेन क्षीणोदरो भूत्वा स्थितः (३) ततो नगरगतेन चतुर्थमतिकुकुंटं दृष्टं मया। यथा तत्र नगरे एकश्चौरस्तपस्विरूपं धृत्वाबृहच्छिलां च मस्तकस्योपरि हस्ताभ्यामूर्ध्वं गृहीत्वा नगरमध्ये तिष्ठति दिवा रात्रौ चातिकुकुंटेन 'अपसर जीव पादं ददामि, अपसर जीव पादं ददामीति' भणन् भ्रमति। 'अपसर जीवेति' चासौ भक्तसर्वजनैर्भण्यते। स च गर्तादिविजनस्थाने दिगवलोकनं कृत्वा सुवर्णभूषितमेकाकिनं प्रणमन्तं तया शिलया मारयित्वा तद्रव्यं गृह्णाति (४) इत्यतिकुकुंट चतुष्टयमालोक्य मया श्लोकोऽयं कृतः—

> अबालस्पर्शका नारी ब्राह्मणोऽतृणहिंसकः।
> वने काष्ठमुखः पक्षी पुरेऽपसरजीवकः।। इति

इति कथयित्वा तलारं धरियित्वा सन्ध्यायां ब्राह्मणः शिक्यतपस्विसमीपं गत्वा तपस्विप्रतिचारकैर्निघट्यमानोऽपि राज्यन्धो भूत्वा तत्र पतित्वैकदेशे स्थितः। ते च प्रतिचारकाः राज्यन्धपरीक्षणार्थं तृणकट्टिकांगुल्यादिकं तस्याक्षिसमीपं नयन्ति। स च पश्यन्नपि न पश्यति। बृहद्रात्रौ गुहायामन्धकूपे नगरद्रव्यंध्रियमाणमालोक्य तेषां खादनपानादिकं वालोक्य प्रभाते राज्ञा मार्यमाणस्तलारो रक्षितः तेन रात्रिदृष्टमावेद्य। स शिक्यस्थस्तपस्वी चौरस्तेन तलारेण बहुकदर्थनादिभिः कदर्थ्यमानो मृत्वा दुर्गतिं गतस्तृतीयाव्रतस्य।

आरक्षिणाऽब्रह्मनिवृत्त्यभावाद्दुःखं प्राप्तम्।

अस्य कथा

आहीरदेशे नासिक्यनगरे राजा कनकरथो राज्ञी कनकमाला, तलारो यमदण्डस्तस्य माता बहुसुन्दरी तरुणरण्डा पुंश्चली। सा एकदा वध्वा धर्तुं समर्पिताभरणं

गृहीत्वा रात्रौ संकेतितजारपार्श्वे गच्छन्ती यमदण्डेन दृष्टा सेविता चैकान्ते । तदाभरणं चानीय तेन निजभार्याया दत्तं । तया च दृष्ट्वा भणितं—मदीयमिदमाभरणं, मया श्वश्रूहस्ते धृतं । तद्वचनमाकर्ण्य तेन चिन्तितं या मया सेविता सा मे जननी भविष्यतीति । ततस्तस्या जारसंकेतगृहं गत्वा तां सेवित्वा तस्यामासक्तो गूढवृत्त्या तया सह कुकर्मरतः स्थितः । एकदा तद्भार्ययाऽसहनादतिरुष्टया रजक्याः कथितं । मम भर्ता निजमात्रा सह तिष्ठति । रजक्या च मालाकारिण्याः कथितं । अतिविश्वस्ता मालाकारिणी च कनकमालाराज्ञीनिमित्तं पुष्पाणि गृहीत्वा गता । तया च पृष्टा सा कुतूहलेन जानासि हे कामप्यपूर्वां वार्तां । तया च तलारद्विष्टतया कथितं राज्ञ्याः, देवि ! यमदण्डतलारो निजजनन्या सह तिष्ठति । कनकमालया च राज्ञः कथितं । राज्ञा च गूढपुरुषद्वारेण तस्य कुकर्म निश्चित्य तलारो गृहीतो दुर्गतिं गतश्चतुर्थाव्रतस्य ।

परिग्रहनिवृत्यभावात् श्मश्रुनवनीतेन बहुतरं दुःखं प्राप्तं ।

अस्य कथा

अस्त्ययोध्यायांश्रेष्ठी भवदत्तो भार्या धनदत्ता पुत्रोलुब्धदत्तः वाणिज्येन दूरं गतः । तत्र स्वमुपार्जितं तस्य चौरैर्नीतं । ततोऽतिनिर्धनेन तेन मार्गे आगच्छता तत्रैकदा गोदुहः तक्रं पातुं याचितं । तक्रे पीते स्तोकं नवनीतं कूर्चे लग्नमालोक्य गृहीत्वा चिन्तितं तेन वाणिज्यं भविष्यत्यनेन मे, एवं च तत्संचिन्वतस्तस्य श्मश्रुनवनीत इति नाम जातं । एवमेकदा प्रस्थप्रमाणे घृते जाते घृतस्य भाजनं पादान्ते धृत्वा शीतकाले तृणकुटीरकद्वारे अग्निं च पादान्ते कृत्वा रात्रौ संस्तरे पतितः संचिन्तयति, अनेन घृतेन बहुतरमर्थमुपार्ज्य सार्थवाहो भूत्वा सामन्तमहासामन्तराजाधिराजपदं प्राप्य क्रमेण सकलचक्रवर्ती भविष्यामि यदा, तदा च मे सप्ततलप्रासादे शय्यागतस्य पादान्ते समुपविष्टं स्त्रीरत्नं पादौ मुष्ट्या ग्रहीष्यति न जानासि पादमर्दनं कर्तुमिति स्नेहेन भणित्वा स्त्रीरत्नमेवं पादेन ताडयिष्यामि, एवं चिन्तयित्वा तेन चक्रवर्तिरूपाविष्टेन पादेन हत्वा पातितं तद्घृतभाजनं तेन च घृतेन द्वारे संधुक्षितोऽग्निः सुतरां प्रज्वलितः । ततो द्वारे प्रज्वलिते निःसर्तुमशक्तो दग्धो मृतो दुर्गतिं गतः इच्छाप्रमाणरहित पंचमाव्रतस्य ।।६१।।

इस प्रकार अहिंसा आदि पांच व्रतों में प्रत्येक का फल कहकर अब हिंसा आदि अव्रतों का दोष दिखलाते हुए कहते हैं—

(धनश्री सत्यघोषी च) धनश्री और सत्यघोष (तापसारक्षकौ अपि) तापस और कोतवाल (तथा) और (श्मश्रुनवनीत:) श्मश्रुनवनीत ये पांच (यथाक्रमं) क्रम से हिंसादि पापों में (उपाख्येया:) उपाख्यान करने के योग्य हैं—दृष्टान्त देने के योग्य हैं ।

टीकार्थ—धनश्री नामकी सेठानी ने हिंसा से बहुत प्रकार का दुःखदायक फल भोगा है । सत्यघोष पुरोहित ने असत्य बोलने से, तापस ने चोरी से और कोतवाल ने ब्रह्मचर्य का अभाव होने से बहुत दुःख भोगा है । इसी प्रकार श्मश्रुनवनीत नामके वणिक ने परिग्रह पाप के कारण बहुत दुःख भोगा है । अत: ये सब ऊपर बताये हुए क्रम से दृष्टान्त देने के योग्य हैं । उनमें धनश्री हिंसा पाप के फल से दुर्गति को प्राप्त हुई थी । इसकी कथा इस प्रकार है—

धनश्री की कथा

लाटदेश के भृगुकच्छ नगर में राजा लोकपाल रहता था । वहीं पर एक धनपाल नामका सेठ रहता था । उसकी स्त्री का नाम धनश्री था । धनश्री जीवहिंसा से कुछ भी विरत नहीं थी अर्थात् निरन्तर जीवहिंसा में तत्पर रहती थी । उसकी सुन्दरी नामकी पुत्री और गुणपाल नामका पुत्र था । जब धनश्री के पुत्र नहीं हुआ था तब उसने कुण्डल नामक एक बालक का पुत्रबुद्धि से पालन-पोषण किया था । समय पाकर जब धनपाल की मृत्यु हो गयी तब धनश्री उस कुण्डल के साथ कुकर्म करने लगी । इधर धनश्री का पुत्र गुणपाल जब गुण और दोषों को जानने लगा तब उससे शंकित होकर धनश्री ने कुण्डल से कहा कि मैं गोखर में गाएँ चराने के लिए गुणपाल को जंगल भेजूंगी सो तुम उसके पीछे लगकर उसे वहां मार डालो, जिससे हम दोनों का स्वच्छन्द रहना हो जायगा—कोई रोक-टोक नहीं रहेगी । यह सब कहते हुए माता को सुन्दरी ने सुन लिया, इसलिए उसने अपने भाई गुणपाल से कह दिया कि आज रात्रि में गोधन लेकर गोखर में माता तुम्हें जंगल भेजेगी और वहां कुण्डल के हाथ से तुम्हें मरवा डालेगी, इसलिए तुम्हें सावधान रहना चाहिए ।

धनश्री ने रात्रि के पिछले पहर में गुणपाल से कहा हे पुत्र ! कुण्डल का शरीर ठीक नहीं है इसलिए आज तुम गोखर में गोधन लेकर जाओ । गुणपाल गोधन को लेकर जंगल गया और वहां एक काष्ठ को कपड़े से ढककर छिपकर बैठ गया ।

कुण्डल ने आकर 'यह गुणपाल है' ऐसा समझकर वस्त्र से ढके हुए काष्ठ पर प्रहार किया। उसी समय गुणपाल ने तलवार से उसे मार डाला। जब गुणपाल घर आया तब धनश्री ने पूछा कि रे गुणपाल! कुण्डल कहां है? गुणपाल ने कहा कि कुण्डल की बात को यह तलवार जानती है। तदनन्तर खून से लिप्त बाहु को देखकर धनश्री ने उसी तलवार से गुणपाल को मार दिया। भाई को मारते देख सुन्दरी ने उसे मूसल से मारना शुरू किया। इसी बीच में कोलाहल होने से कोतवाल ने धनश्री को पकड़ कर राजा के आगे उपस्थित किया। राजा ने उसे गधे पर चढ़ाया तथा कान, नाक आदि कटवाकर दण्डित किया, जिससे मरकर वह दुर्गति को प्राप्त हुई। इस तरह प्रथम अव्रत से सम्बद्ध कथा पूर्ण हुई।

सत्यघोष असत्य बोलने से बहुत दुःख को प्राप्त हुआ था। इसकी कथा इस प्रकार है—

सत्यघोष की कथा

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी सिंहपुर नगर में राजा सिंहसेन रहता था। उसकी रानी का नाम रामदत्ता था। उसी राजा का एक श्रीभूति नामका पुरोहित था। वह जनेउ में कैंची बांधकर घूमा करता था और कहता था कि यदि मैं असत्य बोलूं तो इस कैंची से अपनी जिह्वा का छेद कर लूं। इस तरह कपट से रहते हुए उस पुरोहित का नाम सत्यघोष पड़ गया। लोग विश्वास को प्राप्त होकर उसके पास अपना धन रखने लगे। वह उस धन में से कुछ तो रखने वालों को दे देता था, और बाकी स्वयं ग्रहण कर लेता था। लोग रोने से डरते थे और कोई रोता भी था तो राजा उसकी सुनता ही नहीं था।

तदनन्तर एक समय पद्मखण्ड नगर से एक समुद्रदत्त नामका सेठ आया। वह वहां सत्यघोष के पास अपने पांच बहुमूल्य रत्न रखकर धन उपार्जित करने के लिए दूसरे पार चला गया और वहां धनोपार्जन करके जब लौट रहा था तब उसका जहाज फट गया। काठ के एक पाटिये से वह समुद्र को पारकर रखे हुए मणियों को प्राप्त करने की इच्छा से सिंहपुर में सत्यघोष के पास आया। रङ्क के समान आते हुए उसे देखकर उसके मणियों को हरने के लिए सत्यघोष ने विश्वास की पूर्ति के लिए समीप में बैठे हुए लोगों से कहा कि यह पुरुष जहाज फट जाने से पागल हो गया है

और यहां आकर मणि मांगेगा। उस सेठ ने आकर उसी प्रकार कहा कि हे सत्यघोष पुरोहित ! मैं धन कमाने के लिए गया था। धनोपार्जन करने के बाद मेरे ऊपर बड़ा संकट आ पड़ा है इसलिए मैंने जो रत्न तुम्हें रखने के लिए दिये थे, वे रत्न कृपा कर मुझे दे दीजिये। जिससे जहाज फट जाने के कारण निर्धनता को प्राप्त मैं अपना उद्धार कर सकूं। उसके वचन सुनकर कपटी सत्यघोष ने पास में बैठे हुए लोगों से कहा कि देखो, मैंने पहले आप लोगों से बात कही थी वह सत्य निकली। लोगों ने कहा कि आप ही जानते हैं, इस पागल को इस स्थान से निकाल दिया जावे। ऐसा कहकर उन्होंने समुद्रदत्त को घर से निकाल दिया। 'वह पागल है' ऐसा कहा जाने लगा। 'सत्यघोष ने मेरे पांच बहुमूल्य रत्न ले लिये हैं' इस प्रकार रोता हुआ वह नगर में घूमने लगा। राजभवन के पास इमली के एक वृक्ष पर चढ़कर वह पिछली रात में रोता हुआ यही कहता था। यह करते हुए उसे छह माह निकल गये।

एक दिन उसका रोना सुनकर रामदत्ता रानी ने राजासिंहसेन से कहा कि देव ! यह पुरुष पागल नहीं है। राजा ने भी कहा कि तो क्या सत्यघोष से चोरी की सम्भावना की जा सकती है। रानी ने फिर कहा कि देव ! उसके चोरी की सम्भावना हो सकती है। क्योंकि यह सदा यही बात कहता है। यह सुनकर राजा ने कहा कि यदि सत्यघोष पर चोरी की सम्भावना है तो तुम परीक्षा करो। आज्ञा पाकर रामदत्ता ने एक दिन राजा की सेवा के लिए आते हुए सत्यघोष को बुलाकर पूछा कि आज बहुत देर से क्यों आये हैं ? सत्यघोष ने कहा कि आज मेरी ब्राह्मणी का भाई पाहुना बनकर आया था, उसे भोजन कराते हुए बहुत देर लग गई। रानी ने फिर कहा—अच्छा ! यहां थोड़ी देर बैठो, मुझे बहुत शौक है। आज अक्षक्रीड़ा करें–जुआ खेलें। राजा भी वहीं आ गये और उन्होंने कह दिया कि ऐसा ही करो।

तदनन्तर जब जुए का खेल शुरू हो गया तब रामदत्ता रानी ने निपुणमति नामकी स्त्री से उसके कान में लगकर कहा कि तुम 'सत्यघोष पुरोहित जो कि रानी के पास बैठा है उन्होंने मुझे पागल के रत्न मांगने के लिये भेजा है' ऐसा उसकी ब्राह्मणी के आगे कहकर वे रत्न मांगकर शीघ्र लाओ। तदनन्तर निपुणमति ने जाकर वे रत्न मांगे, परन्तु ब्राह्मणी ने नहीं दिये, क्योंकि सत्यघोष ने उसे पहले ही मना कर रखा था कि किसी के मांगने पर रत्न नहीं देना। निपुणमति ने आकर रानी के कान में कहा कि वह नहीं देती है। अनन्तर रानी ने पुरोहित की अंगूठी जीत ली। उसे

पहिचान के रूप में देकर निपुणमति को फिर से भेजा, परन्तु उसने फिर भी नहीं दिये। अब की बार रानी ने पुरोहित का कैंची सहित जनेऊ जीत लिया। निपुणमति ने उसे पहिचान के रूप में दिया और दिखाया। उसे देखकर उसे विश्वास हुआ तथा 'यदि रत्न नहीं दूंगी तो वे कुपित होंगे, इस प्रकार भयभीत होकर ब्राह्मणी ने पंचरत्न निपुणमति को दे दिये, और उसने लाकर रानी रामदत्ता को सौंप दिये। रामदत्ता ने राजा को दिखाये। राजा ने उन रत्नों को और बहुत से रत्नों में मिलाकर उस पागल से कहा कि अपने रत्न पहिचान कर उठा लो। उसने अपने सब रत्न छाँटकर उठा लिये, तब राजा और रानी ने उसे वणिकपुत्र–सेठ मान लिया कि वास्तव में, यह पागल नहीं है, यह तो वणिकपुत्र है।

तदनन्तर राजा ने सत्यघोष से पूछा कि तुमने यह कार्य किया है? उसने कहा कि देव! मैं यह काम नहीं करता हूँ। मुझे ऐसा करना क्या युक्त है? तदनन्तर अत्यन्त कुपित हुए राजा ने उसके लिए तीन दण्ड निर्धारित किये–१ तीन थाली गोबर खावो, २ पहलवानों के तीन मुक्के खावो अथवा ३ समस्त धन दे दो। उसने विचार कर पहले गोबर खाना प्रारम्भ किया। पर जब गोबर खाने में असमर्थ रहा तब पहलवानों के मुक्के सहन करना शुरू किया, किन्तु जब उसमें भी असमर्थ रहा तब सब धन देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार तीनों दण्डों को भोगकर वह मरा और तीव्रलोभ के कारण राजा के खजाने में अगन्धन जाति का साँप हुआ। वहां भी मरकर दीर्घ संसारी हुआ। इस प्रकार द्वितीय अव्रत की कथा पूर्ण हुई।

चोरी से तापस बहुत दुःख को प्राप्त हुआ, इसकी कथा इस प्रकार है—

तापस की कथा

वत्सदेश की कौशाम्बी नगरी में राजा सिंहरथ रहता था। उसकी रानी का नाम विजया था। वहाँ एक चोर कपट से तापस होकर रहता था। वह दूसरे की भूमि का स्पर्श न करता हुआ लटकते हुए सींके पर बैठकर दिन में पञ्चाग्नि तप करता था और रात्रि में कौशाम्बी नगरी को लूटता था। एक समय 'नगर लुट गया है' इस तरह महाजन से सुनकर राजा ने कोट्टपाल से कहा—'रे कोट्टपाल! सात रात्रि के भीतर चोर को पकड़ लाओ या फिर अपना सिर लाओ।' तदनन्तर चोर को न पाता हुआ

कोट्टपाल चिन्ता में निमग्न हो अपराह्नकाल में बैठा था कि किसी भूखे ब्राह्मण ने आकर उससे भोजन मांगा। कोट्टपाल ने कहा—'हे ब्राह्मण! तुम अभिप्राय को नहीं जानते। मुझे तो प्राणों का सन्देह हो रहा है और तुम भोजन मांग रहे हो।' यह वचन सुनकर ब्राह्मण ने पूछा कि तुम्हें प्राणों का सन्देह किस कारण हो रहा है? कोट्टपाल ने कारण कहा। उसे सुनकर ब्राह्मण ने फिर पूछा 'यहां क्या कोई अत्यन्त निःस्पृह वृत्तिवाला पुरुष रहता है?' कोटपाल ने कहा कि विशिष्ट तपस्वी रहता है, परन्तु यह कार्य उसका हो, ऐसा सम्भव नहीं है। ब्राह्मण ने कहा कि वही चोर होगा, क्योंकि वह अत्यन्त निःस्पृह है। इस विषय में मेरी कहानी सुनिये (१) मेरी ब्राह्मणी अपने आपको महासती कहती है और कहती है कि 'मैं पर-पुरुष के शरीर का स्पर्श नहीं करती' यह कहकर नीव कपड़े से समस्त शरीर को कपड़े से आच्छादित कर अपने पुत्र को स्तन देती है—दूध पिलाती है परन्तु रात्रि में गृहके वरेदी के साथ कुकर्म करती है।

(२) यह देख मुझे वैराग्य उत्पन्न हो गया और मैं मार्ग में हितकारी भोजन के लिए सुवर्णशलाका को बांस की लाठी के बीच रखकर तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़ा। आगे चलने पर मुझे एक ब्रह्मचारी बालक मिल गया—वह हमारे साथ हो गया। मैं उसका विश्वास नहीं करता था। इसलिये उस लाठी की बड़े यत्न से रक्षा करता था। उस बालक ने ताड़ लिया अर्थात् उसने समझ लिया कि यह लाठी सगर्भा है—इसके भीतर कुछ धन अवश्य है। एक दिन वह बालक रात्रि में कुम्भकार के घर सोया। प्रातः वहां से चलकर जब दूर आ गया तब मस्तक में लगे हुए सड़े तृण को देखकर कपटवश उसने मेरे आगे कहा कि हाय! हाय! मैं दूसरे के तृणको ले आया। ऐसा कहकर वह लौटा और उस तृण को उसी कुम्भकार के घर पर डालकर सायंकाल के समय मुझ से आ मिला जबकि मैं भोजन कर चुका था। वह बालक जब भिक्षा के लिए जाने लगा तब मैंने सोचा कि यह तो बहुत पवित्र है, इस तरह उस पर विश्वास कर कुत्ते आदि को भगाने के लिए मैंने वह लाठी उसको दे दी। उसे लेकर वह चला गया।

(३) तदनन्तर महाअटवी में जाते हुए मैंने एक वृद्धपक्षी का बड़ा कपट देखा। एक बड़े वृक्ष पर रात्रि के समय बहुत पक्षियों का समूह एकत्र हुआ। उसमें अत्यन्त वृद्धपक्षी ने रात्रि के समय अपनी भाषा में दूसरे पक्षियों से कहा कि हे पुत्रो! अब मैं अधिक चल नहीं सकता। कदाचित् भूख से पीड़ित होकर आप लोगों के पुत्रों

का भक्षण करने लगूं, इसलिए प्रातःकाल आप लोग हमारे मुखको बांधकर जाइये। पक्षियों ने कहा कि हाय पिताजी! आप तो हमारे बाबा हैं, आप में इसकी सम्भावना कैसे की जा सकती है? वृद्ध पक्षी ने कहा कि 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' भूखा प्राणी क्या पाप नहीं करता? इस तरह प्रातःकाल सब पक्षी उस वृद्ध के कहने से उसके मुखको बांधकर चले गये। वह बँधा हुआ वृद्ध पक्षी, सब पक्षियों के चले जाने पर अपने पैरों से मुख का बन्धन दूर कर उन पक्षियों के बच्चों को खा गया और जब उनके आने का समय हुआ तब फिर से पैरों के द्वारा मुख में बन्धन डालकर कपट से क्षीणोदर होकर पड़ गया।

(४) अनन्तर मैं एक नगर में पहुँचा। वहां मैंने चौथा कपट देखा। वह इस प्रकार है कि उस नगर में एक चोर तपस्वी का रूप रखकर तथा दोनों हाथों से मस्तक के ऊपर एक बड़ी शिला को उठाकर दिन में खड़ा रहता था और रात्रि में 'हे जीव हटो मैं पैर रख रहा हूँ, हे जीव हटो मैं पैर रख रहा हूँ' इस प्रकार कहता हुआ भ्रमण करता था। समस्त भक्तजन उसे 'अपसर जीव' इस नाम से कहने लगे थे। वह चोर जब कोई गड्ढा आदि एकान्त स्थान मिलता तो सब ओर देखकर सुवर्ण से विभूषित प्रणाम करते हुए एकाकी पुरुष को उस शिला से मार डालता और उसका धन ले लेता था। इन चार तीव्र कपटों को देखकर मैंने यह श्लोक बनाया था।

अबालेति—पुत्र का स्पर्श न करने वाली स्त्री, तृण का घात न करने वाला ब्राह्मण, वन में काष्ठमुख पक्षी और नगर में अपसर जीवक ये चार महा कपट मैंने देखे हैं।

ऐसा कहकर तथा कोट्टपाल को धीरज बँधाकर वह ब्राह्मण सींके में रहने वाले तपस्वी के पास गया। तपस्वी के सेवकों ने उसे वहां से निकालना भी चाहा, परन्तु वह रात्र्यन्ध बनकर वहीं पड़ा रहा और एक कोने में बैठ गया। तपस्वी के उन सेवकों ने 'यह सचमुच में ही रात्र्यन्ध है या नहीं' इसकी परीक्षा करने के लिए तृण की काड़ी तथा अंगुली आदिक उसके नेत्रों के पास चलायी, परन्तु वह देखता हुआ भी नहीं देखता रहा। जब रात काफी हो गई तब उसने गुहारूप अन्धकूप में रखे जाते हुए नगर के धनको देखा और उन लोगों के खान-पान आदि को देखा। प्रातःकाल उसने जो कुछ रात्रि में देखा था उसे कहकर राजा के द्वारा मारे जाने वाले कोट्टपाल की रक्षा की। सींके में बैठने वाला वह तपस्वी उस कोट्टपाल के द्वारा पकड़ा गया

और बहुत भारी यातनाओं से दुःखी होता हुआ मरकर दुर्गति को प्राप्त हुआ। इस प्रकार तृतीय अव्रत की कथा पूर्ण हुई।

कुशील सेवन से निवृत्ति न होने के कारण यमदण्ड कोतवाल ने दुःख प्राप्त किया। इसकी कथा इस प्रकार है—

यमदण्ड कोतवाल की कथा

आहीर देश के नासिक्य नगर में राजा कनकरथ रहते थे। उनकी रानी का नाम कनकमाला था। उनका एक यमदण्ड नामका कोतवाल था। उसकी माता अत्यन्त सुन्दरी थी। वह यौवन अवस्था में ही विधवा हो गई थी तथा व्यभिचारिणी बन गई थी। एक दिन उसकी पुत्रवधु ने उसे रखने के लिए एक आभूषण दिया। उस आभूषण को पहिनकर वह रात्रि में अपने पहले से संकेतित जार के पास जा रही थी। यमदण्ड ने उसे देखा और एकान्त में उसका सेवन किया। यमदण्ड ने उसका आभूषण लाकर अपनी स्त्री को दे दिया। स्त्री ने उसे देखकर कहा कि यह आभूषण तो मेरा है, मैंने रखने के लिए सास के हाथ में दिया था। स्त्री के वचन सुनकर यमदण्ड कोतवाल ने विचार किया कि मैंने जिसका उपभोग किया है, वह मेरी माता होगी। तदनन्तर यमदण्ड ने माता के जार के संकेतगृह (मिलने के स्थान) पर जाकर उसका पुनः सेवन किया और उसमें आसक्त होकर गूढरीति से उसके साथ कुकर्म करने लगा।

एक दिन उसकी स्त्री को जब यह सहन नहीं हुआ तब उसने अत्यन्त कुपित होकर धोबिन से कहा कि हमारा पति अपनी माता के साथ रमण करता है। धोबिन ने मालिन से कहा, मालिन कनकमाला रानी की अत्यन्त विश्वास पात्र थी, वह उसके निमित्त फूल लेकर गयी। रानी ने कुतूहलवश उससे पूछा कि कोई अपूर्व बात जानती हो ? मालिन कोतवाल से द्वेष रखती थी, अतः उसने रानी से कह दिया कि देवी ! यमदण्ड कोतवाल अपनी माता के साथ रमण करता है। कनकमाला ने यह समाचार राजा से कहा और राजा ने गुप्तचर के द्वारा उसके कुकर्म का निश्चय कर कोतवाल को पकड़वाया। दण्डित होने पर वह दुर्गति को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार चतुर्थ अव्रत की कथा पूर्ण हुई।

परिग्रह पाप से निवृत्ति न होने के कारण श्मश्रुनवनीत ने बहुत दुःख प्राप्त किया। इसकी कथा इस प्रकार है—

श्मश्रुनवनीत की कथा

अयोध्या नगरी में भवदत्त नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनदत्ता था और पुत्र का नाम लुब्धदत्त था। एक बार वह लुब्धदत्त व्यापार के निमित्त दूर गया। वहां उसने जो धन कमाया था वह सब चोरों ने चुरा लिया। तदनन्तर अत्यन्त निर्धन होकर वह किसी मार्ग से आ रहा था। वहां उसने किसी समय एक गोपाल से पीने के लिए छाछ मांगी। छाछ पी चुकने पर उसका कुछ मक्खन मूछों में लग गया। उसे देख उसने 'अरे! यह तो मक्खन है' यह विचार कर उसे निकाल लिया कि इससे व्यापार होगा। इस तरह वह प्रतिदिन मक्खन का संचय करने लगा। जिससे उसका श्मश्रुनवनीत यह नाम प्रसिद्ध हो गया।

इस प्रकार उसके पास जब एक प्रस्थ प्रमाण घी हो गया तब वह घी के बर्तन को अपने पैरों के समीप रखकर तथा शीतकाल होने से झोंपड़ी के द्वार पर पैरों के समीप अग्नि रखकर बिस्तर पर पड़ गया। वह बिस्तर पर पड़ा-पड़ा विचार करता है कि इस घी से बहुत धन कमाकर मैं सेठ हो जाऊँगा, फिर धीरे-धीरे सामन्त-महासामन्त, राजा और अधिराजा का पद प्राप्त कर क्रम से सबका चक्रवर्ती बन जाऊँगा। उस समय मैं सात खण्ड के महल में शय्या तल पर पड़ा रहूंगा। चरणों के समीप बैठी हुई सुन्दर स्त्री मुट्ठी से मेरे पैर दाबेगी। और मैं स्नेहवश उससे कहूंगा कि तुझे पैर दबाना भी नहीं आता। ऐसा कहकर मैं पैर से उसे ताड़ित करूंगा। ऐसा विचारकर उसने अपने आपको सचमुच ही चक्रवर्ती समझ लिया और पैर से ताड़ित कर घी का बर्तन गिरा दिया। उस घी से द्वार पर रखी हुई अग्नि बहुत जोर से प्रज्वलित हो गयी। द्वार जलने लगा, जिससे इच्छाओं के परिमाण से रहित वह निकलने में असमर्थ हो वहीं जलकर मर गया और दुर्गति को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार पञ्चम अव्रत की कथा पूर्ण हुई ॥१६॥६५॥

यानि चैतानि पंचाणुव्रतान्युक्तानि मद्यादित्रयत्यागसमन्वितान्यष्टौ मूलगुणा भवन्तीत्याह—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥२०॥ २१॥

'गृहिणामष्टौ मूलगुणानाहुः। के ते ? श्रमणोत्तमाः जिनाः। किं तत् ? 'अणुव्रतपंचकम्'। कैः सह ? 'मद्यमांसमधुत्यागैः' मद्यं च मांसं च मधु च तेषां त्यागास्तैः ॥ २० ॥

जो ये पांच अणुव्रत कहे हैं वे ही मद्यादि तीन के त्याग के साथ मिलकर आठ मूलगुण होते हैं, यह कहते हैं—

(श्रमणोत्तमाः) मुनियों में उत्तम गणधरादिक देव (मद्यमांस मधुत्यागैः) मद्यत्याग, मांसत्याग और मधुत्याग के साथ (अणुव्रतपञ्चकम्) पांच अणुव्रतों को (गृहिणाम्) गृहस्थों के (अष्टौ) आठ (मूलगुणान्) मूल गुण (आहुः) कहते हैं।

टीकार्थ—श्रमण मुनियों को कहते हैं, इनमें जो उत्तम श्रेष्ठ गणधरादिकदेव हैं वे श्रमणोत्तम कहलाते हैं। उन्होंने गृहस्थों के आठ मूलगुण इस तरह कहे हैं— १ मद्यत्याग २ मांसत्याग ३ मधुत्याग ४ अहिंसाणुव्रत ५ सत्याणुव्रत ६ अचौर्याणुव्रत ७ ब्रह्मचर्याणुव्रत ८ परिग्रहपरिमाणअणुव्रत।

विशेषार्थ—मुख्य गुणों को मूलगुण कहते हैं। जिस प्रकार मूल-जड़ के बिना वृक्ष नहीं ठहरते, उसी प्रकार मूलगुणों के बिना मुनि और श्रावक के व्रत भी नहीं ठहर सकते। श्रावक के आठ मूलगुण होते हैं और मुनियों के २८ मूलगुण होते हैं। यहां पर समन्तभद्र स्वामी ने पंच अणुव्रत और मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग ये तीन मिलाकर अष्ट मूलगुण बतलाये हैं, क्योंकि इनके त्याग में जब दृढ़ता हो जाती है तो समझना चाहिए कि समस्त गुणरूप महल की नींव लग गई।

सोमदेवसूरि ने **यशस्तिलकचम्पू** में इस प्रकार अष्ट मूलगुण कहे हैं—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बर पञ्चकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥

अर्थात्—मद्य, मांस, मधु और पंच उदुम्बर त्याग को अष्ट मूलगुण माना है।

जिनसेन स्वामी ने—

हिंसा सत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च वादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥

अर्थ—पंच अणुव्रत, मधु को मांस में गर्भित कर उसके स्थान पर द्यूतत्याग का उल्लेख किया है और मद्य ये अष्टमूलगुण बतलाये हैं।

पं० आशाधरजी ने—

मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुति ।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ।।

अर्थ—मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, रात्रि भोजन, पंचफलीत्याग, देवदर्शन, जीवदया, जलगालन । ये आठ मूलगुण बतलाये हैं।

गृहस्थों को अपने गृहस्थाचार की रक्षा के लिए इन आठ मूलगुणों का परिपालन करना चाहिए तथा जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का पालन करना है तो अवश्य ही हिंसात्मक एवं नशीली वस्तुओं के भक्षण का त्याग कर देना चाहिए। उत्तम कुलोत्पन्न व्यक्ति तो मद्यमांसादि को भोजन करते समय देखलें तो तत्क्षण ही भोजन का त्याग कर देते हैं। भय, ग्लानि, क्रोध, काम, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक ये समस्त दोष हिंसा से ही होते हैं। मद्य पीने वाले में भी ये सभी दोष आ जाते हैं। द्वीन्द्रियादि प्राणी के घात से मांस की उत्पत्ति होती है, जिसे देखते ही ग्लानि उत्पन्न होती है, जो दुर्गन्ध युक्त है, जिसके स्पर्श होने से सचेल स्नान करना पड़े, ऐसे अपवित्र प्राणी के कलेवर को भक्षण करने वाले नरकादि दुर्गति के भाजन बनते हैं। क्योंकि मांस के आश्रय बादर अनन्त निगोदिया जीव, असंख्यात त्रस जीवों का घात होता है। मांस तो चाहे कच्चा हो, अग्नि में पक रहा हो, या पक चुका हो इन सभी अवस्थाओं में, जिस पशु का मांस है उसी जाति के सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय अनन्त जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। मधु, मांस, मद्य और मक्खन इन चार को आचार्यों ने महाविकृति कहा है। इसलिए अहिंसा धर्म का परिपालन करने वाले श्रावकों को इन सभी प्रकार के अभक्ष्य का त्याग करना अति आवश्यक है। आठ मूलगुणों का पालन करने वाला गृहस्थ ही जिनधर्म की देशना का पात्र होता है और तभी वह श्रावक कहलाता है ।।२०।।६६।।

एवं पंचप्रकारमणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीं त्रिप्रकारं गुणव्रतं प्रतिपादयन्नाह—

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ।।२१।। 22।।

'आख्यान्ति' प्रतिपादयन्ति । कानि ? 'गुणव्रतानि' । के ते ? 'आर्याः' गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते प्राप्यन्त इत्यार्यास्तीर्थंकरदेवादयः । किं तद्गुणव्रतं ? 'दिग्व्रतं' दिग्विरतिं । न केवलमेतदेव किन्तु 'अनर्थदण्डव्रतं' चानर्थदण्डविरतिं । तथा 'भोगोपभोगपरिमाणं सकृद्भुज्यत इति भोगोऽशनपानगन्धमाल्यादिः पुनः पुनरुपभुज्यत इत्युपभोगो वस्त्राभरणयानशयनादिस्तयोः परिमाणं कालनियमेन यावज्जीवनं वा । एतानि त्रीणि कस्माद्गुणव्रतान्युच्यन्ते ? 'अनुबृंहणात्' वृद्धिं नयनात् । केषां ? 'गुणानाम्' अष्टमूलगुणानाम् ॥२१॥

इस तरह पांच प्रकार के अणुव्रतों का वर्णन कर अब तीन प्रकार के गुणव्रतों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

(आर्याः) तीर्थंकर देव आदि उत्तम पुरुष, (गुणानां) आठ मूलगुणों की (अनुबृंहणात्) वृद्धि करने के कारण (दिग्व्रतं) दिग्व्रत (अनर्थदण्डव्रतं) अनर्थदण्डव्रत (च) और (भोगोपभोगपरिमाणं) भोगोपभोगपरिमाणव्रत को (गुणव्रतानि) गुणव्रत (आख्यान्ति) कहते हैं ।

टीकार्थ—'गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते प्राप्यन्तइत्यार्यास्तीर्थंकरदेवादयः' जो गुणों अथवा गुणवान मनुष्यों के द्वारा प्राप्त किये जावें, उन्हें आर्य कहते हैं । वे आर्य तीर्थंकरदेव, गणधर, प्रतिगणधर तथा आचार्य कहलाते हैं । गुण के लिए जो व्रत हैं उन्हें **गुणव्रत** कहते हैं ।

दिग्व्रत—दशों दिशाओं में आने-जाने की सीमा बांधना दिग्व्रत कहलाता है।

अनर्थदण्डव्रत—मन, वचन, काय की निष्प्रयोजन प्रवृत्ति के परित्याग को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं ।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत—भोग और उपभोग की वस्तुओं का कुछ समय अथवा जीवन पर्यन्त के लिए परिमाण करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है । जो वस्तु एक बार भोगने में आती है, वह भोग है, जैसे—भोजन, पेयपदार्थ तथा गन्धमाला आदि । और जो बार-बार भोगने में आवे, उसे उपभोग कहते हैं जैसे—वस्त्र, आभूषण पालकी, वाहन, शय्या आदि । इन सभी वस्तुओं का कुछ काल के लिए या जीवनपर्यन्त के लिए, दोनों प्रकार का त्याग होता है । इस प्रकार उपरितन श्लोक में कहे गये

आठ मूलगुणों की वृद्धि में सहायक होने से दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत इन तीनों को आर्य पुरुषों ने गुणव्रतों में परिगणित किया है।

विशेषार्थ—अहिंसादि अणुव्रतों की रक्षा करने के लिए आचार्यों ने तीन गुणव्रतों का उल्लेख किया है। दिग्विरति, अनर्थदण्डविरति, और भोगोपभोग परिमाण ये तीन गुणव्रत, स्वामी समन्तभद्र के मतानुसार हैं। सात शीलव्रत के दो मुख्य भेद हैं– गुणव्रत और शिक्षाव्रत। गुणव्रत तीन हैं और शिक्षाव्रत चार हैं। इस तरह शीलों की संख्या में तथा गुणव्रत और शिक्षाव्रत के भेदों की संख्या में कोई मतभेद नहीं। किन्तु गुणव्रत और शिक्षाव्रत के अवान्तर भेदों में थोड़ा अन्तर है। जैसे—**आचार्य कुन्दकुन्द** ने, दिशा विदिशा परिमाण, अनर्थदण्ड त्याग, और भोगोपभोग परिमाण को गुणव्रत कहा है। ऐसा ही कथन **पद्मपुराण** में है। और **भावसंग्रह** में भी ऐसा ही है। **तत्त्वार्थसूत्र** में दिग्विरत और देशविरत को अलग-अलग गिनाया है। उसी के टीकाकार पूज्यपाद स्वामी ने दिग्विरति देशविरति और अनर्थदण्डविरति को गुणव्रत कहा है। **महापुराण** में भी इन्हीं को गुणव्रत कहा है किन्तु यह भी कहा है कि कोई-कोई भोगोपभोग को भी गुणव्रत कहते हैं। **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, उपासकाध्ययन, चारित्रसार, अमितगतिश्रावकाचार, पद्मनन्दिपंचविंशतिका** और **लाटीसंहिता** तत्त्वार्थसूत्र के अनुगामी हैं। भोगोपभोग की वस्तुओं का परिमाण करने से परिग्रहपरिमाणव्रत की वृद्धि होती है। इसलिए इसे गुणव्रत में शामिल करना चाहिए ॥२१॥६७॥

तत्र दिग्व्रतस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥२२॥ २३॥

'दिग्व्रतं' भवति। कोऽसौ ? 'संकल्पः'। कथंभूतः ? 'अतोऽहं बहिर्न यास्यामी' त्येवंरूपः। किं कृत्वा ? 'दिग्वलयं परिगणितं कृत्वा' समर्यादं कृत्वा। कथं ? 'आमृति' मरणपर्यन्तं यावत्। किमर्थं ? 'अणुपापविनिवृत्त्यै' सूक्ष्मस्यापि पापस्य विनिवृत्त्यर्थम् ॥ २२ ॥

आगे दिग्व्रतका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

(आमृति) मरणपर्यन्त (अणुपापविनिवृत्त्यै) सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिए (दिग्वलयं) दिशाओं के समूह को (परिगणितं) मर्यादा सहित (कृत्वा) करके (अहं) मैं (अतः) इससे (बहिः) बाहर (न यास्यामि) नहीं जाऊंगा। (इति संकल्पः) ऐसा संकल्प करना (दिग्व्रतम्) दिग्व्रत (भवति) होता है।

टीकार्थ—दसों दिशाओं में सीमा निर्धारित करके ऐसा संकल्प करना कि मैं इस सीमा से बाहर नहीं जाऊंगा, इसे दिग्व्रत कहते हैं। दिग्व्रत मरण पर्यन्त के लिए धारण किया जाता है। दिग्व्रत का प्रयोजन सूक्ष्म पापों से निवृत्त होना है। अर्थात् मर्यादा के बाहर सर्वथा जाना-आना बन्द हो जाने से वहां सूक्ष्मपाप की भी निवृत्ति हो जाती है।

विशेषार्थ—दिग्विरति शब्द का अर्थ है दसों दिशाओं में नियमित सीमा निर्धारित कर उससे बाहर आने-जाने से निवृत्ति, यही इस व्रत का लक्षण है। यह नियम अणुव्रती के लिए है, महाव्रती के लिए नहीं। क्योंकि महाव्रती तो समस्त आरम्भ और परिग्रह से विरत होते हैं, और समितियों का पालन करने में तत्पर रहते हैं। अतः वे मनुष्य लोक में इच्छानुसार भ्रमण कर सकते हैं। ग्रन्थकार ने कहा है कि दिशाओं की मर्यादा करके मैं इसके बाहर मरणपर्यन्त नहीं जाऊंगा, ऐसा नियम दिग्व्रत है। **लाटी संहिता** में भी कहा है कि जब तक मैं सचेतन हूँ तब तक इस शरीर से मर्यादा के बाहर नहीं जाऊँगा। इस प्रकार दिग्व्रत में दशों दिशाओं की मर्यादा आवश्यक है, एक-दो दिशाओं की मर्यादा को दिग्व्रत नहीं कहा है।

सर्वार्थसिद्धि में यह शंका की गयी है कि—'अत्राह किं हिंसादिनामन्यतमस्माद्यः प्रतिनिवृत्तः स खल्वगारी व्रती ? नैवम्। किं तर्हि ? पञ्चतय्या अपि विरतेर्वैकल्येन विवक्षित इत्युच्यते—'अणुव्रतोऽगारी'—सर्वार्थ सि. ७।२०।

प्रश्न—जो हिंसादि पाँच पापों में से एक का त्याग करे, क्या वह अगारीव्रती है ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। जो पांचों पापों का एकदेशत्याग करता है वही गृही अणुव्रती है।

अतः ग्रन्थकार का उक्त कथन विचारणीय है। अस्तु, दिशाओं की मर्यादा के स्थान प्रसिद्ध होने चाहिए जो मर्यादा देने वाले और लेने वाले के परिचित हों, अन्यथा

भूल जाने की सम्भावना है। यह व्रत अणुव्रती के लिए है, महाव्रती के लिए नहीं। महाव्रती तो समस्त आरम्भ और परिग्रह से विरत होता है तथा समितियों में तत्पर रहता है। जिसने परिग्रह सम्बन्धी अनन्त इच्छाओं का दमन कर लिया उसने अनेक पापों से अपने आपकी रक्षा स्वयं करली, ऐसा समझना चाहिए। दिग्व्रत में गमनागमन की सीमा निश्चित होने से अनन्त इच्छाओं का दमन होता है, इस प्रकार दिग्व्रत का मुख्य उद्देश्य आरम्भ और लोभ को कम करने का है ॥२२॥६८॥

तत्र दिग्वलयस्य परिगणितत्वे कानि मर्यादा इत्याह—

मकराकरसरिदटवीगिरिजन पदयोजनानि मर्य्यादाः।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥२३॥२४॥

'प्राहुर्मर्यादाः' काः इत्याह—'मकराकरे' त्यादि—मकराकरश्च समुद्रः, सरितश्च नद्यो गंगाद्याः, अटवी दण्डकारण्यादिका, गिरिश्च पर्वतः सह्यविन्ध्यादिः, जनपदो देशो, वराट-वापीतटादिः, 'योजनानि' विंशतित्रिंशदादि संख्यानि। किंविशिष्टान्येतानि ? 'प्रसिद्धानि' दिग्विरतिमर्यादानां दातृगृहीतुश्च प्रसिद्धानि। कासां मर्यादाः ? 'दिशां'। कतिसंख्यावच्छिन्नानां 'दशानां'। कस्मिन् कर्त्तव्ये सति मर्यादाः ? 'प्रतिसंहारे' इतः परतो न यास्यामीति व्यावृतौ ॥२३॥

आगे, दिग्वलय का परिगणन करने के लिए मर्यादा किस प्रकार ली जाती है, यह कहते हैं—

(दशानां दिशाम्) दसों दिशाओं के (प्रतिसंहारे) परिगणित करने में (प्रसिद्धानि) प्रसिद्ध (मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि) समुद्र, नदी, अटवी, पर्वत, देश और योजन को (मर्यादा) मर्यादा (प्राहुः) कहते हैं।

टीकार्थ—मकराकर-समुद्र को कहते हैं। सरित्-गंगा-सिन्धु आदि नदियां। अटवी-दण्डकवन आदि सघन जंगल को कहते हैं। गिरि का अर्थ पर्वत है जैसे सह्याचल-विन्ध्याचल आदि। जनपद का अर्थ देश है, जैसे-वराट-वापीतट आदि देश। और योजन का अर्थ बीस योजन-तीस योजन आदि। व्रत देने वाले और व्रत लेने वालों को जिसका परिचय हो उन्हें प्रसिद्ध कहते हैं। पूर्वादि दशों दिशाओं सम्बन्धी सीमा

निश्चित करने के लिए समुद्र, नदी, जंगल, देश और योजन आदि को मर्यादा रूप से स्वीकार किया है।

विशेषार्थ—दिग्व्रत का धारक पुरुष इस प्रकार नियम करता है कि मैं अमुक समुद्र तक या अमुक नदी तक या अमुक जंगल तक या अमुक देश तक या इतने योजन तक यातायात करूंगा, बाहर नहीं। इस प्रकार इच्छायें स्वयं सीमित हो जाती हैं और परिग्रह की इच्छा कम होने से हिंसादि पाप भी स्वयं कम हो जाते हैं, इसलिए दिग्वलय की सीमा प्रत्येक मनुष्य को करनी चाहिए ॥२३॥६९॥

एवं दिग्विरतिव्रतं धारयतां मर्यादातः परतः किं भवतीत्याह—

अवधेर्बहिरणुपाप प्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पञ्च महाव्रत परिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥२४॥२५॥

'अणुव्रतानि प्रपद्यन्ते'। कां ? 'पंचमहाव्रतपरिणतिं'। केषां ? 'धारयतां'। कानि ? 'दिग्व्रतानि'। कुतस्तत्परिणतिं प्रपद्यन्ते ? 'अणुपाप प्रतिविरतेः' सूक्ष्ममपि पापं प्रतिविरतेः व्यावृत्तेः। क्व 'बहिः'। कस्मात् ?। कस्मात् ? 'अवधेः' कृतमर्यादायाः॥ २४ ॥

इस प्रकार दिग्विरतिव्रत को धारण करने वाले पुरुषों के मर्यादा के बाहर क्या होता है, यह कहते हैं—

(दिग्व्रतानि) दिग्व्रतों को (धारयताम्) धारण करने वाले पुरुषों के (अणुव्रतानि) अणुव्रत (अवधेः) की हुई मर्यादा के (बहिः) बाहर (अणुपापप्रति-विरतेः) सूक्ष्म पापों की भी निवृत्ति हो जाने से (पञ्चमहाव्रतपरिणतिं) पंचमहाव्रत-रूप परिणति को (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं।

टीकार्थ—जो मनुष्य दसों दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा करके मर्यादा के बाहर नहीं आता-जाता, इसलिए स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के पाप छूट जाते हैं। अतएव मर्यादा के बाहर अणुव्रत भी महाव्रतपने को प्राप्त हो जाते हैं।

विशेषार्थ—अणुव्रत धारण करने वाले जीवों का मर्यादा के भीतर आवागमन चलता रहता है इसलिए हिंसादि पापों का स्थूलरूप से ही त्याग हो पाता है। श्रावक

की आन्तरिक स्थिति तपाये हुए लोहे के गोले के समान है। क्योंकि वह आरम्भ और परिग्रह में लगा रहने से सर्वत्र जाने-आने, भोजन-शयन आदि क्रियाओं में जीवों का घात करता है। किन्तु दिशाओं की सीमा बांध लेने से की हुई मर्यादा के बाहर न वह त्रस जीवों की हिंसा करता है, और न स्थावर जीवों की हिंसा करता है। तथा मर्यादा के बाहर व्यापार करने से प्रचुर लाभ होने पर भी वह व्यापार नहीं करता। इससे लोभ का भी ह्रास होता है। मर्यादा के बाहर सूक्ष्म पापों से भी विरत हो जाने से दिग्व्रत के धारण करने वालों के अणुव्रत महाव्रत के रूप में परिणत हो जाते हैं ॥ २४ ॥ ७० ॥

तथा तेषां तत्परिणतावपरमपि हेतुमाह—

प्रत्याख्यान तनुत्वान्मन्दतराश्चरण मोहपरिणामाः ।
सत्त्वेन दुखधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥२५॥ ७१॥

'चरणमोहपरिणामाः' भावरूपाश्चारित्रमोहपरिणतयः । 'कल्प्यन्ते' उपचर्यन्ते। किमर्थं? महाव्रतनिमित्तं । कथंभूताः सन्तः? 'सत्वेन' 'दुखधारा' अस्तित्वेन महता कष्टेनावधार्यमाणाः सन्तोऽपि तेऽस्तित्वेन लक्षयितुं न शक्यन्त इत्यर्थः। कुतस्ते दुखधाराः? 'मन्दतरा' अतिशयेनानुत्कटाः। मन्दतरत्वमप्येषां कुतः? 'प्रत्याख्यानतनुत्वात्' प्रत्याख्यानशब्देन हि प्रत्याख्यानावरणाः द्रव्यक्रोधमानमायालोभाः गृह्यन्ते। नामैकदेशे हि प्रवृत्ताः शब्दा नाम्न्यपि वर्तन्ते भीमादिवत्। प्रत्याख्यानं हि सविकल्पेन हिंसादिविरतिलक्षणः संयमस्तदावृण्वन्ति ये ते प्रत्याख्यानावरणा द्रव्यक्रोधादयः यदुदये ह्यात्मा-कात्स्न्यात्तद्विरतिं कर्तुं न शक्नोति, अतोद्रव्यरूपाणां क्रोधादीनां तनुत्वान्मन्दोदयत्वाद्भावरूपाणामेषां मन्दतरत्वंसिद्धं ॥२५॥

अणुव्रतों की महाव्रतरूप परिणति में और भी कारण कहते हैं—

(प्रत्याख्यानतनुत्वात्) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का मन्द उदय होने से (मन्दतराः) अत्यन्त मन्द अवस्था को प्राप्त हुए, यहां तक कि (सत्वेन दुखधाराः) जिनके आस्तित्व का निर्धारण करना भी कठिन है ऐसे (चरणमोहपरिणामाः) चारित्रमोह के परिणाम (महाव्रताय) महाव्रत के व्यवहार के लिए (प्रकल्प्यन्ते) उपचरित होते हैं—कल्पना किये जाते हैं।

टीकार्थ—चरणमोहपरिणाम अर्थात् भावरूप जो चारित्रमोह परिणति है जो महाव्रत के लिए कल्पित की गयी है। यहाँ पर प्रत्याख्यान शब्द से प्रत्याख्यानावरण द्रव्य क्रोध, मान, माया, लोभ का ग्रहण होता है, क्योंकि नामके एकदेश से सर्वदेश का ग्रहण होता है। जिस प्रकार 'भीम' पद से भीमसेन का बोध होता है, उसी प्रकार प्रत्याख्यान शब्द का अर्थ सविकल्पपूर्वक हिंसादि पापों का त्यागरूप संयम होता है। उस संयम को जो आवृत करे अर्थात् जिसके उदय से यह जीव हिंसादि पापों का पूर्ण रूप से त्याग करने में समर्थ नहीं हो पाता है वे प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ कहलाते हैं। यह कषाय द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की है, पौद्‌गलिक कर्म प्रकृति द्रव्यकषाय है और उसके उदय से होने वाले परिणामभाव कषाय हैं। जब गृहस्थ के इन द्रव्यरूप क्रोधादि का इतना मन्द उदय हो जाता है कि चारित्रमोह के परिणाम का अस्तित्व भी बड़ी कठिनता से समझा जाता है तब उसके उपचार से महाव्रत जैसी अवस्था हो जाती है। दिग्व्रतधारी के मर्यादा के बाहर क्षेत्र में स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के हिंसादि पापों की पूर्णरूप से निवृत्ति हो जाती है। इसलिए उसके अणुव्रत भी उपचार से महाव्रत सरीखे जान पड़ते हैं, परमार्थ से नहीं। अतः द्रव्य क्रोधादि का मन्दोदय होने से भाव क्रोधादि का भी मन्दतरत्व सिद्ध होता है।

विशेषार्थ—मोहनीयकर्म के दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय की अपेक्षा से दो भेद हैं। दर्शनमोहनीय आत्मा के दर्शन गुण का घात करता है और चारित्र-मोहनीय आत्मा के चारित्र गुण का घात करता है। चारित्रमोहनीय के भी कषाय वेदनीय और नोकषायवेदनीय ऐसे दो भेद हैं। इनमें कषायवेदनीय के अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से सोलह भेद होते हैं। और नोकषायवेदनीय के हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषवेद, नपुंसकवेद की अपेक्षा नौ भेद हैं। इनमें अनन्तानुबन्धी कषाय आत्मा के सम्यक्त्वगुण का घात करती है। यद्यपि यह कषाय चारित्रमोहनीयरूप है तथापि इसके रहते हुए आत्मा में सम्यक्त्वगुण प्रकट नहीं होता। अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ देशचारित्र को नहीं होने देती। प्रत्याख्यानकषाय सकलचारित्र का घात करती है और संज्वलनकषाय यथाख्यातचारित्र प्रकट नहीं होने देती।

द्रव्यकर्म और भावकर्म के भेद से कर्म के भी दो भेद हैं। द्रव्यकर्म और भावकर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। द्रव्यकर्म का उदय भावकर्म के उदय में

निमित्त पड़ता है और भावकर्म के उदय का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म बँधता है। प्रत्याख्यान कषाय महव्रत की घातक है, इसके उदय में महाव्रत नहीं होते। श्रावकों के जब तक इसका उदय है तब तक उनके परिणाम महाव्रतों को धारण करने के नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न होता है कि श्रावक के अणुव्रत महाव्रत कैसे हो सकते हैं? उसी के समाधान के लिए यह कथन है कि दिग्व्रत धारण करने से प्रत्याख्यानावरण नामक द्रव्य क्रोध का उदय बहुत ही मन्द हो जाता है और उससे उस श्रावक के प्रत्याख्यानावरण नामक चारित्रमोहनीयरूप परिणाम भी इतने क्षीण हो जाते हैं कि उसके अस्तित्व का भी निर्णय करना कठिन हो जाता है। फलतः मर्यादा के बाहर सर्व पापों से विरत होने से अणुव्रत उस क्षेत्र की अपेक्षा महाव्रत होते हैं।

स्वामी समन्तभद्र ने ऐसा ही कहा है—यथा-प्रत्याख्यानावरण कषाय के मन्द उदय के कारण चारित्रमोहरूप परिणाम मन्दतर होने से उनका अस्तित्व भी कठिनता से ही प्रतीत होता है। इसी से अणुव्रत महाव्रत के तुल्य प्रतीत होते हैं। वास्तव में उसके महाव्रत नहीं है।

अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायों को तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर के भेद से चार-चार प्रकार की अनुभाग शक्ति पाई जाती है। जिस प्रकार एक जीव तो अनन्तानुबन्धी के तीव्रतर उदय से सातवें नरक की तेंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु का बन्ध करता है और दूसरा अनन्तानुबन्धी के मन्दतर उदय में नौवें ग्रैवेयक के देवों की इकतीस सागरकी आयुका बन्ध करता है। यद्यपि अनन्तानुबन्धी आदि कषायों के मन्दोदय में अणुव्रत या महाव्रतरूप परिणति हो जाती है किन्तु करणानुयोग की दृष्टि से वह अणुव्रती या महाव्रती नहीं है ॥२५॥७१॥

ननु कुतस्ते महाव्रताय कल्प्यन्ते न पुनः साक्षान्महाव्रतरूपाभवन्तीत्याह—

पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचः कायैः ।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥२६॥2७॥

'त्यागस्तु' पुनर्महाव्रतं भवति। केषां त्यागः 'हिंसादीनां' 'पंचानां'। कथंभूतानां 'पापानां' पापोपार्जनहेतुभूतानां। कैस्तेषां त्यागः 'मनोवचःकायैः' तैरपि कैः कृत्वा त्यागः ? 'कृतकारितानुमोदैः। अयमर्थः—हिंसादीनां मनसा कृतकारितानुमो-

दैस्त्यागः । तथा वचसा कायेन चेति । केषां तैस्त्यागो महाव्रतं ? 'महतां' प्रमत्तादि-गुणस्थानवर्तिनां विशिष्टात्मनाम् ॥२६॥

कोई प्रश्न करता है कि उसके वे चारित्रमोहरूप परिणाम उपचार से महाव्रत के कारण क्यों हैं ? साक्षात् महाव्रतरूप क्यों नहीं होते ? इसका समाधान करते हुए महाव्रत का लक्षण कहते हैं—

(हिंसादीनां) हिंसा आदिक (पञ्चानां) पाँच (पापानां) पापों का (मनोवचःकायैः) मन वचन काय (तथा) और (कृतकारितानुमोदैः) कृतकारित अनुमोदना से (त्यागः) त्याग करना (महतां) प्रमत्तविरत आदि गुणस्थानवर्ती महापुरुषों का (महाव्रतं) महाव्रत (भवति) होता है ।

टीकार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी अब्रह्म और परिग्रह ये पांच पाप पापोपार्जन के हेतु हैं । इसलिए इनका मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना इन नौ कोटि से त्याग करना महाव्रत कहलाता है । यह महाव्रत प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानवर्ती विशिष्ट मुनियों के ही होता है, अन्य के नहीं ।

विशेषार्थ—संसार में अधिकांश प्राणियों की प्रवृत्ति हिंसादि पांच पापों में हो रही है । यही कारण है कि उन्हें संसार में ही भ्रमण करना पड़ रहा है । संसार में विरले ऐसे प्राणी हैं जो हिंसादि कार्यों को पाप समझकर उनका परित्याग कर देते हैं । उन्हीं के इस उत्कृष्ट कार्य को महान् बतलाया है और उसी को महाव्रत कहा है ।

जो पाप स्वयं किया जाता है, वह **कृत** है । जो दूसरों से कराया जाय उसे **कारित** कहते हैं और किसी के करने पर उसकी प्रशंसा की जाय उसे **अनुमोदना** कहते हैं । ये तीनों कार्य मन से, वचन से और काय से होते हैं । इसलिए सब मिलकर नौ कोटियों से होते हैं । इन नौ कोटियों से हिंसादि पंच पापों का परित्याग करना महाव्रत कहलाता है । महाव्रत का प्रारम्भ प्रमत्तसंयत छठे गुणस्थान से ही होता है । इसके पहले पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों के व्रत अणुव्रत कहलाते हैं और पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक अव्रती कहे जाते हैं । अर्थात् इनके कोई भी व्रत नहीं है । ॥ २६ ॥ ७२ ॥

इदानीं दिग्विरतिव्रतस्यातिचारानाह—

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम् ।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ॥२७॥८८॥

'दिग्विरतेरत्याशा' अतीचाराः 'पंचमन्यन्तेऽ'भ्युपगम्यन्ते । तथा हि । अज्ञानात् प्रमादाद्वा ऊर्ध्वदिशोऽधस्ताद्दिशस्तिर्यग्दिशश्च व्यतिपाताः विशेषेणातिक्रमणानि त्रयः । तथाऽज्ञानात् प्रमादाद्वा 'क्षेत्रवृद्धिः' क्षेत्राधिक्यावधारणं । तथाऽवधीनां दिग्विरतेः कृतमर्यादानां 'विस्मरण' मिति ॥२७॥

अब दिग्विरतिव्रत के अतिचार कहते हैं—

(ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः) अज्ञान अथवा प्रमाद से ऊपर, नीचे और तिर्यक् अर्थात् समान धरातल की सीमा का उल्लंघन करना (क्षेत्रवृद्धिः) क्षेत्र को बढ़ा लेना और (अवधीनां) की हुई मर्यादा को भूल जाना (इति) ये (पञ्च) पांच (दिग्विरतेः) दिग्विरति व्रत के (अत्याशाः) अतिचार (मन्यन्ते) माने जाते हैं ।

टीकार्थ—दिग्व्रत के पाँच अतिचार हैं । अज्ञान अथवा प्रमाद से ऊपर पर्वतादि पर चढ़ते समय, नीचे कुए आदि में उतरते समय और तिर्यग् अर्थात् समतल पृथ्वी पर चलते समय की हुई मर्यादा को भूलकर सीमा का उल्लंघन करना । प्रमाद अथवा अज्ञानता से किसी दिशा का क्षेत्र बढ़ा लेना और व्रत लेते समय दसों दिशाओं की जो मर्यादा की थी उसे भूल जाना ये पाँच अतिचार दिग्व्रत के हैं ।

विशेषार्थ—जैसे किसी ने नियम किया कि मैं १५ हजार फुट तक ऊपर जाऊंगा, किन्तु वायुयान से यात्रा करते समय या पर्वत पर चढ़ते समय नियम का ख्याल न रखके की हुई मर्यादा से अधिक ऊँचाई तक चले जाना यह **ऊर्ध्वव्यतिक्रम** नामक अतिचार है । इसी प्रकार किसी ने नीचे उतरने का नियम किया कि मैं इतने फुट तक नीचे जाऊँगा किन्तु की हुई मर्यादा से अधिक नीचे कुए अथवा खान में उतर जाना **अधस्ताद्व्यतिपात** है । किसी ने पूर्वादि चारों दिशाओं में पाँचसौ-पाँचसौ मील तक आने-जाने का प्रमाण किया था, गमन करते समय स्पष्टरूप से स्मरण नहीं रहा और प्रमाण किया था उससे अधिक आगे निकल जाना **तिर्यग्व्यतिक्रम** है । **क्षेत्रवृद्धि**— पूर्व आदि देश की मर्यादा में कमी करके पश्चिम आदि देश की तरफ की सीमा बढ़ा लेना जैसे पश्चिम दिशा में सातसौ मील की दूरी पर व्यापार का अच्छा केन्द्र खुल गया है वहां से यदि माल लायेंगे तो अच्छा मुनाफा होगा, पूर्व दिशा में कोई विशेष

लाभप्रद स्थान नहीं है इसलिए पूर्व की मर्यादा कम करके पश्चिम दिशा की मर्यादा बढ़ा लेना, यहां क्षेत्रफल की अपेक्षा तो प्रतिज्ञा का पालन हुआ किन्तु प्रतिज्ञापालन करने का मूल उद्देश्य जो आरम्भ और लोभ कम करने का था उसका भंग हो गया अतः भंगाभंग की अपेक्षा अतिचार माना गया है। जो मर्यादा निर्धारित की थी बुद्धि की मन्दता से या सन्देह होने से अथवा किसी प्रकार की व्याकुलता होने से या चित्त-विक्षिप्त होने से उसे की हुई मर्यादा को भूल जाना **विस्मरण अतिचार** है जैसे कि सौ योजन की मर्यादा की है ? या पचास योजन की की है ? ऐसी स्थिति में यदि वह पचास योजन आगे जाता है तो अतिचार है और यदि सौ योजन आगे जाता है तो भी व्रत की सापेक्षता होने से अतिचार है। किन्तु सौ योजन से आगे जाता है तो व्रत का भंग होने से विस्मरण नामका अतिचार है। उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में इसे स्मृत्यन्तराधान नामक अतिचार कहा है अर्थात् की हुई स्मृति के स्थान पर दूसरी स्मृति बना लेना ॥२७॥७३॥

इदानीमनर्थदण्डविरति लक्षणं द्वितीयं गुणव्रतं व्याख्यातुमाह—

अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः ।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥२८॥७४॥

'अनर्थदण्डव्रतं विदु' जानन्ति। के ते ? 'व्रतधराग्रण्यः' व्रतधराणां यतीनां मध्येऽग्रण्यः प्रधानभूतास्तीर्थंकरदेवादयः। विरमणं' व्यावृत्तिः। केभ्यः ? 'सपापयोगेभ्यः' पापेन सह योगः सम्बन्धः पापयोगस्तेन सह वर्तमानेभ्यः पापोपदेशाद्यनर्थदण्डेभ्यः। किंविशिष्टेभ्यः ? 'अपार्थकेभ्यः' निष्प्रयोजनेभ्यः। कथं तेभ्यो विरमणं ? 'अभ्यन्तरं-दिगवधेः' दिगवधेरभ्यन्तरं यथा भवत्येवं तेभ्यो विरमणं। अतएव दिग्विरतिव्रतादस्य भेदः। तद्व्रते हि मर्यादातो बहिः पापोपदेशादिविरमणं अनर्थदण्डविरतिव्रते तु ततोऽभ्यन्तरे तद्विरमणं ॥२८॥

अब अनर्थदण्डविरति नामक द्वितीय गुणव्रत का व्याख्यान करने के लिए कहते हैं—

(व्रतधराग्रण्यः) व्रत धारण करने वाले मुनियों में प्रधान तीर्थंकरदेवादि (दिगवधेः) दिग्व्रत की सीमा के भीतर (अपार्थकेभ्यः) प्रयोजन रहित (सपापयोगेभ्यः)

पापसहित योगों से (विरमणं) निवृत्त होने को (अनर्थदण्डव्रतं) अनर्थदण्डव्रत (विदुः) जानते हैं ।

टीकार्थ—व्रतधर का अर्थ पंचमहाव्रतों को धारण करने वाले यति, मुनि, उनमें जो प्रधानभूत तीर्थंकरदेवादि वे व्रतधराग्रणी कहलाते हैं। इस तरह व्रतधारियों में अग्रणी तीर्थंकरदेव ने अनर्थदण्डव्रत का लक्षण इस प्रकार बतलाया है कि दिग्व्रत की मर्यादा के भीतर निष्प्रयोजन, पापरूप मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से निवृत्ति होना अनर्थदण्डव्रत है । दिग्व्रत में मर्यादा के बाहर निरर्थक पापों की निवृत्ति होती है और अनर्थदण्डव्रत में दिग्व्रत की सीमा के भीतर होने वाले पापपूर्ण व्यर्थ के कार्यों से निवृत्ति होती है । यही इन दोनों में अन्तर है ।

विशेषार्थ—दिग्व्रत की मर्यादा के भीतर भी निष्प्रयोजन पाप न करने का नाम अनर्थदण्डव्रत है । दण्ड कहते हैं मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को और अनर्थ का अर्थ होता है बिना प्रयोजन, अर्थात् बिना प्रयोजन मन से विचार करना, वचन से उपदेश आदि देना और शरीर से भी कुछ-न-कुछ कार्य करना इस प्रकार मन-वचन-काय की प्रवृत्ति के द्वारा त्रसस्थावर जीवों को कष्ट देना अनर्थदण्ड है । जैसे–किसी का बुरा हो, नाश हो इस प्रकार का विचार करना । पापरूप कार्यों को करने का उपदेश देना, तथा प्रमादपूर्वक शरीर के द्वारा दुष्प्रवृत्ति करना आदि । जिन कार्यों के करने से अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, ऐसे कार्यों से दूर रहना अनर्थ-दण्डव्रत नामक दूसरा गुणव्रत है ॥२८॥७४॥

अथ के ते अनर्थदण्डा यतो विरमणं स्यादित्याह—

पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च ।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥२९॥३०॥

दंडा इव दण्डा अशुभमनोवाक्कायाः परपीडाकरत्वात्, तान्न धरन्तीत्यदण्डधरा गणधरदेवादयस्ते प्राहुः । कान् ? 'अनर्थदण्डान्' । कति ? 'पंच' । कथमित्याह 'पापे-त्यादि' । पापोपदेशश्च हिंसादानं च अपध्यानं च दुःश्रुतिश्च एताश्चतस्रः प्रमादचर्या-चेति पंचामी ॥ २९ ॥

अब, वे अनर्थदण्ड कौनसे हैं जिनसे निवृत्त होते हैं, यह कहते हैं—

(अदण्डधराः) गणधरदेवादिक (पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः) पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यानदुःश्रुति और प्रमादचर्या इन (पंच) पांच को (अनर्थदण्डान्) अनर्थदण्ड (प्राहुः) कहते हैं।

टीकार्थ—दण्ड–मन, वचन, काय के अशुभ व्यापार को दण्ड कहते हैं। क्योंकि ये दण्डों के समान परपीड़ाकारक होते हैं। उन दण्डों को नहीं धारण करने वाले गणधरादि देवों ने पापोपदेश हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या इन पांच को अनर्थदण्ड कहा है। इन पांचों से निवृत्त होना ही पांच प्रकार का अनर्थदण्डव्रत है।

विशेषार्थ—पाप का उपदेश देना और पाप का उपदेश सुनना ये दोनों कार्य वचनयोग की दुष्प्रवृत्तिरूप है। खोटा चिन्तन करना यह मनोयोग की दुष्प्रवृत्ति है। हिंसा के उपकरणों को दूसरों को देना तथा प्रमादपूर्वक शरीर की प्रवृत्ति करना यह काययोग की दुष्प्रवृत्ति है। इस प्रकार तीनों योगों की दुष्प्रवृत्तिरूप पांच कार्य हैं—पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या ये पांच कार्य अनर्थदण्डरूप हैं। इनसे व्यर्थ ही पापकर्म का बन्ध होता है, इसलिए व्रती मनुष्य इनका त्याग करके पांच प्रकार के अनर्थदण्डव्रतों को धारण करते हैं ॥२९॥७५॥

तत्र पापोपदेशस्य तावत् स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्।
कथाप्रसंगः प्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥३०॥३१॥

'स्मर्तव्यो' ज्ञातव्यः। कः 'पापोपदेशः' पापः पापोपार्जनहेतुरुपदेशः। कथंभूतः? 'कथाप्रसंगः' कथानां तिर्यक्क्लेशादिवार्तानां प्रसंगः पुनः पुनः प्रवृत्तिः। किंविशिष्टः? 'प्रसवः' प्रसूत इति प्रभवः उत्पादकः। केषामित्याह–'तिर्यगित्यादि' तिर्यक्क्लेशश्च हस्तिदमनादिः, वणिज्या च वणिजां कर्म क्रयविक्रयादि, हिंसा च प्राणिवधः, आरम्भश्च कृष्यादिः, प्रलम्भनं च वंचनं तानि आदिर्येषां मनुष्यक्लेशादीनां तानि तथोक्तानि तेषाम् ॥ ३० ॥

अब उन पांच अनर्थदण्डों में सर्व प्रथम पापोपदेश अनर्थदण्ड का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

(तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्) पशुओं को क्लेश पहुँचाने वाली क्रियाएँ, व्यापार, हिंसा, आरम्भ तथा ठगई आदि की (कथाप्रसङ्गः प्रसवः) कथाओं के प्रसङ्ग उत्पन्न करना (पाप उपदेशः) पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड (स्मर्तव्यः) स्मरण करना चाहिए ।

टीकार्थ—जो उपदेश पाप को उत्पन्न करने में कारण हो उसे पापोपदेश कहते हैं । उसके तिर्यग्क्लेशादि भेद कहते हैं, अर्थात् तिर्यंचों को वश में करने की प्रक्रिया **तिर्यग्क्लेश** है । जैसे—हाथी आदि को वश में करने की प्रक्रिया । लेन-देन आदि का व्यापार **वाणिज्य** है । प्राणियों का वध करना **हिंसा** है । खेती आदि का कार्य **आरम्भ** कहलाता है । तथा दूसरों को ठगने आदि की कला **प्रलम्भन** है । तिर्यंग्क्लेश के समान मनुष्यक्लेश भी होता है, अर्थात् मनुष्यों के साथ इस प्रकार की क्रिया करना जिनसे उनको दुःख-क्लेश हो । इन सभी प्रकार की कथा-वार्ताओं का प्रसंग उपस्थित करना अर्थात् बार-बार इनका उपदेश देना वह पापोपदेश नामक अनर्थ-दण्ड है । इनके परित्याग करने से पापोपदेश अनर्थदण्डव्रत होता है ।

विशेषार्थ—जो वचन हिंसा, झूठ, चोरी आदि और खेती व्यापार आदि से सम्बन्ध रखते हैं वे नहीं कहने चाहिए और जो इनसे आजीविका करने वाले व्याध, ठग, चोर किसान, भील आदि हैं, उन्हें वैसा उपदेश नहीं देना चाहिए । तथा न गोष्ठी आदि में इस तरह की चर्चा का प्रसंग लाना चाहिए ।

(पशु-पक्षियों को कष्ट पहुँचाने वाला व्यापार) हिंसा, आरम्भ, ठगई आदि की चर्चा करना, वह भी उन लोगों में जो यही काम करते हों पापोपदेश है । उसे नहीं करना चाहिए । आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने तो विद्या, वाणिज्य, लेखन, कृषि, सेवा और शिल्प से आजीविका करने वालों को भी पापोपदेश देने का निषेध किया है । इस देश में दासी-दास सुलभ हैं, उन्हें अमुक देश में ले जाकर बेचने पर अधिक लाभ होगा, ऐसा उपदेश देना, क्लेशवाणिज्य है । गाय-भैंस, बैलादि अमुक देश से खरीदकर अमुकदेश में बेचने से अधिक लाभ होगा ऐसा उपदेश देना तिर्यग्वाणिज्य है । हरिण आदि को पकड़ने के लिए जाल फैलाने वाले, शूकर आदि का शिकार करने वाले और

पक्षियों को मारने वाले लोगों को यह उपदेश देना कि अमुक स्थान पर हरिण, शूकर पक्षी आदि अधिक हैं, यह वधकोपदेश है और किसान आदि आरम्भ करने वालों को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति का आरम्भ इन-इन उपायों से करना चाहिए, ऐसा उपदेश देना आरम्भकोपदेश है। इस प्रकार तिर्यक्क्लेश आदि को उत्पन्न करने वाली कथाओं का जो प्रसङ्ग है उसे पापोपदेश जानना चाहिए। लाटी संहिता में अनर्थदण्ड विरति को श्रावक के बारहव्रतरूपी वृक्षों का मूल कहा है। एक अनर्थदण्ड के त्याग से प्राणी बिना किसी प्रयत्न के व्रती हो जाता है, उनका यह कथन सत्य है। यदि मनुष्य बिना प्रयोजन पाप कार्यों में प्रवृत्ति न करे तो उसे रुपये में बारह आना पाप कर्मों से छुटकारा मिल जाता है ॥३०॥७६॥

अथ हिंसादानं किमित्याह—

परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृंगिशृंखलादीनाम् ।
वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥३१॥ 32॥

'हिंसादानं ब्रुवन्ति' के ते ? 'बुधा' गणधरदेवादयः। किं तत् ? 'दानं'। यत्केषां ? 'वधहेतूनां' हिंसाकारणानां। केषांतत्कारणानामित्याह—'परश्वि' इत्यादि। परशुश्च कृपाणश्च खनित्रं च ज्वलनश्चाऽऽयुधानि च क्षुरिकालकुटादीनिशृंगि च विष-सामान्यं शृंखला च ता आदयो येषां ते तथोक्तास्तेषाम् ॥३१॥

हिंसादान क्या है ? यह कहते हैं—

(बुधाः) गणधरदेवादिक विज्ञपुरुष (परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गि-शृङ्खलादीनाम्) फरसा, तलवार, कुदारी, अग्नि, शस्त्र, विष तथा सांकल आदिक (वध-हेतूनां) हिंसा के कारणों के दान को (हिंसादानं) हिंसादान नामका अनर्थदण्ड (ब्रुवन्ति) कहते हैं।

टीकार्थ—हिंसा के उपकरण दूसरों को देना, इसे गणधरदेवादिकों ने हिंसादान कहा है। फरसा आदि को परशु कहते हैं। तलवार, कृपाण है। पृथ्वी को खोदने के साधन कुदाली, फावड़ा आदि खनित्र कहे जाते हैं। अग्नि को ज्वलन कहते हैं। छुरी, लाठी आदि आयुध हैं। विषसामान्य को शृंगी कहते हैं, और बन्धन का साधन सांकल है। ये सब हिंसा के कारण हैं। इनको दूसरों के लिए देना हिंसादान अनर्थदण्ड है, इसका त्याग करना हिंसादान अनर्थदण्डव्रत है।

विशेषार्थ—यद्यपि व्रती मनुष्य स्वयं के उपयोग के लिए परशु, तलवार, गेंती, फावड़ा, आग, शस्त्र, हल-मूसल आदि हिंसा के उपकरणों को रखते हैं और सावधानी से उनका उपयोग करते हैं, किन्तु हिंसा के इन उपकरणों को दूसरों को देना हिंसादान कहा है। गृहस्थी के लिए कभी-कभी अणुव्रती गृहस्थ को भी आग, मूसल, ओखली आदि दूसरों से लेने की आवश्यकता होती है। यदि वह स्वयं न देगा तो दूसरे भी उसको कैसे देंगे? पं. आशाधरजी को इस कठिनाई का अनुभव हुआ होगा, इसलिए उन्होंने इतना विशेष कथन करना उचित समझा कि जिनसे हमारा पारस्परिक लेन-देन का व्यवहार चलता है उनको तो रसोई बनाने के लिए अग्नि, मूसल आदि वस्तुएँ देना चाहिए, किन्तु जिनसे हमारा ऐसा व्यवहार नहीं है, उन्हें रसोई बनाने के लिए भी आग वगैरह नहीं देनी चाहिए। ऐसी घटनाएँ ग्रामों में सुनी गई हैं कि अपरिचित आदमी ने आग मांगी और उसी गांव में उसने आग लगा दी और स्वयं लापता हो गया।

अमृतचन्द्राचार्य ने तो तलवार, धनुष, विष, आग, हलादि हिंसा के साधनों को दूसरों को देने का ही निषेध किया है ।।३१।।७७।।

इदानीमपध्यानस्वरूपं व्याख्यातुमाह—

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ।।३२।। ३३।।

'अपध्यानं शासति' प्रतिपादयन्ति। के ते? 'विशदाः' विचक्षणाः। क्व? 'जिनशासने'। किं तत्? 'आध्यानं' चिन्तनं। कस्य? 'वधबंधच्छेदादेः'। कस्मात् 'द्वेषात्'। न केवलं द्वेषादपि 'रागाद्वा' ध्यानं। कस्य? 'परकलत्रादेः' ।।३२।।

अब अपध्यान के स्वरूप का व्याख्यान करने के लिए कहते हैं—

(जिनशासने विशदाः) जिनागम में निपुण पुरुष (द्वेषात्) द्वेष के कारण किसी के (वधबन्धच्छेदादेः) वध, बन्धन और छेद आदिका (च) तथा (रागात्) राग के कारण (परकलत्रादेः) परस्त्री आदि का (आध्यानं) चिन्तन करने को (अपध्यानं) अपध्यान (शासति) कहते हैं।

टीकार्थ—द्वेष के वश किसी के मर जाने, बन्धन प्राप्त होने का अथवा अंग-उपांगादि छिद जाने का, और राग के कारण परस्त्री आदि का आध्यान-बार-बार

चिन्तन करना सो अपध्यान नामक अनर्थदण्ड है। ऐसा जिनशासन के ज्ञाता पुरुष कहते हैं।

विशेषार्थ—'परेषां जयपराजयबधाऽङ्गच्छेदस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा-चिन्तनमपध्यानं' अर्थात् राग के कारण अमुकव्यक्ति को युद्ध में विजय प्राप्त हो जाय तो बहुत ही अच्छा हो, द्वेष के कारण अमुक व्यक्ति की हार हो जाय तो अच्छा हो। तथा जिससे अपना वैरभाव है उसके प्रति निर्दयभाव से विचारना कि इसको जान से मार दिया जाय तो अच्छा रहे। अथवा इसके अंगोपांगों का छेद हो जाय, इसका सारा धन चोरी में चला जाय तो बहुत अच्छा हो, इस तरह का खोटा ध्यान राग-द्वेष के कारण होता है। एक ही विषय में मनके एकाग्र करने को ध्यान कहते हैं। ध्यान के चार भेद हैं। उनमें आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान ये दो ध्यान खोटे ध्यान हैं। आर्त्त पीड़ा या कष्ट को कहते हैं। उसका ध्यान आर्त्तध्यान कहलाता है। इसी प्रकार वैर घातादि का चिन्तन करना रौद्रध्यान है। अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि—मोहवश सभी मनुष्यों के चित्त में सदा स्वभाव से ही आपत्ति के कारण राग-द्वेष-छल-कपट आदि दोष रहा करते हैं। तथापि शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदि का चिन्तवन कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि उसका फल केवल पापबन्ध है। इसलिए व्रती मनुष्य ऐसे कार्यों से सदा दूर रहते हैं। यह अपध्यान अनर्थदण्डव्रत है ॥३२॥७८॥

साम्प्रतं दुःश्रुतिस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

आरम्भसंगसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः।
चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥३३॥ ३४॥

'दुःश्रुतिर्भवति'। कासौ ? 'श्रुतिः श्रवणं'। केषां ? 'अवधीनां शास्त्राणां'। किं कुर्वतां ? 'कलुषयतां' मलिनयतां। किं तत् ? 'चेतः' क्रोधमानमायालोभाद्याविष्टं चित्तं कुर्वतामित्यर्थः। कैः कृत्वेत्याह—'आरम्भेत्यादि' आरम्भश्च कृष्यादिः संगश्च परिग्रहः तयोः प्रतिपादनं वार्तानीतौ विधीयते। 'कृषिः पशुपाल्यं वाणिज्यं च वार्ता' इत्यभिधानात्, साहसं चात्यद्भुतं कर्म वीरकथायां प्रतिपाद्यते, मिथ्यात्वं चाद्वैतक्षणिक-मित्यादि, प्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकशास्त्रेण क्रियते, द्वेषश्च विद्वेषीकरणादिशास्त्रेणाभि-धीयते रागश्च वशीकरणादिशास्त्रेण विधीयते, मदश्च 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरु' रित्यादि-ग्रन्थाज्जायते, मदनश्च रतिगुणविलासपताकादिशास्त्रादुत्कटो भवति तैः एतैः कृत्वा चेतः कलुषयतां शास्त्राणां श्रुतिर्दुःश्रुतिर्भवति ॥३३॥

दुःश्रुति का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

(आरम्भसंगसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः) आरम्भ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, अहंकार और काम के द्वारा (चेतः) चित्त को (कलुषयताम्) कलुषित करने वाले (अवधीनां) शास्त्रों का (श्रुतिः) सुनना (दुःश्रुतिः) दुःश्रुति नामका अनर्थदण्ड (भवति) है।

टीकार्थ—खेती आदि करना आरम्भ है। और संग-परिग्रह है। इन दोनों का प्रतिपादन वार्तानीति में किया जाता है। 'कृषिः पशुपाल्यं-वाणिज्यं च वार्ता' इति अभिधानात् अर्थात् खेती, पशुपालन और व्यापार यह सब वार्ता है, ऐसा कहा गया है। अर्थशास्त्र को वार्ता कहते हैं। साहस का अर्थ अत्यन्त आश्चर्यजनक कार्य है। जिसका वर्णन वीर पुरुषों की कथाओं में किया जाता है। अद्वैतवाद तथा क्षणिकवाद मिथ्यात्व हैं। इनका वर्णन प्रमाणविरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक शास्त्रों के द्वारा किया गया है। द्वेष—द्वेषीकरण-द्वेष को उत्पन्न करने वाले शास्त्रों के द्वारा कहा जाता है। वशीकरण आदि शास्त्रों के द्वारा राग उत्पन्न किया जाता है। मद-अहंकार है। इसकी उत्पत्ति 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः' वर्णों का गुरु ब्राह्मण है इत्यादि ग्रन्थों से जानी जाती है। मदन का अर्थ काम है। यह रतिगुण विलासपताका आदि शास्त्रों से उत्कट होता है। इस प्रकार आरम्भादि के द्वारा चित्त को कलुषित करने वाले शास्त्रों का श्रवण करना दुःश्रुतिनामक अनर्थदण्ड है। इसका त्याग करना दुःश्रुति अनर्थदण्डव्रत है।

विशेषार्थ—कुछ शास्त्र ऐसे होते हैं जिनमें मुख्यरूप से काम, भोग सम्बन्धी या हिंसा चोरी आदि का ही कथन रहता है। जैसे—वात्स्यायन का काम सूत्र है। कोकशास्त्र, जासूसी उपन्यास, वशीकरण आदि तन्त्रशास्त्र तथा आरम्भ-परिग्रह विषयकशास्त्र इनके सुनने से मन विकृत होता है, पढ़कर काम विकार उत्पन्न होता है बुरी आदतें पड़ जाती हैं। अतः ऐसी पुस्तकों को या शास्त्रों को पढ़ना दुःश्रुति अनर्थदण्ड है। व्रती मनुष्य को ऐसे शास्त्रों का पठन-मनन नहीं करना चाहिए।

जो खोटे मार्ग का निराकरण करके सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग में अग्रसर करे, तथा आत्मा को परमात्मा बना सके ऐसे सच्चे शास्त्रों का पठन-श्रवण-मनन ही श्रेयस्कर है। कुशास्त्रों में बुद्धि का दुरुपयोग करने से मनुष्य आरम्भ, परिग्रह में फँसकर अपना

पतन करता चला जाता है, इसलिए व्रती मनुष्यों को इन सबका त्याग करना चाहिए ॥ ३३ ॥ ७९ ॥

अधुना प्रमादचर्यास्वरूपं निरूपयन्नाह--

क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदं ।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ॥३४॥ ३५॥

'प्रभाषन्ते' प्रतिपादयन्ति । कां ? प्रमादचर्यां । किं तदित्याह--'क्षितीत्यादि'। क्षितिश्च सलिलं च दहनश्च तेषामारम्भं क्षितिखननसलिलप्रक्षेपणदहनप्रज्वलनपवन-करणलक्षणं । किं विशिष्टं ? 'विफलं' निष्प्रयोजनं । तथा वनस्पतिच्छेदं' विफलं । न केवलमेतदेव किन्तु 'सरणं' 'सारणमपि च' सरणं स्वयं निष्प्रयोजनं पर्यटनं सारणमन्यस्य निष्प्रयोजनं गमनप्रेरणं ॥३४॥

अब प्रमादचर्या अनर्थदण्ड का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं--

(विफलं) निष्प्रयोजन (क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं) पृथिवी, पानी अग्नि और वायु का आरम्भ करना, (वनस्पतिच्छेदं) वनस्पति का छेदना, (सरणं) स्वयं घूमना (च) और (सारणं अपि) दूसरों को घुमाना भी, इस सबको (प्रमादचर्यां) प्रमादचर्या नामका अनर्थदण्ड कहते हैं । इससे निवृत्त होने को प्रमादचर्या अनर्थदण्ड-व्रत कहते हैं ।

टीकार्थ--प्रमादचर्या का प्रतिपादन करते हैं, तद्यथा--निष्प्रयोजन-पृथ्वी को खोदना, पानी छिड़कना, अग्नि जलाना, हवा करना, निष्कारण फल-फूलादि वनस्पति को तोड़ना, इतना ही नहीं किन्तु निष्प्रयोजन स्वयं घूमना और दूसरों को घुमाना यह सब प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड है । इससे निवृत्त होना प्रमादचर्या अनर्थदण्डव्रत है ।

विशेषार्थ--बिना प्रयोजन भूमि को नहीं खोदना चाहिए । बिना प्रयोजन जल का दुष्प्रयोग नहीं करना चाहिए । जैसे जलाशयों में घंटों तक तैरते रहना या जल को भूमि पर डालते रहना, अग्नि को निष्प्रयोजन जलाते रहना, अग्नि को पानी से बुझा देना, पंखा आदि चलाकर वायुकायिक जीवों को त्रास देना अथवा आती हुई वायु

को द्वार वगैरह बन्द करके रोकना। अनावश्यक वनस्पति जीवों का घात करना, निष्प्रयोजन स्वयं घूमना और दूसरों को घुमाना आदि सभी कार्य प्रमादचर्या अनर्थदण्ड में गर्भित हैं। यद्यपि अणुव्रती मनुष्य आवश्यकतानुसार ये सब कार्य करता है, क्योंकि वह स्थावर हिंसा का त्यागी नहीं है। तथापि 'मुझ से स्थावर जीवों का अनावश्यक घात न हो' इस बात का उसे सदा ध्यान रखना चाहिए। 'प्रमादात् चर्या प्रमादचर्या' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जितने भी कार्य प्रमादपूर्वक किये जाते हैं, वे सब प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड में ही गर्भित हैं, व्रती मनुष्य इन सब कार्यों का त्याग करता है तथा प्रमादचर्या अनर्थदण्डव्रत को धारण करता है ॥३४॥८०॥

एवमनर्थदण्डविरतिव्रतं प्रतिपाद्येदानीं तस्यातीचारानाह—

कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः ॥३५॥ ३८१॥

'व्यतीतयो'ऽतिचाराः भवन्ति। कस्य ? 'अनर्थदण्डकृद्विरतेः' अनर्थं निष्प्रयोजनं दण्डं दोषं कुर्वन्तीत्यनर्थदण्डकृतः पापोपदेशादयस्तेषां विरतिर्यस्य तस्य। कति ? 'पंच'। कथमित्याह–'कन्दर्पेत्यादि' रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रो भण्डिमाप्रधानो वचनप्रयोगः कन्दर्पः, प्रहासो भंडिमावचनं भंडिमोपेतकायव्यापारप्रयुक्तं कौत्कुच्यं, धाष्टर्यप्रायं बहुप्रलापित्वं मौखर्यं, यावतार्थेनोपभोगपरिभोगौ भवतस्ततोऽधिकस्य करणमतिप्रसाधनम्, एतानि चत्वारि, असमीक्ष्याधिकरणं पंचमं असमीक्ष्य प्रयोजनमपर्यालोच्य आधिक्येन कार्यस्य करणमसमीक्ष्याधिकरणं ॥३५॥

इस प्रकार अनर्थदण्डविरतिव्रत का निरूपण कर अब उसके अतिचार कहते हैं—

(कन्दर्पं) राग की तीव्रता से हास्य-परिहास में भद्दे वचन बोलना, (कौत्कुच्यं) शरीर की कुचेष्टा करना (मौखर्यं) बकवास करना (अतिप्रसाधनं) भोगोपभोग की सामग्री का अधिक संग्रह करना (च) और (असमीक्ष्य) बिना प्रयोजन के ही (अधिकरणं) किसी कार्य का अधिक आरम्भ करना ये (पञ्च) पाँच (अनर्थदण्डकृद्विरतेः) अनर्थदण्डविरतिव्रत के (व्यतीतयः) अतिचार हैं।

टीकार्थ—निष्प्रयोजन दोष करने को अनर्थदण्ड कहते हैं। इनके त्याग को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। इसके पांच अतिचार हैं, यथा–यद्यपि कन्दर्प का अर्थ काम है,

किन्तु यहां पर राग के उद्रेक से हास्य मिश्रित काम को उत्तेजित करने वाले अश्लील भद्दे वचन बोलना कन्दर्प कहा गया है। भद्दे वचन बोलते हुए हाथ आदि अंगों से शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है। धृष्टता से निष्प्रयोजन बहुत बोलना मौखर्य कहलाता है। जितने पदार्थों से अपने भोगोपभोग की पूर्ति होती है उससे अधिक संग्रह करना अतिप्रसाधन कहलाता है अथवा बिना प्रयोजन ही अधिक कार्य करना असमीक्ष्याधिकरण कहलाता है। ये पांच अनर्थदण्डव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ—कामविकार उत्पन्न करने वाले एवं राग की तीव्रता से हँसी से मिश्रित असभ्यवचनों का प्रयोग करते रहना कन्दर्प है। मित्रों की गोष्ठी में बैठकर लोग अश्लील अभद्रवचनों का प्रयोग करते रहते हैं, हँसी-ठट्ठा आदि से अपनी भाषा का दुरुपयोग करते हैं और विकारी भावों की वृद्धि करते हुए अशुभास्रव करते हैं। तथा भौंह, आँख, ओष्ठ, नाक, हाथ, पैर और मुख के विकारों के द्वारा कुचेष्टा के भावों को व्यक्त करते रहते हैं। बिना विचारे अण्ट-सण्ट बोलना अर्थात् धृष्टता को लिए हुए असत्य और असम्बद्ध बकवास करना, बिना विचारे कोई भी कार्य करना, जैसे—तृणों की चटाई बनाने वालों से कहना बहुतसी चटाई लाना मुझे जितनी आवश्यकता होगी मैं खरीद लूंगा, बाकी भी बिकवा दूंगा, इस प्रकार बिना विचारे बहुत आरम्भ करना, बहुतसी ईंटें पकवा लेना, लकड़ी कटवाना, भोगोपभोग के पदार्थों का अनावश्यक संग्रह करना, यदि स्नान के लिए नदी-तालाब पर जावे तो तेल साबुन आदि सामग्री इतनी अधिक ले जाना की स्वयं भी उसको काम में लेवे और दूसरे लोग भी उसका उपयोग करके जीव वध करें, ऐसा करना उचित नहीं है। इन क्रियाओं से व्रत मलिन होता है। इसलिए इनको अतिचार कहा है। उमास्वामी आचार्य के 'उपभोग-परिभोगानर्थक्य' के स्थान पर समन्तभद्रस्वामी ने 'अतिप्रसाधन' शब्द का प्रयोग किया है किन्तु इसमें शब्द भेद है, अर्थ में कोई भेद नहीं है ॥३५॥८१॥

साम्प्रतं भोगोपभोगपरिमाणलक्षणं गुणव्रतमाख्यातुमाह—

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥३६॥८२॥

'भोगोपभोगपरिमाणं' भवति। किं तत् ? 'यत्परिसंख्यानं' परिगणनं। केषां ? 'अक्षार्थाना' मिन्द्रियविषयाणां। कथम्भूतानामपि तेषां ? 'अर्थवतामपि' सुखादिलक्षण

प्रयोजनसम्पादकानामपि अथवाऽर्थवतां सग्रन्थानामपि श्रावकाणां । तेषां परिसंख्यानं । किमर्थं ? 'तनूकृतये' कृशतरत्वकरणार्थं । कासां ? 'रागरतीनां' रागेण विषयेषु रागोद्रेकेण रतयः आसक्तयस्तासां । कस्मिन् सति ? अवधौ विषयपरिमाणे ।।३६।।

अब, भोगोपभोगपरिमाणनामक गुणव्रत का कथन करते हैं—

(अवधौ) विषयों के परिमाण के भीतर (रागरतीनां) विषय सम्बन्धी राग से होने वाली आसक्तियों को (तनूकृतये) कृश करने के लिए (अर्थवतामपि) प्रयोजन भूत भी (अक्षार्थानां) इन्द्रिय विषयों का [परिसंख्यानं] परिगणन करना–सीमा निर्धारित करना [भोगोपभोगपरिमाणं] भोगोपभोगपरिमाण नामका गुणव्रत है ।

टीकार्थ—परिग्रह परिमाणव्रत में परिग्रह की जो सीमा निर्धारित की थी उसमें भी इन्द्रियविषयों का जो परिसंख्यान–नियम किया जाता है वह भोगोपभोग परिमाणव्रत है । यहां पर टीकाकार ने 'अर्थवतां' का अर्थ ऐसा भी किया है कि अर्थ-परिग्रह रहित मुनि तो सुखादि लक्षणरूप आवश्यक प्रयोजनक वस्तुओं का परिगणन करते ही हैं किन्तु अर्थवान् गृहस्थ श्रावक भी राग के तीव्र उद्रेक से होने वाली इंद्रिय-विषयों में तीव्र आसक्ति को अत्यन्त कृश करने के लिए भोग सामग्री की नियमरूप परिगणना करते हैं । यह भोगोपभोग परिमाण नामक गुणव्रत है ।

विशेषार्थ—परिग्रह परिमाणव्रत में भोगोपभोग की वस्तुओं का परिमाण किया था, उनमें आसक्ति को और भी कम करने के लिए भोगोपभोगपरिमाणव्रत धारण किया जाता है । भोगोपभोग परिमाणव्रत में भोग और उपभोग का परिमाण दो रूपों से किया जाता है–एक विधिरूप से दूसरा निषेधरूप से । मैं भोग और उपभोग की इतनी वस्तुओं का इतने समय तक सेवन करूंगा, यह विधिरूप है । और मैं भोगोपभोग की इन वस्तुओं का इतने समय तक सेवन नहीं करूंगा यह निषेधरूप है । जो एक बार ही सेवन किया जाता है, एक बार भोगकर पुनः नहीं भोगा जाता, उसे भोग कहते हैं । जैसे–भोजन, फूलमाला आदि । तथा जिसका बार-बार सेवन किया जाता है अर्थात् एक बार सेवन करके पुनः सेवन किया जाता है वह उपभोग है । जैसे–वस्त्रादि । एक, दो, दिन या मास आदि परिमितकाल के लिए भोग-उपभोग के त्याग को नियम कहते हैं, और मरणपर्यन्त तक के त्याग को यम कहते हैं ।

पाँचों इन्द्रियों के विषयभूत जो पदार्थ हैं वे भोग-उपभोग नाम से कहे जाते हैं। विषयभोग की तीव्र अभिलाषारूप राग से विषयों के प्रति आसक्ति बढ़ती है। उस आसक्ति को कम करने के लिये व्रती मनुष्य अभक्ष्य, अनुपसेव्य वस्तुओं का तो जीवनपर्यन्त के लिये त्याग करता है। और जो भक्ष्य तथा उपसेव्य हैं उनका जीवन-पर्यन्त के लिए या कुछ काल के लिए त्याग करता है। त्रसघात, बहुघात, प्रमादविषय अनिष्ट और अनुपसेव्य इन पांच प्रकार के अभक्ष्य पदार्थों के त्यागरूप व्रतों का भी अन्तर्भाव इस व्रत में हो जाता है। भोगोपभोग परिमाणव्रती को मांस, मधु और मदिरा की तरह जिनमें त्रस जीवों का घात होता है या बहुत जीवों का घात होता हो या जिसके सेवन से प्रमाद सताता हो, ऐसे समस्त पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए और जिसमें त्रस घात आदि नहीं होता हो किन्तु अपने को इष्ट नहीं है या प्रकृति के अनुकूल नहीं है एवं उच्च कुल वालों के सेवन के अयोग्य हैं, उन्हें भी छोड़ना चाहिए क्योंकि व्रत से इष्ट फल की प्राप्ति होती है।

पं० आशाधरजी ने कहा है कि जिस प्रकार त्रसघात का आश्रय होने से मांस त्यागा जाता है, बहुघात का आश्रय होने से मधु का त्याग किया जाता है और प्रमाद का आश्रय होने से मद्य त्यागा जाता है; वैसे ही जिसमें त्रसघात आदि हो उन अन्य पदार्थों को भी छोड़ देना चाहिए। जैसे—कमल की नाल है जिसमें बाहर से आने वाले जीव और सम्मूर्च्छन जीव रहते हैं। तथा अन्य भी बहुत जीवों के स्थानभूत केतकी के फूल, नीम के फूल, सहजना के फूल, अरणी के फूल तथा महुआ आदि फल नहीं खाने चाहिए। बहुघात वाले गुरुच, मूली, लहसुन, अदरख आदि तथा नशा पैदा करने वाले भांग, धतूरा आदि भी सेवन नहीं करने चाहिए। धनोपार्जन के लिए क्रूर कर्म वाले व्यापारों को भी त्याज्य समझकर छोड़ना चाहिए। जिसमें त्रसघात आदि नहीं है, किन्तु अपने को इष्ट नहीं है, वह अपनी प्रकृति के प्रतिकूल नहीं भी है तो भी उसे सदा के लिए छोड़ देना चाहिए। तथा जो इष्ट होने पर भी शिष्ट पुरुषों के सेवन के अयोग्य हैं जैसे—चित्र-विचित्रवस्त्र, विकृत वेशभूषा, आभूषण आदि लार, मूत्र विष्टा, कफ आदि, इनका भी त्याग करना चाहिए। अमृतचन्द्राचार्य ने अनन्तकाय वनस्पति के त्याग पर जोर दिया है। क्योंकि एक के मारने पर सब मर जाते हैं। सोमदेवसूरि ने भी अनन्तकाय वाली लता, कन्द आदि का निषेध किया है। व्रत का उद्देश्य विषय सम्बन्धी राग को घटाने का है। ॥३६॥८२॥

अथ कोभोगः कश्चोपभोगोयत्परिमाणं क्रियते इत्याशंक्याह—

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पाञ्चेन्द्रियो विषयः ॥३७॥ ३८॥

पंचेन्द्रियाणामयं 'पाञ्चेन्द्रियो' विषयः । 'भुक्त्वा' 'परिहातव्य'स्त्याज्यः स 'भोगो'ऽशनपुष्पगन्धविलेपनप्रभृतिः । यः पूर्वं भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः स 'उपभोगो' वसनाभरणप्रभृतिः वसनं वस्त्रम् ॥३७॥

अब भोग क्या है ? और उपभोग क्या है ? जिसका कि परिमाण किया जाता है ? ऐसी आशंका होने पर उनके लक्षण कहते हैं—

(अशनवसनप्रभृतिः) भोजन और वस्त्र को आदि लेकर (पाञ्चेन्द्रियः) पञ्चेन्द्रियों सम्बन्धी जो (विषयः) विषय (भुक्त्वा) भोगकर (परिहातव्यः) छोड़ देने के योग्य है वह (भोगः) भोग है (च) और जो (भुक्त्वा) भोगकर (पुनः भोक्तव्यः) पुनः भोगने योग्य है वह (उपभोगः) उपभोग है ।

टीकार्थ—जो पदार्थ एक बार भोगकर छोड़ दिये जाते हैं वे पुनः काम में नहीं आते, ऐसी भोजन पुष्प गन्ध और विलेपन आदि वस्तुएँ भोग कहलाती हैं तथा जो पहले भोगी हुई वस्तु बार-बार भोगने में आवे, वह उपभोग है जैसे—वस्त्र, आभूषण आदि । इन भोग और उपभोग की वस्तुओं का नियम करना भोगोपभोग परिमाणव्रत कहलाता है ।

विशेषार्थ—'भुज्यते सकृत् सेव्यते इति भोगः' जो एक बार सेवन में आवे, वह भोग है जैसे भोजनादि । और 'उपभुज्यते भूयो भूयः सेव्यते स उपभोगः' जो अनेक बार सेवन में आवे, वह उपभोग है जैसे—वस्त्राभरण आदि ॥३७॥८३॥

मध्वादिर्भोगरूपोऽपि त्रसजन्तुवधहेतुत्वादणुव्रतधारिभिस्त्याज्य इत्याह—

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये ।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥३८॥ ३९॥

'वर्जनीयं' । किं तत् ? 'क्षौद्रं' मधु । तथा 'पिशितं' । किमर्थं ? 'त्रसहति-परिहरणार्थं' त्रसानां द्वीन्द्रियादीनां हतिर्वधस्तत्परिहरणार्थं । तथा 'मद्यं च' वर्जनीयं ।

किमर्थं ? 'प्रमादपरिहृतये' माता भार्येति विवेकाभावः प्रमादस्तस्य परिहृतये परिहारार्थं । कैरेतद्वर्जनीयं ? 'शरणमुपयातैः' शरणमुपगतैः । कौ ? 'जिनचरणौ' श्रावकैस्तत्त्याज्यमित्यर्थः ॥३८॥

मधु आदिक पदार्थ भोगरूप होने पर भी त्रसजीवों के घातका कारण होने से अणुव्रतधारियों के द्वारा छोड़ने योग्य हैं, यह कहते हैं—

(जिनचरणौ) जिनेन्द्र भगवान के चरणों की (शरणम्) शरण को (उपयातैः) प्राप्त हुए पुरुषों के द्वारा (त्रसहतिपरिहरणार्थं) त्रस जीवों की हिंसा का परिहार करने के लिए (क्षौद्रं) मधु और (पिशितं) मांस (च) तथा (प्रमादपरिहृतये) प्रमाद का परिहार करने के लिए (मद्यं) मदिरा (वर्जनीयं) छोड़ने योग्य है ।

टीकार्थ—जिनेन्द्र भगवान के चरणों की शरण लेने वाले श्रावक को द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों की हिंसा से बचने के लिए मधु और मांस का त्याग करना चाहिए । तथा प्रमाद से बचने के लिए मदिरा-शराब का त्याग करना चाहिए । यह माता है या स्त्री इस प्रकार के विवेक के अभाव को प्रमाद कहते हैं ।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार ने भोगोपभोग परिमाणव्रत का कथन करते हुए कहा है कि जिन्होंने जिनेन्द्र भगवान के चरणों की शरण ली है, उनको त्रसघात से बचने के लिए मांस और मधु तथा प्रमाद से बचने के लिए मद्यपान छोड़ना चाहिए । पूज्यपाद स्वामी ने भी मधु, मद्य और मांस को सदा छोड़ने के लिए कहा है । चारित्रसार में भी ऐसा ही कहा गया है । किन्तु अमृतचन्द्राचार्य ने अपने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में भोगोपभोगपरिमाणव्रती से इस तरह का कोई त्याग नहीं कराया है । और यह उचित भी है क्योंकि प्रारम्भ में ही जैनधर्म धारण करने वाले को अष्टमूलगुणों के धारण करते समय ही मद्य, मांस और मधु का त्याग हो जाता है । क्षुद्रा मधुमक्खी को कहते हैं, उसके द्वारा रचा हुआ पदार्थ क्षौद्र या मधु कहलाता है । इसमें अनन्त त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं । और पिशित-मांस द्वीन्द्रियादिक जीवों का कलेवर है इसकी कच्ची और पक्की सभी अवस्थाओं में अनन्त त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं, उसके सेवन करने से उन सभी जीवों का घात होता है । इसी प्रकार मद्य भी त्रसहिंसा का कारण है और उसके सेवन से हित-अहित का विवेक समाप्त हो जाता है, इसलिए श्रावक को इन सभी को जीवन पर्यन्त के लिए छोड़ना चाहिए ॥३८॥८४॥

तथैतदपि तैस्त्याज्यमित्याह—

अल्पफल बहुविघातान्मूलकमार्द्राणि श्रृंगवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥३६॥४०॥

'अवहेयं' त्याज्यं । किं तत् ? 'मूलकं' । तथा 'श्रृंगवेराणि' आर्द्रकाणि । किं विशिष्टानि ? 'आर्द्राणि' अशुष्काणि । तथा नवनीतं च । निम्बकुसुममित्युपलक्षणं सकलकुसुमविशेषाणां तेषां । तथा कैतकं केतक्या इदं कैतकं गुधरा इत्येवं, इत्यादि सर्वमवहेयं । 'कस्मात् अल्पफलबहुविघातात्' । अल्पं फलं यस्यासावल्पफल:, बहूनां त्रसजीवानां विघातो विनाशो बहुविघात: अल्पफलश्चासौ बहुविघातश्च तस्मात् ॥३६॥

इसके सिवाय श्रावकों के द्वारा और भी कुछ वस्तुएँ त्यागने योग्य हैं, यह कहते हैं—

(अल्पफलबहुविघातात्) अल्पफल और बहुत त्रस जीवों का विघात होने से (मूलकं) मूली, (आर्द्राणि) गीला (श्रृंगवेराणि) अदरक (नवनीतनिम्बकुसुमं) मक्खन, नीम के फूल और (कैतकं) केतकी-केवड़ा के फूल तथा (इति एवं) इसी प्रकार के अन्य पदार्थ भी श्रावकों के द्वारा (अवहेयम्) छोड़ने योग्य हैं ।

टीकार्थ—मूली, गीला अर्थात् बिना सूखा अदरक तथा उपलक्षण से आलू, सकरकन्द, गाजर, अरबी इत्यादि मक्खन, नीम के फूल, उपलक्षण से सभी प्रकार के फूल तथा केवड़ा के फूल इसी प्रकार और भी अन्य ऐसे पदार्थ जिनके सेवन से फल तो अल्प हो और बहुत जीवों का घात हो, वे छोड़ने योग्य हैं ।

विशेषार्थ—जिन वस्तुओं के खाने से फल तो थोड़ा होता है अर्थात् जितना समय खाने में लगता है उतने समय तक ही स्वाद आता है, और त्रस जीवों का घात बहुत होता है वे तो त्याज्य हैं ही । परन्तु जिनके सेवन से अनन्त स्थावर काय का घात होता है ऐसे—'श्रृंगवेरमूलकहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमितितत्परिहार: श्रेयात्' अदरक, मूली, गीली हल्दी, घुइयाँ आदि भी त्याज्य हैं । 'आर्द्राणि' शब्द का अर्थ अशुष्काणि जानना चाहिए इससे यह ज्ञात होता है कि जो अदरक स्वत: स्वभाव से सूखकर सौंठ रूप में परिवर्तित हो गया है, उसे व्रती मनुष्य ले सकता है । मूली, अदरक, आलू, गाजर, सकरकन्द आदि में

अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर अवगाहना के धारक एक निगोद जीव के शरीर में सिद्धों तथा भूतकाल के समयों से अनन्तगुणे जीवों का निवास है। जिह्वा इन्द्रिय के अल्पस्वाद के लिए इन सब अनन्तजीवों का घात हो जाता है। मक्खन-जो दूध या दही को मथकर निकाला हुआ लोनी कहलाता है, इसमें भी अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् उसी जाति के असंख्य त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार नीम आदि के फूलों में भी त्रस जीवों का निवास है, केवड़ा आदि के फूलों में भी चलते उड़ते हुए अनेक त्रस जीव दिखाई देते हैं इसलिये श्रावकों द्वारा ये सभी वस्तुएँ त्याज्य हैं ।।३९।।८५।।

प्रासुकमपि यदेवंविधंतत्त्याज्यमित्याह—

यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ।।४०।। ८६।।

'यदनिष्टं' उदरशूलादिहेतुतया प्रकृतिसात्म्यकं यन्न भवति 'तद्व्रतयेत्' व्रतनिवृत्तिं कुर्यात् त्यजेदित्यर्थः। न केवलमेतदेव व्रतयेदपितु 'यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्'। यच्च यदपि गोमूत्रकरभदुग्ध-शंखचूर्ण-ताम्बूलोद्गाललाला-मूत्र-पुरीष-श्लेष्मादिक-मनुपसेव्यं प्रासुकमपि शिष्टलोकानामास्वादनायोग्यं एतदपि जह्यात् व्रतं कुर्यात्। कुत एतदित्याह–अभिसन्धीत्यादि–अनिष्टतया–अनुपसेव्यतया च व्यावृत्तेर्योग्यविषयादभिसन्धिकृताऽभिप्रायपूर्विका या विरतिः सा यतो व्रतं भवति ।।४०।।

जो पदार्थ प्रासुक होने पर भी इस प्रकार का है–अनिष्ट और अनुपसेव्य है, वह छोड़ने योग्य है, यह कहते हैं—

(यत्) जो वस्तु (अनिष्टं) अनिष्ट-अहितकर हो (तद्) उसे (व्रतयेत्) छोड़े (च) और (यत्) जो (अनुपसेव्यं) सेवन करने योग्य न हो (एतदपि) यह भी (जह्यात्) छोड़े क्योंकि (योग्यात्) योग्य (विषयात्) विषय से (अभिसन्धिकृता) अभिप्रायपूर्वक की हुई (विरतिः) निवृत्ति (व्रतं) व्रत (भवति) होती है।

टीकार्थ—जो वस्तु भक्ष्य होने पर भी अनिष्ट, अहितकर हो प्रकृतिविरुद्ध हो अर्थात् उदरशूल आदि का कारण हो, उसे छोड़ देना चाहिए। इतना ही नहीं किन्तु गोमूत्र, ऊंटनी का दूध, शंखचूर्ण, पान का उगाल, लार, मूत्र, पुरीष तथा श्लेष्मादि वस्तुएं अनुपसेव्य हैं। शिष्ट पुरुषों के सेवन करने योग्य नहीं हैं इसलिए इनका भी

त्याग करना चाहिए। क्योंकि अनिष्टपने और अनुपसेव्यपने के कारण छोड़ने योग्य विषय से अभिप्रायपूर्वक निवृत्ति होने को व्रत कहते हैं।

विशेषार्थ—समन्तभद्रस्वामी ने कहा है कि जो अनिष्ट हो उसका व्रत लेवे अर्थात् त्याग कर देवे। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की स्वास्थ्य प्रकृति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, किसी मनुष्य के लिये कोई वस्तु लाभदायक है तथा किसी अन्य के लिए वही हानिकारक है। इस प्रकार जो वस्तु भक्ष्य है, त्रस-स्थावर जीवों के घात से रहित है किन्तु स्वास्थ्य के लिए हानि का कारण है, उस अनिष्ट वस्तु को व्रती मानव छोड़ देवे।

पूज्यपाद स्वामी ने भी रत्नकरण्ड के अनुसार ही कथन किया है। किन्तु अनिष्ट को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सवारी और आभरण आदि में मुझे इतना ही इष्ट है, इस तरह अनिष्ट से निवृत्त होना चाहिए। यह निवर्तन कुछ काल के लिए भी होता है और जीवनपर्यन्त के लिए भी होता है। **चारित्रसार** में पूज्यपाद का ही अनुसरण है। **सर्वार्थसिद्धि** में अनुपसेव्य की चर्चा नहीं है। चारित्रसार में चित्रविचित्र वेष, वस्त्र आभरण आदि को अनुपसेव्य कहा है। **अमृतचन्द्राचार्य** ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में अनन्तकाय को और मक्खन को त्याज्य कहा है। और लिखा है कि जो परिमित भोगों से सन्तुष्ट होकर बहुत से भोगों को छोड़ देता है वह बहुतसी हिंसा से विरत होता है। अतः उसके विशिष्ट अहिंसा होती है। **सोमदेव** ने भी अपने उपासकाध्ययन में प्याज, केतकी और नीम के फूल तथा सूरण को आजन्म त्याज्य कहा है, इस प्रकार जो त्यागने योग्य वस्तु का अभिप्रायपूर्वक त्याग करता है, वही व्रती कहलाता है ॥ ४० ॥ ८६ ॥

तच्चद्विधाभिद्यतइति—

नियमो यमश्च विहितौ, द्वेधा भोगोपभोगसंहारात्।
नियमः परिमितकालो, यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥४१॥ ४2॥

'भोगोपभोगसंहारात्' भोगोपभोगयोः संहारात् परिमाणात् तमाश्रित्य। 'द्वेधा विहितौ' द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्वेधा व्यवस्थापितौ। कौ ? 'नियमो यमश्चेत्येतौ। तत्र को नियमः कश्च यम इत्याह—'नियमः' 'परिमितकालो' वक्ष्यमाणः परिमितः कालो यस्य भोगोपभोग संहारस्य स नियमः। 'यमश्च यावज्जीवं ध्रियते' ॥४१॥

आगे वह परित्याग दो प्रकार का होता है यह कहते हैं—

(भोगोपभोगसंहारात्) भोग और उपभोग के परिमाण का आश्रयकर (नियमः) नियम (च) और (यमः) यम (द्वेधा) दो प्रकार से (विहितौ) व्यवस्थापित हैं–प्रतिपादित हैं। उनमें (परिमितकालः) जो काल के परिमाण से युक्त है वह (नियमः) नियम है और जो (यावज्जीवं) जीवनपर्यन्त के लिए (ध्रियते) धारण किया जाता है वह (यमः) यम कहलाता है।

टीकार्थ—भोग और उपभोग का परिमाण यम और नियम के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। जो परिमाण परिमितकाल के लिए अर्थात् समय की मर्यादा लेकर किया जाता है, वह नियम कहलाता है। तथा जो जीवन पर्यन्त के लिए धारण किया जाता है वह यम कहा जाता है।

विशेषार्थ—व्रती मनुष्य को त्रसघात, बहुघात, प्रमादवर्धक, अनिष्ट और अनुपसेव्य इन पांच प्रकार के अभक्ष्यों का तो जीवनपर्यन्त के लिये ही त्याग कर देना चाहिए। यावज्जीवनत्याग को यम कहते हैं। तथा जो अभक्ष्य की कोटि में नहीं हैं उनका भी अपनी आसक्ति को कम करने के लिए और देश-काल की योग्यता को देखते हुए यम अथवा नियम रूप से त्याग करना चाहिए। इस प्रकार त्याग दो प्रकार का होता है ॥४१॥८७॥

तत्र परिमितकालेतत्संहारलक्षण नियमं दर्शयन्नाह—

भोजनवाहनशयनस्नानपवित्रांगरागकुसुमेषु।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु ॥४२॥ ८३॥
अद्य दिवा रजनी वा पक्षोमासस्तथर्त्तुरयनं वा।
इति कालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥४३॥ ८८॥

युगलं। नियमो भवेत्। किं तत् ? प्रत्याख्यानं। कया ? कालपरिच्छित्या। तामेव कालपरिच्छित्तिं दर्शयन्नाह–अद्येत्यादि, अद्येति। प्रवर्तमानघटिकाप्रहरादि लक्षणकालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं। तथा दिवेति। रजनी रात्रिरिति वा। पक्षइति वा। मास इति वा। ऋतुरिति वा मासद्वयं। अयनमिति वा षण्मासा। इत्येवं कालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं। केष्वित्याह—भोजनेत्यादि भोजनं च, वाहनं च घोटकादि, शयनं

च पल्यङ्कादि, स्थानं च पवित्राङ्गरागश्च पवित्रश्चासावङ्गरागश्च कुंकुमादिविलेपनं। उपलक्षणमेतदञ्जनतिलकादीनां पवित्रविशेषणं दोषापनयनार्थं तेनौषधाद्यङ्गरागो निरस्तः। कुसुमानि च तेषु विषयभूतेषु। तथा ताम्बूलं च वसनं च वस्त्रं भूषणं च कटकादि मन्मथश्च कामसेवा संगीतं च गीतनृत्यवादित्रत्रयं गीतं च केवलं नृत्यवाद्य रहितं तेषु च विषयेषु अद्येत्यादिरूपं कालपरिच्छित्त्या यत्प्रत्याख्यानं सनियम इति व्याख्यातम् ॥४२॥४३॥

भोगोपभोगपरिमाणव्रत में परिमितकालवाला जो नियमरूप त्याग है उसे दिखलाते हैं—

[भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु] भोजन, सवारी, शयन, स्नान, पवित्र अंगविलेपन, पुष्प [ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु] पान, वस्त्र, आभूषण, कामसेवन, संगीत और गीत के विषय में, [अद्य] आज, [दिवा] एक दिन [रजनी] एक रात [वा] अथवा [पक्षः] एक पक्ष [मासः] एक माह [तथा] और [ऋतुः] एक ऋतु-दो माह [वा] अथवा [अयनं] एक अयन छह माह [इति] इस प्रकार [कालपरिच्छित्या] समय के विभागपूर्वक [प्रत्याख्यानं] त्याग करना [नियमः] नियम [भवेत] होता है।

टीकार्थ—कालकी मर्यादा लेकर जो प्रत्याख्यान-त्याग किया जाता है वह नियम है। भोजन का अर्थ तो प्रसिद्ध है ही। घोड़ा आदि को वाहन कहते हैं। पलंग आदि शयन हैं। स्नान का अर्थ भी प्रसिद्ध ही है। केशर आदि के विलेपन को पवित्रांगराग कहते हैं। यह अंगराग अञ्जनतिलक आदि का उपलक्षण है। अंगराग के साथ जो पवित्र विशेषण है वह दोषों को दूर करने के लिए दिया है। इससे सदोष औषधि और अंगराग का निराकरण हो जाता है। कुसुम-फूल। ताम्बूल-पान। वसन-वस्त्र। कटक—आभूषण को कहते हैं। कामसेवन को मन्मथ कहते हैं। जिसमें गीत नृत्य और वादित्र तीनों हों वह संगीत कहलाता है। जिसमें मात्र गीत ही हो, नृत्य वादित्र न हो वह गीत कहलाता है। इन सभी के विषय में समय की मर्यादा लेकर जो त्याग किया जाता है वह नियम कहलाता है। प्रवर्तमान समय में एक घड़ी, एक पहर आदि काल की मर्यादा लेकर त्याग करना, जैसे आज का त्याग है। दिन-रात तो प्रसिद्ध हैं। पन्द्रह दिन को पक्ष कहते हैं। तीस दिन को महीना कहते हैं। दो महीने की एक ऋतु होती है। छह मास को अयन कहते हैं। इस प्रकार समय की अवधि रखकर भोजन आदि का त्याग करना नियम कहलाता है।

विशेषार्थ—व्रती श्रावक भोगोपभोग की वस्तुओं का नियम इस प्रकार लेवें—कि मैं आज एक बार या दो बार ही भोजन करूंगा। आज सवारी पर बैठकर सफर नहीं करूंगा। आज पलंग पर न सोकर नीचे जमीन पर ही सोऊँगा। आज स्नान एक बार ही करूँगा अथवा स्नान नहीं करूँगा। शरीर पर सुगन्धादि विलेपन का जीवनपर्यन्त त्याग करता हूँ। आज फूलों की माला नहीं पहनूंगा। मेरे पान खाने का आजीवन त्याग है। आज दिन में दो या चार वस्त्र ही पहिनूंगा। आज आभूषण बिलकुल ही नहीं पहिनूंगा। आज काम सेवन का त्याग है। आज गीत नृत्य वादित्रादि संगीत में नहीं जाऊँगा, नहीं करूंगा। इस प्रकार कुछ समय तक का या कुछ वस्तुओं का परिमाण करके त्याग करता है, वह नियम कहलाता है। अथवा इन्हीं वस्तुओं में से कुछ वस्तु का जीवनपर्यन्त त्याग किया जाता है वह यम कहलाता है ॥ ४२–४३ ॥ ८८–८९ ॥

भोगोपभोगपरिमाणस्येदानीमतिचारानाह—

विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषाऽनुभवौ ।
भोगोपभोगपरिमा व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥४४॥ ८५॥

भोगोपभोगपरिमाणं तस्य व्यतिक्रमा अतिचाराः पंच कथ्यन्ते। के ते इत्याह—विषयेत्यादि-विषय एव विषं प्राणिनां दाहसंतापादि विधायित्वात् तेषु ततोऽनुप्रेक्षा उपेक्षायास्त्यागस्याभावोऽनुपेक्षा आदर इत्यर्थः। विषयवेदनाप्रतिकारार्थोहि विषयानुभवस्तस्मात्तत्प्रतीकारे जातेऽपि पुनर्यत्संभाषणालिंगनाद्यादरः सोऽत्यासक्तिजनकत्वादतीचारः। अनुस्मृतिस्तदनुभवात्प्रतीकारे जातेऽपि पुनर्विषयाणां सौन्दर्यसुखसाधनत्वादनुस्मरणमत्यासक्तिर्हेतुत्वादतीचारः। अतिलौल्यमतिगृद्धिस्तत्प्रतिकार जातेऽपि पुनः पुनस्तदनुभवाकांक्षेत्यर्थः। अतितृषाभावि भोगोपभोगादेरतिगृद्धया प्राप्त्याकांक्षा। अत्यनुभवो नियतकालेऽपि यदा भोगोपभोगावनुभवति तदाऽत्यासक्त्यानुभवति न पुनर्वेदनाप्रतीकारतयाऽतोऽतिचारः॥ ४४ ॥

इतिप्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां
तृतीय परिच्छेदः ॥ ३ ॥

आगे भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार कहते हैं—

[विषयविषतः] विषयरूपी विष से [अनुपेक्षा] उपेक्षा नहीं होना अर्थात् उसमें आदर रखना, [अनुस्मृतिः] भोगे हुए विषयों का बार-बार स्मरण करना, [अतिलौल्यं] वर्तमान विषयों में अधिक लम्पटता रखना, [अतितृषानुभवौ] आगामी विषयों की अधिक तृष्णा रखना और वर्तमान विषय का अत्यन्त आसक्ति से अनुभव करना [एते] ये [पञ्च] पांच [भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः] भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार [कथ्यन्ते] कहे जाते हैं।

टीकार्थ—भोगोपभोगपरिमाणव्रत के पांच अतिचारों का कथन करते हैं। इन्द्रियविषय विष के समान हैं। क्योंकि जिस प्रकार विष प्राणियों को दाह सन्ताप आदि उत्पन्न करता है उसी प्रकार विषय भी करते हैं। इस विषयरूप विष की उपेक्षा नहीं करना, उनके प्रति आदर बनाये रखना, **अनुपेक्षा** नामक अतिचार है। विषयों का उपभोग विषयसम्बन्धी वेदना के प्रतिकार के लिए किया जाता है। विषयों का उपभोग कर लेने पर, वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी पुनः संभाषण आलिंगन आदि में जो आदर होता है वह अत्यन्त आसक्ति का जनक होने से अतिचार माना जाता है। विषय अनुभव से वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी सौन्दर्य जनित सुख का साधन होने से विषयों का बार-बार स्मरण करना यह **अनुस्मृति** नामका अतिचार है। यह अत्यन्त आसक्ति का कारण होने से अतिचार है। विषयों में अत्यन्त गृद्धता रखना, विषयों का प्रतिकार हो जाने पर भी बार-बार उसके अनुभव की आकांक्षा रखना **अतिलौल्य** नामका अतिचार है। आगामी भोगों की प्राप्ति की अत्यधिक गृद्धता रखना **अतितृषा** नामका अतिचार है। नियतकाल में भी जब भोगोपभोग का अनुभव करता है तब अत्यन्त आसक्ति से करता है वेदना के प्रतिकार की भावना से नहीं, अतः यह **अतिअनुभव** नामका अतिचार है।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने इस व्रत के 'सचित्त-सम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुः पक्वाहाराः ॥७।२५॥' सूत्र से जो पांच अतिचार बताये हैं वे समन्तभद्रस्वामी द्वारा निर्दिष्ट अतिचारों से भिन्न हैं। अन्य आचार्यों ने भी आचार्य उमास्वामी का ही अनुसरण किया है। भोग और उपभोग की अनेक वस्तुएँ होने से सबके अतिचारों का निर्धारण असम्भव जानकर उन्होंने मात्र भोजन सम्बन्धी अतिचारों

का उल्लेख किया है। उस लक्षण से अन्य भोगोपभोग सम्बन्धी अतिचार भी संकेतित हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने भोगोपभोग सामान्य को लक्ष्य में रखकर उपर्युक्त अतिचारों का उल्लेख किया है। तत्त्वार्थ सूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट अतिचारों का खुलासा इस प्रकार है—जिसमें चेतना हो ऐसी हरितकाय वनस्पति को सचित्त कहते हैं। यद्यपि त्रसघात, बहुघात इत्यादि कथन से उसका निषेध हो जाने पर भी उसमें प्रवृत्ति होने पर व्रत के भंग की बात आती है, फिर भी व्रत की अपेक्षा रखते हुए ध्यान न रहने से सचित्त भोजन को अतिचार कहा है। वह प्रथम अतिचार है। सचित्तवृक्ष आदि से सम्बद्ध गोंद आदि को या पके फल आदि को अथवा जिसके अन्दर के बीज सचित्त हैं, ऐसे खजूर, आम आदि को **सचित्त सम्बद्ध** कहते हैं। सचित्त भोजन के त्यागी के द्वारा उनका भक्षण प्रमादादि के वश ही होता है। इसलिए सावद्य आहार में प्रवृत्ति होने से अतिचार है। यह सचित्तसम्बद्धाहार नामका दूसरा अतिचार है। सचित्त से मिले हुए को जिसे अलग करना शक्य नहीं है अर्थात् जिसमें सूक्ष्म जन्तु हैं उसे **सचित्त सम्मिश्र** कहते हैं। जैसे—अदरक, अनार के बीज और चिर्भटी आदि से मिले पूड़े या तिल से मिले हुए यवधान। यह सचित्तसम्मिश्र नामका तीसरा अतिचार है। जिसके अन्दर चावल का कुछ अंश कच्चा रह गया हो या अत्यन्त पक गया हो उसे **दुष्पक्व** कहते हैं। अधपके चावल, जौ, गेहूँ, चिउड़ा आदि खाने से पेट में आंव हो जाती है। अतः ऐसा भोजन इस लोक सम्बन्धी बाधा का कारण है तथा जितने अंश में वह सचेतन होता है उतने अंशों में परलोक का घात करता है। इस प्रकार यह दुष्पक्व नामक चतुर्थ अतिचार है। गरिष्ट पदार्थ का भक्षण **अभिषव** नामका पांचवां अतिचार है। वैद्यकशास्त्र के अनुसार भी इस तरह का भोजन अजीर्ण और आमकारक होता है। चारित्रसार में सचित्तादि आहार को अतिचार बतलाने में यह युक्ति दी है कि इनके भक्षण में सचित्त का उपयोग होता है अथवा वातादि का प्रकोप होता है। सोमदेव आचार्य ने भी पूर्ववत् ही अतिचार कहे हैं—जो भोजन कच्चा है। या जल गया है (दुष्पक्व) जिसको खाना निषिद्ध है। जो जन्तुओं से सम्बद्ध है, मिश्र है, और बिना देखा है ऐसे भोजन को खाना भोगोपभोगपरिमाणव्रत की क्षति का कारण है ॥ ४४ ॥ ९० ॥

इस प्रकार समन्तभद्रस्वामिविरचित उपासकाध्ययन की प्रभाचन्द्राचार्यविरचित टीका में तृतीय परिच्छेद (चारित्राधिकार) पूर्ण हुआ।

शिक्षावृताधिकारश्चतुर्थः

साम्प्रतं शिक्षाव्रतस्वरूपप्ररूपणार्थमाह—

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा ।
वैयावृत्यं शिक्षावृतानि चत्वारि शिष्टानि ॥१॥

शिष्टानि प्रतिपादितानि । कानि ? शिक्षाव्रतानि । कति ? चत्वारि । कस्मात् ? देशावकाशिक मित्यादिचतुःप्रकारसद्भावात् । वा शब्दोऽत्र परस्पर प्रकार समुच्चये । देशावकाशिकादीनां लक्षणं स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकारः करिष्यति ॥१॥

अब शिक्षाव्रत का स्वरूप व भेद बतलाते हैं—

(देशावकाशिकं) देशावकाशिक, (वा) और (सामायिकं) सामायिक, (प्रोषधोपवासः) प्रोषधोपवास (वा) और (वैयावृत्यं) वैयावृत्य ये (चत्वारि) चार (शिक्षाव्रतानि) शिक्षाव्रत (शिष्टानि) कहे गये हैं ।

टीकार्थ—शिक्षाव्रत के चार भेद हैं । १ देशावकाशिक, २ सामायिक, ३ प्रोषधोपवास और ४ वैयावृत्य । इन सबका लक्षण ग्रन्थकार स्वयं आगे कहेंगे । श्लोक में जो वा शब्द है वह परस्पर समुच्चय के लिए प्रयुक्त किया है ।

विशेषार्थ—'शिक्षायै व्रतं शिक्षाव्रतम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनसे मुनिव्रत धारण करने की शिक्षा मिले, उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं । यद्यपि सभी आचार्यों ने गुणव्रत तीन और शिक्षाव्रत चार कहे हैं । किन्तु उनके नाम निर्धारण में विभिन्न मत हैं । इन दोनों व्रतों को शीलव्रत भी कहते हैं । **पूज्यपाद स्वामी** ने शीलव्रत की रक्षा के लिए कहा है । **भगवती आराधना** में भी कहा है कि जैसे-धान्य की रक्षा के

लिए खेत के चारों तरफ बाड़ लगाना आवश्यक है, उसी प्रकार व्रतों की रक्षा के लिये शील भी अत्यावश्यक है। अमृतचन्द्राचार्य ने भी यही कहा है कि जैसे चार दीवारी नगर की रक्षा करती है वैसे ही सप्त शील व्रतों की रक्षा करते हैं। अतः सातों शील अणुव्रतों के रक्षक हैं।

स्थिति यह है कि दिग्व्रत और अनर्थदण्डव्रत को सब आचार्यों ने गुणव्रत माना है तथा सामायिक, प्रोषधोपवास और अथितिसंविभाग को वसुनन्दी के सिवाय सबने शिक्षाव्रत माना है। कुन्दकुन्द स्वामी ने देशावकाशिक का वर्णन गुणव्रतों में किया है। वे सल्लेखना को शिक्षाव्रत में लेते हैं। किन्तु अन्य आचार्य इसमें सहमत नहीं हैं क्योंकि सल्लेखना तो मरण के समय ली जाती है और शिक्षाव्रत सदा धारण किया जाता है। इसी दृष्टि से अन्य आचार्यों ने भी बारह व्रतों के अतिरिक्त सल्लेखना का वर्णन किया है। कुन्दकुन्द स्वामी का अभिप्राय सल्लेखना की भावना से जान पड़ता है, अर्थात् शिक्षाव्रती की ऐसी भावना रहनी चाहिए कि मैं जीवन के अन्त में सल्लेखना मरण करूँ, ऐसी भावना सदा रखी जा सकती है। इसी प्रकार समन्तभद्र-स्वामी ने भोगोपभोगव्रत को गुणव्रतों में लिया है। एक मत भोगोपभोगपरिमाण को गुणव्रत और देशव्रत को शिक्षाव्रत मानता है। इनमें से देशव्रत कुछ समय के लिए ही होता है। किन्तु भोगोपभोगपरिमाणव्रत जीवन पर्यन्त के लिए भी होता है ॥१॥९१॥

तत्र देशावकाशिकस्यतावल्लक्षणं—

देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेनदेशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥२॥

देशावकाशिकं देशे मर्यादीकृतदेशमध्येऽपि स्तोकप्रदेशेऽवकाशो नियतकालमव-स्थानं सोऽस्यास्तीति देशावकाशिकं शिक्षाव्रतं स्यात्। कोऽसौ ? प्रतिसंहारो व्यावृत्तिः। कस्य ? देशस्य। कथंभूतस्य ? विशालस्य बहोः। केन ? कालपरिच्छेदनेन दिवसादि-कालमर्यादया। कथं ? प्रत्यहं प्रतिदिनं। केषां ? अणुव्रतानां अणूनि सूक्ष्माणि व्रतानि येषां तेषां श्रावकाणामित्यर्थः ॥२॥

अब देशावकाशिक शिक्षाव्रत का लक्षण कहते हैं—

(अणुव्रतानां) अणुव्रत के धारक श्रावकों का (प्रत्यहं) प्रतिदिन (काल-परिच्छेदनेन) समय की मर्यादा के द्वारा (विशालस्य) विस्तृत (देशस्य) देश का (प्रतिसंहारः) संकोच किया जाना (देशावकाशिकं) देशावकाशिकव्रत (स्यात्) होता है।

टीकार्थ—मर्यादित देश में भी नियतकाल तक स्तोक स्थान में रहना देशावकाश है। यह देशावकाश जिस व्रत का प्रयोजन है वह देशावकाशिक शिक्षाव्रत है। दिग्व्रत में जीवनपर्यन्त के लिए जो विशाल क्षेत्र की सीमा बांधी थी, उसमें भी एक दिन, एक पहर आदि काल की मर्यादा लेकर और भी कम करना वह देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहलाता है। यह व्रत अणुव्रती श्रावकों के होता है। 'अणूनि सूक्ष्माणि व्रतानि येषां ते अणुव्रताः तेषाम्' इस प्रकार समास करने से अणुव्रतधारी श्रावक ही होते हैं।

विशेषार्थ— देशव्रती श्रावकों को प्रतिदिन कुछ समय की मर्यादा लेकर अपने जाने-आने की सीमा निर्धारित करनी चाहिए। क्योंकि दिग्व्रत में जो क्षेत्र की मर्यादा होती है वह विस्तृत होती है और जीवनपर्यन्त के लिए होती है। इसलिए अपनी आवश्यकता के अनुसार वह विशाल सीमा भी प्रतिदिन संकुचित करनी चाहिए ॥२।९२॥

अथ देशावकाशिकस्य का मर्यादाइत्याह—

गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥३॥

'तपोवृद्धाश्चिरन्तनाचार्या गणधरदेवादयः। सीम्नां स्मरन्ति मर्यादाः प्रतिपाद्यन्ते। सीम्नामित्यत्र 'स्मृत्यर्थदयीशांकर्म' इत्यनेन षष्ठी। केषां सीमाभूतानां? गृहहारिग्रामाणां हारिः कटकं। तथा क्षेत्रनदीदावयोजनानां च दावो वनं। कस्यैतेषां सीमाभूतानां? देशावकाशिकस्य देशनिवृत्तिव्रतस्य।

देशावकाशिकव्रत में किस प्रकार मर्यादा की जाती है, यह कहते हैं—

(तपोवृद्धाः) गणधरदेवादिक चिरन्तन आचार्य (गृहहारिग्रामाणां) घर, छावनी, गांव (च) और (क्षेत्रनदीदावयोजनानां) खेत, नदी, वन तथा योजनों को (देशावकाशिकस्य) देशावकाशिक शिक्षाव्रत की (सीम्नां) सीमा (स्मरन्ति) स्मरण करते हैं।

टीकार्थ—'तपोभिः वृद्धाः तपो वृद्धाः' इस निरुक्ति के अनुसार तप से वृद्ध चिरकालीन आचार्य गणधर देवादिक का ग्रहण होता है। उन्होंने देशावकाशिकव्रत की सीमा निर्धारित करते हुए घर, छावनी, गांव, खेत, नदी, बन और योजनों की सीमा

रूप से मर्यादित करना कहा है । यहां कर्म अर्थ में 'स्मृत्यर्थदयीशां कर्म' इस सूत्र से षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है । इस सूत्र का अर्थ है स्मृत्यर्थक धातुएँ तथा दय और ईश धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है ।

विशेषार्थ—कालका परिमाण करके नियत देश में सन्तोषपूर्वक रहने वाला श्रावक देशावकाशिकी कहा जाता है । समन्तभद्रस्वामी ने इस ग्रन्थ में कहा है कि दिग्व्रत में निश्चित किये गये विशाल देश का एवं कालका परिमाण करके प्रतिदिन अणुव्रतों को लेकर सीमित करना देशावकाशिकव्रत है । गृहों से सुशोभित ग्राम, क्षेत्र, नदी, जंगल या योजनों का प्रमाण यह देशावकाशिक की सीमा होती है । जैसे आज मैं अमुक व्यक्ति के घर जाऊंगा, अमुक गांव तक जाऊंगा, आज मैं अमुक व्यक्ति के खेत तक ही जाऊंगा, आगे नहीं । आज अमुक नदी तक ही जाऊगा, अमुक वन तक ही जाऊंगा, आज मैं पांच योजन अथवा दश योजन तक जाऊंगा, आगे नहीं । यह नियम श्रावकों को प्रतिदिन लेना चाहिए । आठ मील का एक योजन होता है । जैसे आज सड़क पर मील और किलोमीटर के पत्थर गड़े रहते हैं, वैसे ही पहले एक-एक योजन की दूरी पर योजनस्तम्भ रहते थे । और व्रती पुरुष योजनों की मर्यादा उनके आधार से कर लेता था । आज किलोमीटर के पत्थरों के आधार से सीमा निश्चित कर सकते हैं ।।३।।९३।।

एवं द्रव्यावधिं योजनावधिं चास्य प्रतिपाद्य कालावधिं प्रतिपादयन्नाह—

संवत्सरमृतुमयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च ।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ।।४।।

देशावकाशिकस्य कालावधिं कालमर्यादांप्राहुः । के ते ? प्राज्ञाः गणधरदेवादयः । किं तदित्याह संवत्सरमित्यादि–संवत्सरं यावदेतावत्येव देशे मयाऽवस्थातव्यं । तथा ऋतुमयनं वा यावत् । तथा मासचतुर्मासपक्षं यावत् । ऋक्षं च चन्द्रभुक्त्या आदित्यभुक्त्या वा इदं नक्षत्रं यावत् ।।४।।

इस प्रकार देशावकाशिकव्रत की द्रव्यावधि और योजनावधि को बताकर अब कालावधि का प्रतिपादन करते हैं—

[प्राज्ञाः] गणधरदेवादिक बुद्धिमान पुरुष [संवत्सरं] एक वर्ष [ऋतुं] एक ऋतु-दो मास [अयनं] एक अयन-छह मास, [मासचतुर्मासपक्षम्] एक माह, चार माह,

एक पक्ष, [च] और [ऋक्षं] एक नक्षत्र को, [देशावकाशिकस्य] देशावकाशिकव्रत की [कालावधिं] काल की मर्यादा [प्राहु:] कहते हैं ।

टीकार्थ – देशावकाशिकव्रत में काल की मर्यादा बतलाते हुए गणधरदेवादिक ने एक वर्ष, एक ऋतु, एक अयन, एक मास, चार मास, एक पक्ष अथवा एक नक्षत्र को काल की अवधि कहा है अर्थात् इस प्रकार देशावकाशिकव्रत में आने-जाने की काल-मर्यादा की जाती है, ऐसा कहा है ।

ऋक्ष-नक्षत्र दो प्रकार के होते हैं—चन्द्रभुक्ति की अपेक्षा और आदित्यभुक्ति की अपेक्षा । चन्द्रभुक्ति की अपेक्षा अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्र प्रतिदिन बदलते हैं । अर्थात् एक दिन में एक नक्षत्र रहता है । और सूर्यभुक्ति की अपेक्षा एक वर्ष में अश्विनी आदि सत्ताईस नक्षत्र क्रम से परिवर्तित होते हैं ।

विशेषार्थ— देशावकाशिकव्रत में क्षेत्र की अवधि को तो बतला दिया । अब काल की अवधि को बतलाते हैं ।

'मैं इस स्थान पर अमुक घर पर्वत या गांव आदि की सीमा तक इतने काल तक ठहरूंगा' ऐसा संकल्प करके मर्यादा के बाहर की तृष्णा को रोककर सन्तोषपूर्वक ठहरने वाला श्रावक देशावकाशिकव्रत का धारी होता है । काल की मर्यादा में जैसे— एक वर्ष तक, अथवा ऋतु—दो माह तक, एक अयन—छह माह तक, एक माह तक, चार माह तक, एक पक्ष तक अथवा अमुक नक्षत्र तक, इस स्थान से आगे नहीं जाऊंगा, इस प्रकार देशावकाशिकी समय की मर्यादा निश्चित करे । दिग्व्रत जीवनपर्यंत के लिए होता है, किन्तु देशावकाशिक काल की मर्यादा लेकर होता है । मर्यादा के बाहर स्थूल और सूक्ष्म पांचों पापों का त्याग हो जाने से देशावकाशिक के द्वारा महाव्रतों की सिद्धि होती है । पं आशाधरजी ने लिखा है–यह व्रत शिक्षाप्रधान होने से तथा परिमित काल के लिए होने से इसे शिक्षाव्रत कहा है । तत्त्वार्थसूत्र आदि में जो इसे गुणव्रत कहा है वह दिग्व्रत को संक्षिप्त करने वाला होने मात्र की विवक्षा लेकर कहा है । अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—दिग्व्रत में भी ग्राम, भवन, मोहल्ला आदि का कुछ समय के लिए परिमाण करना देशविरतिव्रत है । जिस प्रकार दिग्व्रत को परिमित करके देशव्रती बना, इसी तरह अन्य गुणव्रतों को भी संक्षेप करने का उपलक्षण होना चाहिए ।। ४ ।। ९४ ।।

एवं देशावकाशिकव्रते कृते सति ततः परतः किं स्यादित्याह—

सीमान्तानां परतः स्थूलेतर पञ्चपापसंत्यागात् ।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ।।५।।

प्रसाध्यन्ते व्यवस्थाप्यन्ते । कानि ? महाव्रतानि । केन ? देशावकाशिकेन च न केवलं दिग्विरत्यापितु देशावकाशिकेनापि । कुतः ? स्थूलेतरपंचपापसंत्यागात् स्थूलेतराणि च तानि हिंसादि लक्षण पंचपापानि च तेषां सम्यक्त्यागात् । क्व ? सीमान्तानां परतः देशावकाशिकव्रतस्य सीमाभूताये 'अन्ताधर्मा' गृहादयः संवत्सरादि-विशेषाः तेषां वा अन्ताः पर्यन्तास्तेषां परतः परस्मिन् भागे ।।५।।

इस प्रकार देशावकाशिकव्रत लेने पर मर्यादा के आगे क्या होता है, यह कहते हैं—

(सीमान्तानां) सीमाओं के अन्तभाग के (परतः) आगे (स्थूलेतर पञ्च पापसंत्यागात्) स्थूल और सूक्ष्म पांचों पापों का सम्यक् प्रकार त्याग हो जाने से (देशावकाशिकेन च) देशावकाशिकव्रत के द्वारा भी (महाव्रतानि) महाव्रत (प्रसाध्यन्ते) सिद्ध किये जाते हैं ।

टीकार्थ—देशावकाशिकव्रत में गृह आदि और वर्ष मास आदि काल की अपेक्षा जो सीमा निर्धारित की थी उसके आगे स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार से हिंसादि पंच पापों का पूर्णरूप से त्याग हो जाने से सीमा के बाहर दिग्व्रत के समान देशावकाशिकव्रत में महाव्रत की सिद्धि होती है ।

विशेषार्थ—जिस प्रकार दिग्व्रत के द्वारा जीवनपर्यन्त के लिए क्षेत्र को सीमित करके मर्यादा के बाहर जैसे अणुव्रत महाव्रत की संज्ञा को प्राप्त होते हैं उसी तरह कुछ समय के लिए दिग्व्रत की सीमा को मर्यादित करके देशावकाशिक के द्वारा भी सीमा के बाहर स्थूल और सूक्ष्म पांचों पापों का त्याग हो जाने से महाव्रत की सिद्धि होती है । जिस प्रकार दिग्व्रत को परिमित करके देशव्रत बना उसी प्रकार अन्य व्रतों को भी परिमित करना आवश्यक है । सीमित मर्यादा में भी अनर्थदण्ड का बिना प्रयोजन हिंसादान आदि का निरोध करके अणुव्रतों को ही पुष्ट किया जाता है । पांच ही अणुव्रत हैं, पांच ही अनर्थदण्ड हैं । एक-एक के त्याग के साथ एक-एक की संगति

बैठायी जा सकती है। सामायिक में भी अमुक समय तक पांचों पापों का सर्वथा त्याग रहता है। प्रोषधोपवास में समय की मर्यादा बढ़ जाती है। इस तरह ये सब व्रत अणुव्रतों को संकुचित करके उसे महाव्रत का रूप देते हैं। शिक्षाव्रतों से तो मुनिपद धारण करने की शिक्षा मिलती है।

सामायिक से ध्यान करने की, प्रोषधोपवास से उपवास करने की, भोगोपभोग परिमाण से अल्प भोगोपभोग की तथा अन्त के अतिथिसंविभागव्रत से आहार ग्रहण करने की शिक्षा मिलती है।

सोमदेवसूरि ने इसका स्वरूप बतलाते हुए कहा है–कि इस प्रकार दिशाओं का और देश का नियम करने से बाहर की वस्तुओं में लोभ, उपभोग, हिंसा आदि भाव नहीं होते और उनके नहीं होने से चित्त संयत रहता है। जो गृहस्थ इन गुणव्रतों का पालन प्रयत्नपूर्वक करता है वह जहां-जहां जन्म लेता है वहीं उसे आज्ञा ऐश्वर्य आदि मिलते हैं ॥५॥९५॥

इदानीं तदतिचारान्दर्शयन्नाह—

प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्ति पुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥६॥

अत्यया अतिचाराः। पंच व्यपदिश्यन्ते कथ्यन्ते। के ते ? इत्याह–प्रेषणेत्यादि मर्यादीकृते देशे स्वयं स्थितस्य ततो बहिरिदं कुर्विति विनियोगः प्रेषणं। मर्यादीकृतदेशाद् बहिर्व्यापारं कुर्वतः कर्मकरान् प्रतिखात्करणादिः शब्दः। तद्देशाद्बहिः प्रयोजनवशादिदमानयेत्याज्ञापनमानयनं। मर्यादीकृतदेशे स्थितस्य बहिर्देशे कर्म कुर्वतां कर्मकरणां स्वविग्रहप्रदर्शनं रूपाभिव्यक्तिः। तेषामेव लोष्ठादिनिपातः पुद्गलक्षेपः ॥६॥

अत्र देशावकाशिकव्रत के अतिचार दिखलाते हुए कहते हैं—

(प्रेषणशब्दानयनं) प्रेषण, शब्द, आनयन (रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ) रूपाभिव्यक्ति और पुद्गलक्षेप ये (पञ्च) पांच (देशावकाशिकस्य) देशावकाशिक शिक्षाव्रत के (अत्ययाः) अतिचार (व्यपदिश्यन्ते) कहे जाते हैं।

टीकार्थ—देशावकाशिकव्रत के पांच अतिचार कहते हैं—स्वयं मर्यादित क्षेत्र में स्थित रहकर 'तुम यह काम करो', इस प्रकार मर्यादा के बाहर भेजना **प्रेषण** नामका अतिचार है। मर्यादा के बाहर कार्य करने वालों के प्रति खांसी आदि शब्द करना **शब्द** नामका अतिचार है। मर्यादा के बाहर रहने वाले व्यक्ति से प्रयोजनवश आज्ञा देना कि 'तुम अमुक वस्तु लाओ' यह **आनयन** नाम का अतिचार है। स्वयं मर्यादित क्षेत्र में स्थित होकर मर्यादा से बाहर काम करने वालों को अपना शरीर दिखाना **रूपाभिव्यक्ति** नामका अतिचार है और उन्हीं लोगों को लक्ष्य करके कंकर पत्थर आदि फेंकना **पुद्गलक्षेप** नामका अतिचार है इस प्रकार ये देशावकाशिकव्रत के पांच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—व्रत धारण करने का मूल उद्देश्य रागादिभावों को कम करना है, यदि व्रतों के अनुरूप रागादिभावों पर नियन्त्रण नहीं होता तो वहां व्रत भी निर्दोष नहीं पलते। दोषों को ही अतिचार कहते हैं। देशावकाशिकव्रत के अतिचारों को आचार्य ने इस प्रकार बतलाया है—जैसे किसी ने सीमा निर्धारित की कि 'मैं इतने समय तक अमुक स्थान पर नहीं जाऊंगा', परन्तु मर्यादा किये हुए देश से बाहर स्वयं न जा सकने से राग की उत्कटता से प्रयोजनवश मर्यादा के बाहर अन्य लोगों को भेजना प्रेषण नामका अतिचार है। चाहे वह स्वयं करे या करावे कोई विशेष अन्तर नहीं है। बल्कि स्वयं जाने से तो ईर्यापथ शुद्धि सम्भव है, दूसरा तो यह जानता नहीं इसलिये ईर्यापथ शुद्धि के अभाव में दोष ही लगता है ऐसा पं० आशाधरजी ने कहा है। यहां कृत की अपेक्षा व्रत की रक्षा और कारित की अपेक्षा उसका भंग है, इस प्रकार भंगाभंग की अपेक्षा यह प्रेषण नामका अतिचार है। स्वयं तो मर्यादा के अन्दर स्थित है किन्तु मर्यादा के बाहर काम करने वालों को खांसकर अपनी ओर आकर्षित कर अपना प्रयोजन सिद्ध करना शब्द नामका अतिचार है। मर्यादा के बाहर टेलीफोन आदि करना इसी में शामिल है। स्वयं मर्यादा के भीतर स्थित है और नियम होने से मर्यादा के बाहर जा भी नहीं सकता किन्तु अन्य को भेजकर मर्यादा से बाहर की किसी वस्तु को मंगाना आनयन नामका अतिचार है। तार या पत्र देकर ऑर्डर देकर कोई वस्तु मंगाना भी इसी अतिचार में गर्भित है। स्वयं मर्यादा के भीतर के क्षेत्र में स्थित रहकर मर्यादा के बाहर के लोगों को अपना रूप दिखाना अर्थात् मर्यादित स्थान में ऐसी जगह बैठ जाना कि मर्यादा के बाहर वालों को अपना रूप दिखे जिससे वे

सावधानी से कार्य करते रहें, यह रूपाभिव्यक्ति नामका अतिचार है। स्वयं मर्यादा के भीतर रहकर मर्यादा के बाहर न जा सकने के कारण प्रयोजनवश सीमा के बाहर काम करने वालों को सावधान करने के लिए पत्थर आदि फेंकना पुद्गलक्षेप नामका अतिचार है। व्रत की अपेक्षा रखते हुए एक अंश के भंग को अतिचार कहते हैं। इनमें पहले के तीन अतिचार तो मायावीपने के कारण हैं, और अन्त के दो अतिचार अज्ञान से या उतावलेपन से होते हैं ॥६॥९६॥

एवं देशावकाशिकरूपं शिक्षाव्रतंव्याख्यायेदानीं सामायिकरूपं तद्व्याख्यातुमाह—

आसमयमुक्तिमुक्तंपञ्चाघानामशेषभावेन ।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ॥७॥

सामयिकं नाम स्फुटं शंसन्ति प्रतिपादयन्ति । के ते ? सामयिकाः समयमागमं विन्दन्ति ये ते सामयिका गणधरदेवादयः । किं तत् ? मुक्तं मोचनं परिहरणं यत् तत् सामयिकं । केषां मोचनं ? पंचाघानां हिंसादिपंचपापानां । कथं ? आसमयमुक्ति वक्ष्यमाणलक्षणसमयमोचनं आ समन्ताद्व्याप्यगृहीतनियमकालमुक्तिं यावदित्यर्थः । कथं तेषां मोचनं ? अशेष भावेन सामस्त्येन न पुनर्देशतः । सर्वत्र च अवधेः परभागे च । अनेन देशावकाशिकादस्य भेदः प्रतिपादितः ॥७॥

इस प्रकार देशावकाशिकरूप शिक्षाव्रत का व्याख्यान कर अब सामायिकरूप शिक्षाव्रत का वर्णन करने के लिए कहते हैं—

(सामयिकाः) आगम के ज्ञाता गणधरदेवादिक, (सर्वत्र च) सब जगह मर्यादा के भीतर और बाहर भी (अशेषभावेन) सम्पूर्णरूप से (पञ्चाघानां) पांच पापों का (आसमयमुक्ति) किसी निश्चित समय तक (मुक्तं) त्याग करने को (सामयिकंनाम) सामायिक नामका शिक्षाव्रत (शंसन्ति) कहते हैं।

टीकार्थ—निश्चित समय की अवधि तक पंच पापों का पूर्णरूप से त्याग करने को गणधरदेवादि ने सामायिक नामक शिक्षाव्रत कहा है। देशावकाशिकव्रत में मर्यादा के बाहर क्षेत्र में पंच पापों का पूर्णरूप से त्याग होता है। किन्तु सामायिक शिक्षाव्रत में मर्यादा के भीतर-बाहर दोनों ही क्षेत्रों में पंच पापों का पूर्ण त्याग होता है, इस प्रकार से देशावकाशिक की अपेक्षा सामायिक शिक्षाव्रत में कहा गया है।

विशेषार्थ—जिनागम में सामायिक और सामयिक दोनों शब्द प्रचलित हैं। उनमें सामयिक शब्द सम और आय शब्दों के मेल से बना है। 'सम' अर्थात् राग-द्वेष से विमुक्त होकर जो 'आय' अर्थात् ज्ञानादिक का लाभ होता है जो कि प्रशम सुखरूप है, उसे समाय कहते हैं। समाय जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है। अर्थात् राग-द्वेष के कारण उपस्थित होने पर या जो पदार्थ राग-द्वेष के कारण हैं, उनमें मध्यस्थता रखना, राग-द्वेष नहीं करना सामायिक है। अथवा जिन भगवान की सेवा-उपासना के उपदेश को समय कहते हैं। उसमें नियुक्त कर्म को सामायिक कहते हैं। इस प्रकार व्यवहार से जिन भगवान का अभिषेक, पूजा, स्तुति, जप आदि सामायिक हैं। और निश्चय से अपनी आत्मा का ध्यान ही सामायिक है। इस प्रकार सामायिकरूपव्रत को सामायिकव्रत कहते हैं। यह सामायिक एकान्त स्थान में की जाती है सामायिक करने वाला उस समय समस्त आरम्भ और परिग्रह के आग्रह से रहित होता है। मुनिव्रत में सदा समता भाव धारण करना पड़ता है, इसलिए मुनियों के पांच प्रकार के चारित्र में सामायिक शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु गृहस्थ सदाकाल समता धारण नहीं कर सकते अतः उन्हें दिन में दो बार अथवा तीन बार दो घड़ी चार घड़ी अथवा छह घड़ी के लिए समस्त पापों का त्याग कर समताभाव धारण करना चाहिए। समय की अवधि से सहित होने के कारण उसकी यह क्रिया सामयिक शिक्षाव्रत कहलाती है। वह सामयिक के काल तक मध्यस्थ रहता है, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, संयोग, वियोग आदि इष्ट-अनिष्ट में हर्ष, विषाद नहीं करता। इस तरह यहां पर सामयिकशिक्षाव्रत से प्रयोजन है ॥७॥९७॥

आसमयमुक्तीत्यत्र यः समयशब्दः प्रतिपादितस्तदर्थं व्याख्यातुमाह—

मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं पर्यंकबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥८॥

समयज्ञाः आगमज्ञाः। समयं जानन्ति। किं तत्? मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं, बन्धशब्दः प्रत्येकमभिसम्बद्धयते मूर्धरुहाणां केशानां बन्ध, बन्धकालं समयं जानन्ति। तथा मुष्टिबन्धं वासोबन्धं वस्त्रग्रन्थिं पर्यंकबन्धनं चापि उपविष्टकायोत्सर्गमपि च स्थानमूर्ध्वकायोत्सर्गं उपवेशनं वा सामान्येनोपविष्टावस्थानमपि समयं जानन्ति ॥८॥

आसमयमुक्ति–यहां पर जो समय शब्द कहा है उसका व्याख्यान करने के लिए कहते हैं—

(समयज्ञा:) आगम के ज्ञाता पुरुष (मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं) केश, मुट्ठी और वस्त्र के बन्ध के कालको, (च) और (पर्यंकबन्धनं) पालथी बांधने के कालको (वा) अथवा (स्थानं) खड़े होने के कालको और (उपवेशनं) बैठने के कालको (समयं) सामायिक का समय (जानन्ति) जानते हैं।

टीकार्थ— मूर्धरुह, मुष्टि और वासस् इन तीन शब्दों का द्वन्द्व समास हुआ है। यहां पर बन्ध शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। अतः मूर्धरुहबन्ध, मुष्टिबन्ध और वासोबन्ध ये तीन शब्द बने हैं। बन्ध का अर्थ बन्ध का काल है। जैसे—जब तक चोटी में गांठ लगी है, मुट्ठी बंधी है, वस्त्र में गांठ लगी है, आसन लगाकर बैठा हूं, कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा हूं, अथवा पद्मासन से बैठा हूं तब तक सामायिक करूंगा, इनमें जो काल लगता है वह सब सामायिक का काल कहलाता है। तथा इसको सामायिक का काल जानते हैं।

विशेषार्थ—देशावकाशिकव्रती तो की हुई मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में ही पांचों पापों का त्याग करता है, किन्तु सामायिकव्रती तो सर्वत्र पांचों पापों का त्याग करता है। जो सामायिक करना चाहता है वह सामायिक से पहले समय का नियम करता है। आजकल तो घड़ियों के द्वारा समय का निर्धारण कर लिया जाता है। पहले इस प्रकार की घड़ियां नहीं थी, इसलिए समय का ज्ञान करने के लिए श्रावक सामायिक में बैठते समय पहले यह नियम कर लिया करते थे कि जब तक मेरे बंधे हुए केश नहीं खुलेंगे अर्थात् स्वभाव से ही चोटी की गांठ लगी रहेगी, अथवा जब मैं मुट्ठी बांध सकूंगा या दुपट्टे की गांठ मैं नहीं खोलूंगा, अथवा निराकुलता से पालथी लगाकर बैठ सकूंगा अथवा जब तक खड़ा रह सकूंगा, या जब तक मैं पद्मासन से बैठ सकूंगा तब तक सामायिक करूंगा अर्थात् साम्यभाव से विचलित नहीं होऊंगा। इस प्रकार किसी भी आसन से निश्चित समय तक निराकुलतापूर्वक रह सके उस आसन को स्वीकार करना चाहिए। सामायिक के बीच में आसन में परिवर्तन नहीं करना चाहिए ।।८।।९८।।

एवंविधे समये भवत् यत्सामायिकं पंचप्रकारपापात् साकल्येन व्यावृत्तिस्वरूपं तस्योत्तरोत्तरा वृद्धिः कर्तव्येत्याह—

एकान्ते सामायिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ।।९।।

परिचेतव्यं वृद्धिं नेतव्यं । किं तत् ? सामायिकं । क्व ? एकान्ते स्त्रीपशुपाण्डुकिविवर्जिते प्रदेशे । कथंभूते ? निर्व्याक्षेपे चित्तव्याकुलतारहिते शीतवातदंशमशकादिबाधावर्जितः इत्यर्थः इत्थंभूते एकान्ते । क्व ? वनेषु अटवीषु, वास्तुषु च गृहेषु, चैत्यालयेषु च अपिशब्दाद्गिरिगह्वरादिपरिग्रहः । केन चेतव्यं ? प्रसन्नधिया प्रसन्ना अविक्षिप्ताधीर्यस्यात्मनस्तेन अथवा प्रसन्नासौधीश्च तया कृत्वा आत्मना परिचेतव्यमिति ।। ६ ।।

आगे इस प्रकार के समय में होने वाला जो सामायिक पांच प्रकार के पापों से सम्पूर्णरूप से निवृत्त होने रूप लक्षण से युक्त है उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहना चाहिए, यह कहते हैं—

(सामायिकं) वह सामायिक (प्रसन्नधिया) निर्मल बुद्धि के धारक श्रावक के द्वारा (एकान्ते) स्त्री, पशु तथा नपुंसकों से रहित प्रदेश में (निर्व्याक्षेप) चित्त में चञ्चलता उत्पन्न करने वाले कारणों से रहित स्थान में (वनेषु) वनों में (वास्तुषु च) मकानों में (वा) अथवा (चैत्यालयेषु अपि च) मन्दिरों में भी (परिचेतव्यं) बढ़ाने के योग्य है ।

टीकार्थ—सामायिक के लिए एकान्त स्थान होना चाहिए । एकान्त का अर्थ है, जिस स्थान में स्त्री, पशु और नपुंसक आदि का आवागमन न हो । निर्व्याक्षेप—अर्थात् चित्त को व्याकुल करने वाले शीत, वायु तथा डांस मच्छर आदि की बाधा से रहित हो, एकान्त स्थान चाहे अटवी हो या घर, देव स्थान अथवा अपि शब्द से पर्वत, गुफा आदि कोई भी स्थान हो वहां पर प्रसन्नचित्त होकर सामायिक करना चाहिए । प्रसन्नधिया शब्द का 'प्रसन्ना-अविक्षिप्ता धीर्यस्य स प्रसन्नधीस्तेन' इस प्रकार बहुव्रीहि समास और 'प्रसन्ना चासौधीश्च इति प्रसन्नधीस्तया' इस प्रकार कर्मधारय समास भी होता है । इस विशेष्य और हेतु को बतलाया है ।

विशेषार्थ—आचार्य ने चित्त की चंचलता के कारणों से रहित स्थान को ही सामायिक के योग्य कहा है । सामायिक करने वाला स्वयं ऐसा स्थान चुने कि जहां पर किसी भी प्रकार के उपद्रव उत्पातादि की सम्भावना न हो तथा किसी भी प्रकार से चित्त को चंचल करने वाले कारण उपस्थित न हों । यदि प्रसंगवश कोई उपद्रव उपस्थित हो भी जाय तो समताभाव से सहन करना चाहिए ।।६।।९९।।

इत्थंभूतेषु स्थानेषु कथं तत्परिचेतव्यमित्याह—

व्यापार वैमनस्याद्विनिवृत्यामन्तरात्मविनिवृत्या ।
सामायिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा ॥१०॥

बध्नीयादनुतिष्ठेत् । किं तत् ? सामायिकं । कस्यां सत्यां ? विनिवृत्यां । कस्मात् ? व्यापारवैमनस्यात् व्यापारः कायादिचेष्टा वैमनस्यं मनोव्यग्रता चित्तकालुष्यं वा तस्माद्विनिवृत्यामपि सत्यां अन्तरात्मविनिवृत्या कृत्वा तद्बध्नीयात् अन्तरात्मनो मनोविकल्पस्य विशेषेण निवृत्या । कस्मिन् सति तस्यां तया तद्बध्नीयात् ? उपवासे चैकभुक्ते वा ॥१०॥

इस प्रकार के स्थानों में सामायिक किस प्रकार बढ़ानी चाहिए, यह कहते हैं—

(व्यापार वैमनस्यात्) शरीरादिक की चेष्टा और मनकी व्यग्रता अथवा कलुषता से (विनिवृत्यां) निवृत्ति होने पर (अन्तरात्मविनिवृत्या) मानसिक विकल्पों की विशिष्ट निवृत्तिपूर्वक (उपवासे) उपवास के दिन (वा) अथवा (एकभुक्ते) एकाशन के दिन (च) और अन्य समय भी (सामायिकं) सामायिक (बध्नीयात्) करनी चाहिए ।

टीकार्थ—सामायिक की वृद्धि किन भावों से करे ? इसके उत्तर स्वरूप में बतलाते हैं कि व्यापार-शरीर की चेष्टा और वैमनस्यमन की व्यग्रता अथवा चित्त की कलुषता से रहित होकर मानसिक विकल्पों को विशेषरूप से हटाते हुए उपवास अथवा एकाशन के दिन विशेषरूप से सामायिक को बढ़ाना चाहिए । यहां पर चकार से उससे अन्य समय का भी ग्रहण होता है अर्थात् उपवास और एकाशन के सिवाय अन्य दिनों में भी सामायिक को बढ़ानी चाहिए ।

विशेषार्थ—इस श्लोक में बतला रहे हैं कि सामायिक के काल में कैसे भाव रहने चाहिए इसकी चर्चा करते हुए कहते हैं कि सामायिक करने के पहले ही शरीर को हिलाना-डुलानारूप चेष्टा न हो, मनमें किसी प्रकार की कलुषता न हो उसे दूर करके ही सामायिक में स्थित होना चाहिए और मन में अनेक प्रकार के विकल्प उठते रहते हैं, उन्हें विशेषरूप से दूर करने का प्रयास करना चाहिए । विचारों को पवित्र

बनाना चाहिए, तथा मनको पवित्र बनाते हुए उपवास और एकाशन के दिन तो विशेषरूप से सामायिक की वृद्धि करनी चाहिये ।।१०।।१००।।

इत्थंभूतं तत्किं कदाचित्परिचेतव्यमन्यथा वेत्यत्राह—

सामायिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं ।
व्रतपञ्चकपरिपूरण कारणमवधान युक्तेन ।।११।।

चेतव्यं वृद्धिं नेतव्यं । किं ? सामायिकं । कदा ? प्रतिदिवसमपि न पुनः कदाचित् पर्वदिवस एव । कथं ? यथावदपि प्रतिपादितस्वरूपानतिक्रमेणैव । कथंभूतेन ? अनलसेनाऽऽलस्यरहितेन उद्यतेनेत्यर्थः । तथाऽवधानयुक्तेनैकाग्रचेतसा । कुतस्तदित्थं परिचेतव्यं ? व्रतपंचकपरिपूरणकारणं यतः व्रतानां हिंसाविरत्यादीनां पंचकं तस्य परिपूरणत्वं महाव्रतरूपत्वं तस्य कारणं । यथोक्त सामायिकानुष्ठानकाले हि अणुव्रतान्यपि महाव्रतत्वं प्रतिपद्यन्तेऽतस्तत्कारणं ।।११।।

क्या सामायिक, पर्व के दिनों में ही करनी चाहिए या अन्य प्रकार की भी कुछ व्यवस्था है; यह कहते है—

[अनलसेन] आलस्य से रहित और [अवधानयुक्तेन] चित्त की एकाग्रता से युक्त पुरुष के द्वारा [व्रतपंचकपरिपूरणकारणं] हिंसा त्याग आदि पांच व्रतों की पूर्तिका कारण [सामायिकं] सामायिक [प्रतिदिवसमपि] प्रतिदिन भी [यथावद्] योग्य विधि के अनुसार [परिचेतव्यं] बढ़ाने योग्य है ।

टीकार्थ—यहां पर यह बतला रहे हैं कि कोई यह न समझ ले कि उपवास अथवा एकाशन के दिन ही सामायिक करनी चाहिए, अन्य दिनों में नहीं । इसी का निराकरण करते हुए कहते हैं कि शास्त्रोक्त विधिका अतिक्रमण नहीं करते हुए प्रतिदिन सामायिक करनी चाहिए । सामायिक करने वाला पुरुष आलस्य रहित तथा चित्त की एकाग्रता से युक्त होना चाहिये । क्योंकि सामायिक में हिंसादि पंच पापों की निवृत्ति हो जाती है इसलिये पांचों व्रतों की परिपूर्णता स्वरूप सामायिक के काल में अणुव्रत भी महाव्रतरूपता के कारण हैं ।

विशेषार्थ— सामायिक नियतरूप से आलस्य छोड़कर प्रतिदिन करनी चाहिए। सामायिक में चारों दिशाओं में आवर्त और शिरोनति करना चाहिए । कुछ लोग

ऊंघते-ऊंघते (तन्द्रा में) सामायिक करते हैं। इसलिए आचार्य ने 'अनलसेन' विशेषण दिया है। अर्थात् सामायिक में आलस नहीं होना चाहिए। आगम में जो सामायिक की विधि बतलाई है, उस विधि के अनुसार ही सामायिक करनी चाहिए। 'अवधान-युक्तेन' जो विशेषण दिया है अर्थात् चित्त की एकाग्रता से युक्त होकर सामायिक करनी चाहिए। सामायिक हिंसादिविरतिरूप पांचों व्रतों की पूर्णता का कारण है। तथा उस काल में महाव्रत जैसा व्यवहार होने लगता है, इसलिए सामायिक उपवास या एकाशन के दिनों में ही नहीं करनी चाहिए, अपितु प्रतिदिवस सामायिक करनी चाहिए। परम प्रकर्ष को प्राप्त चारित्र ही मोक्ष का साक्षात् कारण होता है। सामायिक उसी का अंश है। सामायिक में आत्मध्यान का अभ्यास किया जाता है. यह अभ्यास ही स्थिर होते-होते शुक्लध्यान का रूप ले लेता है और अन्तिम शुक्लध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए श्रावकों को प्रातः और सायंकाल दो बार सामायिक अवश्य करनी चाहिए। सामायिक प्रतिमा में तीनों काल सामायिक करने का विधान है। यदि शक्ति हो तो मध्याह्न में या अन्य समय भी कर सकते हैं। नियमित समय से अन्य समय में भी करने से कोई दोष नहीं है, बल्कि गुण ही है ॥११॥१०१॥

एतदेव समर्थयमानः प्राह—

सामायिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि ।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावं ॥१२॥

सामायिके सामायिकावस्थायां। नैव सन्ति न विद्यंते। के? परिग्रहाः सङ्गाः। कथंभूताः? सारम्भाः कृष्याद्यारम्भसहिताः। कति? सर्वेऽपि बाह्याभ्यन्तराश्चेतनेतरादिरूपा वा। यत एवं ततो याति प्रतिपद्यते। कं? यतिभावं यतित्वं। कोऽसौ? गृही श्रावकः। कदा? सामायिकावस्थायां। क इव? चेलोपसृष्टमुनिरिव चेलेन वस्त्रेण उपसृष्टः उपसर्गवशाद्वेष्टितः स चासौ मुनिश्च स इव तद्वत् ॥१२॥

सामायिककाल में अणुव्रत महाव्रतपने को प्राप्त होते हैं, इसका समर्थन करते हुए कहते हैं—

(यतः) क्योंकि (सामायिके) सामायिक के काल में (सारम्भाः) आरम्भ सहित (सर्वेऽपि) सभी (परिग्रहाः) परिग्रह (नैव सन्ति) नहीं ही हैं (ततः) इसलिए

(तदा) उस समय (गृही) गृहस्थ (चेलोपसृष्टमुनिरिव) उपसर्ग के कारण वस्त्र से वेष्टित मुनि के समान (यतिभावं) मुनिपने को (याति) प्राप्त होता है।

टीकार्थ—जिस समय गृहस्थ सामायिक करता है उस काल में उसके खेती आदि के आरम्भ से सहित सभी बहिरंग-अन्तरंग तथा चेतन-अचेतन परिग्रह नहीं होते हैं। इसलिए वह गृहस्थ सामायिक अवस्था में उपसर्ग से वस्त्राच्छादित मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ— सामायिक के काल में न कोई आरम्भ होता है और न पहने हुए वस्त्र के सिवाय कोई परिग्रह होता है। उस समय हिंसादि समस्त पापों का त्याग होता है। इसलिए उस समय गृहस्थ उस मुनि के तुल्य होता है जिस पर किसी ने वस्त्र लपेट दिया हो। जैसे—सामायिक के काल में कोई दुष्ट मनुष्य वस्त्रों को खोलने लगे तो भी वह चलायमान नहीं होता, उसकी उस समय की अवस्था उस मुनि के समान होती है जिस पर किसी दुष्ट ने उपसर्ग करने के लिए वस्त्र ओढ़ा दिया हो। उस समय यद्यपि वह बाहर में वस्त्र ओढ़े हुए है किन्तु उस वस्त्र के प्रति उसका ममत्वभाव नहीं है। इसी प्रकार वह गृहस्थ यद्यपि वस्त्र पहने हुए है परन्तु उन वस्त्रों के प्रति उसका ममत्व भाव नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी राग-द्वेष को त्यागकर समस्त द्रव्यों में साम्यभाव धारण करके बार-बार सामायिक करने का विधान बताया है। क्योंकि यह सामायिक आत्म-तत्त्व की उपलब्धि की मूल है। अर्थात् आत्मतत्त्व की उपलब्धि का मूल कारण सामायिक है। प्रातः और सन्ध्याकाल में तो सामायिक अवश्य करनी चाहिए। अन्य समय में भी करने में कोई हानि नहीं है, लाभ ही है। यह भी कहा है कि यद्यपि सामायिक करने वाले गृहस्थ के चारित्रमोह का उदय होता है, फिर भी उस समय में समस्त सावद्ययोग का त्याग होने से उसे महाव्रत की उपलब्धि होती है। इस प्रकार सभी आचार्यों ने आत्मध्यान को सामायिक कहा है। किन्तु सोमदेवसूरि ने आप्तसेवा के उपदेश को समय और उसमें किये जाने वाले कार्य को सामायिक कहा है। आशाधरजी ने उसे व्यवहार सामायिक कहा है। उपासकाध्ययन में सामायिकव्रत के अन्तर्गत पूजाविधान का विस्तार से वर्णन है। आचार्य वसुनन्दी ने भी दोनों प्रकारों को सामायिक कहा है। उन्होंने लिखा है कि शुद्ध होकर चैत्यालय में अथवा अपने

घर में ही प्रतिमा के सम्मुख होकर अथवा अन्य पवित्र स्थान में पूर्व मुख या उत्तर मुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब, पंचपरमेष्ठी और जिनालयों की जो नित्य त्रिकाल-वन्दना की जाती है वह सामायिक है। जो श्रावक कायोत्सर्ग में स्थित होकर लाभ-अलाभ को, शत्रु-मित्र को, संयोग-वियोग को, तृण-कंचन को, चन्दन और कुठार को समभाव से देखता है तथा मन में पंच नमस्कार मंत्र को धारण करके उत्तम अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त अर्हन्त के स्वरूप का और सिद्धों के स्वरूप का ध्यान करता है, अथवा संवेग सहित निश्चल होकर क्षणभर उत्तमध्यान करता है उसके उत्तम सामायिक होती है ॥१२॥१०२॥

तथा सामायिकं स्वीकृतवन्तो ये तेऽपरमपि किं कुर्वन्तीत्याह—

शीतोष्णदंशमशक परीषह मुपसर्गमपि च मौनधराः।
सामायिकं प्रतिपन्ना अधि कुर्वीरन्नचलयोगाः ॥१३॥

अधिकुर्वीरन् सहेरन्नित्यर्थः। के ते ? सामायिकं प्रतिपन्नाः सामायिकं स्वीकृतवन्तः। किं विशिष्टाः सन्तः ? अचलयोगाः स्थिरसमाधयः प्रतिज्ञातानुष्ठानापरित्यागिनो वा। तथा मौनधरास्तत्पीडायां सत्यामपि क्लीबादिवचनानुच्चारकाः दैन्यादिवचनानुच्चारकाः। कमधिकुर्वीरन्नित्याह—शीतेत्यादि—शीतोष्णदंशमशकानां पीडाकारिणां तत्परि समन्तात् सहनं तत्परीषहस्तं, न केवलं तमेव अपि तु उपसर्गमपि च देवमनुष्यतिर्यक्कृतं ॥१३॥

सामायिक को स्वीकृत करने वाले जो गृहस्थ हैं वे और क्या करते हैं, यह कहते हैं—

[सामायिकं] सामायिक को [प्रतिपन्नाः] स्वीकृत करने वाले गृहस्थ [अचलयोगाः] स्थिर समाधि अथवा गृहीत अनुष्ठान को न छोड़ते हुए [मौनधराः] मौनधारी होकर [शीतोष्णदंशमशकपरीषहं] शीत, उष्ण तथा दंशमशक परीषह को [च] और [उपसर्गमपि] उपसर्ग को भी [अधीकुर्वीरन्] सहन करें।

टीकार्थ—जिन्होंने सामायिक को स्वीकार किया है ऐसे गृहस्थ ध्यान में स्थिर होकर ध्यान करने की प्रतिज्ञा से चलायमान नहीं होते हुए तथा मौनव्रतधारी बनकर शीत-उष्ण, डांस-मच्छर आदि की पीड़ाकारक परीषह को तथा देव-मनुष्य

एवं तिर्यंचों के द्वारा किये गये उपसर्ग को दीनतापूर्वक शब्दों का उच्चारण नहीं करते हुए सहन करें।

विशेषार्थ—सामायिक में बैठने पर यदि भयंकर वायु के वेग से शीत की बाधा उपस्थित हो जाय या गर्मी के कारण व्याकुलता होने लगे, अथवा किसी दुष्टदेव, दुष्ट वैरी, सिंह व्याघ्रादि या तिर्यंचों के द्वारा कोई उपसर्ग किया जाय या चेतन-अचेतनकृत कोई उपसर्ग तथा अग्नि जनित उपसर्ग आ जाय तो गृहस्थ श्रावक को उस काल में धैर्य धारण करना चाहिए। उसे न तो अपनी दीनता दिखलानी चाहिए और न किसी प्रकार से उसका प्रतिकार ही करना चाहिए। मौनपूर्वक शीत-उष्ण और डाँस-मच्छरों के परीषहों को शान्त परिणामों से सहन करना चाहिए और अपनी ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा से विचलित नहीं होना चाहिए ॥१३॥१०३॥

तं चाधिकुर्वाणाः सामायिके स्थिता एवंविधं संसारमोक्षयोः स्वरूपं चिन्तयेयुरित्याह—

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम् ।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥ १४ ॥

तथा सामयिके स्थिता ध्यायन्तु। कं ? भवं स्वोपात्तकर्मवशाच्चतुर्गतिपर्यटनं। कथंभूतं ? अशरणं न विद्यते शरणमपायपरिरक्षकं यत्र। अशुभमशुभकारणप्रभवत्वादशुभकार्यकारित्वाच्चाशुभं। तथाऽनित्यं चतसृष्वपि गतिषु पर्यटनस्य नियतकालतयाऽनित्यत्वादनित्यं। तथा दुःखहेतुत्वाद्दुःखं। तथानात्मानमात्मस्वरूपं न भवति। एवं विधं भवमावसामि एवंविधे भवे तिष्ठामीत्यर्थः। यद्येवंविधः संसारस्तर्हि मोक्षः कीदृश-इत्याह–मोक्षस्तद्विपरीतात्मा तस्मादुक्तभव स्वरूपाद्विपरीतस्वरूपतः शरणशुभादिस्वरूपः इत्येवं ध्यायन्तु चिन्तयन्तु सामायिके स्थिताः ॥१४॥

सामायिक में स्थित मनुष्य संसार और मोक्ष के इस प्रकार के स्वरूप का चिन्तन करें, यह कहते हैं—

(सामयिके) सामायिक में (स्थिताः) स्थित मनुष्य (इति) इस प्रकार (ध्यायन्तु) ध्यान करें कि मैं (अशरणं) शरण रहित (अशुभं) अशुभ (अनित्यं) अनित्य (दुःखं) दुःखस्वरूप और (अनात्मानं) अनात्मस्वरूप (भवं) संसार में

(आवसामि) निवास करता हूँ और (मोक्षः) मोक्ष (तद्विपरीतात्मा) उससे विपरीत स्वरूप वाला है ।

टीकार्थ—सामायिक में स्थित गृहस्थ इस प्रकार विचार करे—अपने उपार्जित कर्मों के द्वारा जीव चारों गतियों में भ्रमण करता है वह भव कहलाता है, इस भव-संसार में मृत्यु से बचाने वाला कोई भी रक्षक नहीं है । अशुभ कारणों से उत्पन्न होने तथा अशुभ कार्य को करने के कारण अशुभ है । चारों गतियों में परिभ्रमण करने का काल नियत होने से अनित्य है । दुःख का कारण होने से दुःखरूप है। और आत्मस्वरूप से भिन्न होने के कारण अनात्मा है । ऐसी संसार की स्थिति है । तथा मैं इस संसार में स्थित हूँ । इस प्रकार का विचार सामायिक में स्थित श्रावक करे । तथा मोक्ष इस संसार से विपरीत है अर्थात् शरणरूप है, शुभ है, नित्यादिरूप है। इस प्रकार मोक्ष के स्वरूप का भी विचार करे ।

विशेषार्थ—सामायिक में तत्त्वों का चिन्तन होना चाहिए । उनमें भी जीव तत्त्व की प्रमुखता है । जीवतत्त्व के दो भेद हैं । संसारी और मुक्त । सामायिक करने वाले को संसार और मोक्ष के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए, कि मोक्ष अनन्तज्ञानादिरूप होने से आत्मरूप है अर्थात् जो आत्मा का स्वरूप है, वही मोक्ष का स्वरूप है क्योंकि शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति का नाम मोक्ष है । मोक्ष आकुलता रहित चित्स्वरूप होने से सुखरूप है । तथा संसारदशा का प्रध्वंसाभाव होने से मोक्ष अनन्तकाल रहने वाला है । मोक्ष प्राप्त होने के पश्चात् संसार का नाश हो जाता है । तथा मोक्ष शुभ कारण-सम्यग्दर्शनादि से उत्पन्न होता है । और शुभकार्यरूप है, शुभ है, मोक्ष प्राप्त होने पर किसी भी प्रकार का अनिष्ट सम्भव नहीं है अतः शरण है । किन्तु संसार मोक्ष से बिलकुल विपरीत है क्योंकि आत्मा के द्वारा गृहीत कर्म के उदय के वश से चारों गति में भ्रमण का नाम संसार है, अतः संसार न तो आत्मरूप है न सुखरूप है किन्तु दुःखरूप है और सदा परिवर्तनशील होने से अनित्य है, इसलिए अशरण है । जीव की यह संसार अवस्था कर्म-नोकर्मरूप अजीव के सम्बन्ध से हुई है । और यह सम्बन्ध भी आस्रव तथा बन्ध के कारण हुआ है । इस प्रकार संसार के स्वरूप के अन्तर्गत अजीव आस्रव और बन्ध तत्त्व का चिन्तन आता है और मोक्ष अवस्था, कर्म-नोकर्मरूप अजीव के साथ जीव का सम्बन्ध छूट जाने से होती है । संसार के सम्बन्ध

का नाश संवर और निर्जरा के द्वारा होता है। इस प्रकार मोक्ष के स्वरूप के चिन्तन के अन्तर्गत संवर और निर्जरा तत्त्व का चिन्तन आता है।

आचार्यों ने सामायिक दो प्रकार की बतलाई है—निश्चय सामायिक और व्यवहार सामायिक। निश्चय सामायिक की सिद्धि के लिए व्यवहार सामायिक करने का उपदेश है।

व्यवहार सामायिक अर्हन्त का अभिषेक, पूजा, स्तुति और जपरूप है और निश्चयसामायिक एकाग्रतापूर्वक आत्मा का ध्यान है। साम्यभावरूप से सहित सामायिक दो घड़ी मात्र भी हो जाय तो महान् कर्मों की निर्जरा होती है। सामायिक की महिमा का वर्णन करने में इन्द्र भी समर्थ नहीं है। सामायिक के प्रभाव से अभव्य भी ग्रैवेयकपर्यन्त उत्पन्न हो जाते हैं। सामायिक के समान और कोई भी सुख का कारण नहीं है अतः आत्महित के लिए सामायिक अवश्य करनी चाहिए। जिन्हें और कुछ ज्ञान नहीं है उनको भी मन-वचन-काय की एकाग्रतापूर्वक तथा समस्त आरम्भ परिग्रह का त्याग कर पंच नमस्कार मन्त्र का ध्यान करना चाहिए ॥१४॥१०४॥

साम्प्रतं सामायिकस्यातीचारानाह—

वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे।
सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥१५॥

व्यज्यन्ते कथ्यन्ते। के ते? अतिगमा अतिचाराः। कस्य? सामयिकस्य। कति? पंच। कथं? भावेन परमार्थेन। तथा हि। वाक्कायमानसानां दुष्प्रणिधानमित्येतानि त्रीणि। अनादरोऽनुत्साहः। अस्मरणमनैकाग्र्यम् ॥१५॥

सामायिक के अतिचार कहते हैं—

(वाक्कायमानसानां) वचन, काय और मनके (दुष्प्रणिधानानि) दुष्प्रणिधान अर्थात् वाग्दुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान (अनादरस्मरणे) अनादर और अस्मरण ये (पञ्च) पांच (भावेन) परमार्थ से (सामायिकस्य) सामायिक के (अतिगमाः) अतिचार (व्यज्यन्ते) प्रकट किये जाते हैं।

टीकार्थ—सामायिक के पाँच अतिचार कहते हैं यथा—मनदुष्प्रणिधान वचनदुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान इन तीन योगों की खोटी प्रवृत्तिरूप तीन अतिचार और अनादर तथा अस्मरण-एकाग्रता का अभाव ये सब मिलकर सामायिक के पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ— सामायिक के पांच अतिचार हैं—सामायिक में पाठ या मन्त्र का ऐसा उच्चारण करना कि कुछ भी अर्थबोध न हो सके, अशुद्ध उच्चारण करना, वचन की चपलता होना **वचनदुष्प्रणिधान** है। शरीर को हिलाना, डुलाना, इधर-उधर देखना, डांस-मच्छर को भगाना तथा बीच में आसन बदलना यह सब **कायदुष्प्रणिधान है**। सामायिक करते समय क्रोध, लोभ, द्रोह, अभिमान और ईर्ष्या आदि का होना तथा कार्यों में आसक्ति होने से मनका चंचल होना **मनदुष्प्रणिधान** है। क्रोध आदि के आवेश से सामायिक में मनका चिरकाल तक स्थिर न रहना मनदुष्प्रणिधान है। अनुत्साह को अनादर कहते हैं। नियत समय पर सामायिक न करना या जिस-किसी-तरह करना और सामायिक करने के बाद तुरन्त ही खाने-पीने आदि में लग जाना, बेगार समझकर अनुत्साह से सामायिक करना **अनादर** है। सामायिक में एकाग्रता का न होना अथवा 'सामायिक मुझे करना चाहिए या नहीं करना चाहिए' या 'मैंने सामायिक की है कि नहीं ?' इस प्रकार प्रबल प्रमाद के कारण स्मरण न रहना, मन्त्र अथवा सामायिक पाठ आदि को भूल जाना **अस्मरण** कहलाता है। इन सब अतिचारों को जानकर यदि कोई यह सोचे कि इससे तो अच्छा है कि सामायिक ही न की जाय तो अतिचार क्यों लगेंगे, किन्तु ऐसा विचार उचित नहीं है।

प्रारम्भ में तो मुनियों के भी एकदेश विराधना होना सम्भव है, किन्तु इतने मात्र से सामायिकव्रत भंग नहीं होता है। 'मैं मनसे पापकर्म नहीं करूंगा'। इत्यादि प्रत्याख्यानों में किसी एक का भंग होने पर भी शेष प्रत्याख्यान रहने से सामायिक का अत्यन्ताभाव नहीं होता। अतः ये पांचों अतिचार ही हैं, व्रतभंग नहीं है। धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से अनेक भेद बताये हैं उनका चिन्तन करने से भी चित्त की एकाग्रता हो जाती है। इसलिए सामायिक के साथ ध्यान का अभ्यास करना चाहिए ॥ १५ ॥ १०५ ॥

अथेदानीं प्रोषधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रतं व्याचक्षाणः प्राह—

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्य्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ।।१६।।

प्रोषधोपवासः पुनर्ज्ञातव्यः । कदा ? पर्वणि चतुर्दश्यां । न केवलं पर्वणि, अष्टम्यां च । किं पुनः प्रोषधोपवासशब्दाभिधेयं ? प्रत्याख्यानं । केषां ? चतुरभ्यवहार्याणां चत्वारि अशनपानखाद्यलेह्यलक्षणानि तानि चाभ्यवहार्याणि च भक्षणीयानि तेषां । किं कस्यांचिदेवाष्टम्यां चतुर्दश्यां च तेषां प्रत्याख्यानमित्याह—सदा सर्वकालं । काभिः इच्छाभिर्व्रतविधानवाञ्छाभिस्तेषां प्रत्याख्यानं न पुनर्व्यवहारकृतधरणकादिभिः ।।१६।।

प्रोषधोपवास नामक शिक्षाव्रत का व्याख्यान करते हुए कहते हैं—

(पर्वणि) चतुर्दशी (च) और (अष्टम्यां) अष्टमी के दिन (सदा) सर्वदा के लिए (इच्छाभिः) व्रतविधान की वाञ्छा से (चतुरभ्यवहार्याणां) चार प्रकार के आहारों का (प्रत्याख्यानं) त्याग करना (प्रोषधोपवासः) प्रोषधोपवास (ज्ञातव्यः) जानना चाहिए ।

टीकार्थ—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी–पर्व के दिनों में अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चार प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोषधोपवासव्रत कहलाता है । यहां पर जो 'सदा' शब्द दिया है उससे यह सिद्ध होता है कि चार प्रकार के आहार का त्याग सदा के लिए अर्थात् जीवनपर्यन्त की प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी के लिए होना अनिवार्य है । यह त्याग व्रत की भावना से होना चाहिए । न कि लोक व्यवहार में किये गये धरणा आदि की भावना से अर्थात्–अपनी किसी मांग को स्वीकार करने के लिए त्याग आदि करना धरणा है । ऐसे त्याग को प्रोषधोपवास नहीं कहते हैं ।

विशेषार्थ—"उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यतः ।
वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासोऽभिधीयते ।।" अमितगतिश्रावकाचार

पूज्यपाद स्वामी ने उपवास की इस प्रकार निरुक्ति की है । यथा–'शब्दादि ग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापि इन्द्रियाण्युपेत्य तस्मिन्वसन्तीत्युपवासः' जिसमें पाँचों इन्द्रियां अपने-अपने शब्दादि विषयों को ग्रहण करने में उदासीन रहती हैं, उसे उपवास कहते हैं । अथवा 'प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः' अर्थात् पर्व के दिनों में उपवास करने को प्रोषधोपवास कहते हैं । पूज्यपाद स्वामी के अनुसार प्रोषध शब्द

पर्व का पर्यायवाची है अर्थात् प्रोषध और पर्व शब्द का अर्थ एक ही है। किन्तु आचार्य समन्तभद्रस्वामी के अनुसार एक बार भोजन करने को प्रोषध कहते हैं। तथा अशन, स्वाद्य, खाद्य और लेह्य के भेद से चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास कहा जाता है। अष्टमी और चतुर्दशी पर्व कहलाते हैं। उपवास पर्व के दिनों में किया जाता है। एक मास में चार पर्व आते हैं। प्रोषधोपवास वाले उपवास के पहले दिन अर्थात् सप्तमी और त्रयोदशी को एक बार भोजन करे। फिर अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करके नौमी और अमावस्या या पूर्णिमा के दिन भी एक बार भोजन करे इसे प्रोषधोपवास कहते हैं। यदि उपवास से पहले दिन और उपवास से अगले दिन दोनों बार भोजन किया जाय और पर्व के दिन उपवास किया जाय तो उसे प्रोषधोपवास नहीं कहते हैं। वह तो मात्र उपवास है। अतः आचार्य समन्तभद्र की व्युत्पत्ति ही अधिक संगत प्रतीत होती है। पं० आशाधरजी ने अपनी टीका में चतुर्भुक्ति के दो अर्थ किये हैं—चार प्रकार की भुक्ति और चार प्रकार भुक्ति क्रिया। अर्थात् चारों प्रकार के भोज्य पदार्थों का त्याग तथा चार बार भोजन करने का त्याग प्रोषधोपवास है। अर्थात् उपवास के पहले दिन और दूसरे दिन एक-एक बार और उपवास के दिन दोनों इस तरह चार बार भोजन जिस उपवास में छोड़ा जाता है वह प्रोषधोपवास है। प्रोषधोपवास तपका रूप है और तप शक्ति के अनुसार किया जाता है। मानव की शक्ति सदा एक समान नहीं रहती अवस्था के अनुसार बदल जाती है, प्रकृति भी उसे अपने प्रभाव से प्रभावित करती है। इसलिए आचार्यों ने प्रोषधोपवास, उपवास, अनुपवास और एकाशन नाम दिये हैं। इन्हें उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य इन तीन भेदों में विभक्त किया है। किन्तु केवल चारों प्रकार के आहार का त्याग या चार बार भोजन का त्याग तो एक तरह से द्रव्य उपवास है। पूज्यपाद स्वामी ने उपवास शब्द का अर्थ चार प्रकार के आहार का त्याग ही किया है। आहार का त्याग इंद्रियों को शिथिल करने के लिए ही किया जाता है। इसलिये पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि अपने शरीर के संस्कार के कारण स्नान, गन्ध, माला, आभरण आदि से रहित तथा आरम्भरहित श्रावक किसी अच्छे स्थान में अर्थात् साधुओं के निवास में या चैत्यालय में या अपने प्रोषधोपवासगृह में धर्म कथा के चिन्तन में मन लगाकर उपवास करे।

जो उपवास करने में असमर्थ हैं उन्हें अनुपवास करना चाहिए। और जो अनुपवास भी करने में असमर्थ हैं उन्हें आचाम्ल तथा निर्विकृति आदि आहार करना

चाहिए। क्योंकि शक्ति के अनुसार किया गया तप ही कल्याणकारी होता है। आशाधरजी ने भी जघन्य प्रोषध का स्वरूप वसुनन्दी के अनुसार ही किया है। इमली के रस के साथ भात के भोजन को आचाम्ल कहते हैं। जिससे जिह्वा और मन विकार युक्त हों ऐसे भोजन को विकृति कहते हैं। गोरस, इक्षुरस, फलरस और धान्यरस के भेद से विकृति के चार भेद हैं। दूध घी आदि को गोरस कहते हैं। खांड, गुड़ आदि को इक्षुरस कहते हैं। दाख आम आदि के रस को फलरस कहते हैं। तेल मांड आदि को धान्यरस कहते हैं। अथवा जिसके साथ खाने से स्वादिष्ट लगे वह विकृति है, विकार से रहित भोजन को निर्विकृति कहते हैं ॥१६॥१०६॥

उपवासदिने चोपोषितेन किं कर्तव्यमित्याह—

पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् ।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥१७॥

उपवासदिने परिहृतिं परित्यागं कुर्यात्। केषां ? पंचानां हिंसादीनां। तथा अलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणां अलंक्रिया मण्डनं आरम्भो वाणिज्यादिव्यापारः गन्धपुष्पाणामित्युपलक्षणं रागहेतूनां गीतनृत्यादीनां। तथा स्नानाञ्जननस्यानां स्नानं च अञ्जनं च नस्यञ्च तेषाम् ॥१७॥

उपवास करने वाले व्यक्ति को उपवास के दिन क्या करना चाहिए यह कहते हैं—

(उपवासे) उपवास के दिन (पञ्चानां पापानां) पांच पापों का तथा (अलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणां) अलंकार धारण करना, खेती आदि का आरम्भ करना, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों का लेप करना, पुष्पमालाएँ धारण करना या पुष्पों को सूंघना (स्नानाञ्जननस्यानां) स्नान करना, अञ्जन-काजल, सुरमा आदि लगाना तथा नाक से नास आदि का सूंघना इन सबका (परिहृतिं) परित्याग (कुर्यात्) करना चाहिए।

टीकार्थ—उपवास करने वाले व्यक्ति को उपवास के दिन हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों का त्याग करना चाहिए। तथा शरीर-सज्जा, वाणिज्यादि व्यापार, गन्धपुष्प आदि के प्रयोग का और स्नान, अञ्जन, नस्यादि के

सेवन का त्याग करना चाहिए। यह सब उपलक्षण है अतः इसमें गीत, नृत्यादि राग के सभी कारणों का त्याग भी आ जाता है।

विशेषार्थ— उपवास करने का मूल उद्देश्य कषाय, इन्द्रिय विषय और आहार का त्याग करना है। मात्र आहार के त्याग करने और विषय-कषायों के त्याग न करने को तो लंघन कहा है, वह उपवास नहीं कहलाता, इसलिए आचार्य ने उपवास के दिन न करने योग्य कार्य भी बतलाये हैं। उपवास के दिन हिंसादि पंच पापों का त्याग करें और आभूषणों से शरीर को सजाने का त्याग करें, तथा गृहकार्य के निमित्त से होने वाले आरम्भ को और व्यापार के निमित्त से होने वाले आरम्भ को छोड़ें, सुगन्धित केशर कर्पूरादि तथा इत्र गन्ध आदि के ग्रहण का त्याग करें। यहां पर स्नान शब्द से तेल तथा उद्वर्तन आदि लगाकर विशेषरूप से स्नान का त्याग समझना चाहिए। शुद्ध प्रासुक जल से स्नान का निषेध नहीं है क्योंकि बिना स्नान के जिनेन्द्र भगवान की अभिषेक-पूजन आदि क्रिया नहीं हो सकती है।

नेत्रों में अंजन आदि न लगावे, नस्य न सूंघे; इसी प्रकार और भी पंचेन्द्रिय के भोगों का त्याग करे, क्योंकि इन्द्रियों के दर्प को नष्ट करने के लिए, प्रमाद-आलस्य को रोकने के लिये, आरम्भादि से विरक्त होने के लिए, धर्म मार्ग में दृढ़ रहने के लिए, स्पर्शन और जिह्वा इन्द्रियों को वश में करने के लिए तथा उपसर्ग-परीषह सहन करने के लिए उपवास किया जाता है। अपनी प्रशंसा एवं लाभ अथवा परलोक में राज्य-सम्पदा आदि की प्राप्ति के लिए उपवास नहीं किया जाता है। विषयों का अनुराग घटाने के लिये और आत्मा की शक्ति बढ़ाने के लिए उपवास करने से रस आदि की लम्पटता नष्ट हो जाती है, निद्रा पर विजय प्राप्त होती है। इस प्रकार उपवास का माहात्म्य जानकर शक्ति के अनुसार उपवास करना चाहिए ॥१७।१०७॥

एतेषां परिहारं कृत्वा किं तद्दिनेऽनुष्ठातव्यमित्याह—

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान् ।
ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥ १८ ॥

उपवसन्नुपवासं कुर्वन्। धर्मामृतं पिबतु धर्म एवामृतं सकलप्राणिनामाप्यायकत्वात् तत् पिबतु। काभ्यां ? श्रवणाभ्यां। कथंभूतः ? सतृष्णः साभिलाषः पिबन् न पुनरुपरोधादिवशात्। पाययेद वान्यान् स्वयमेवावगतधर्मस्वरूपस्तु अन्यतो धर्मामृतं

पिबन् अन्यानविदिततत्त्वस्वरूपान् पाययेत् तत् । ज्ञानाध्यानपरो भवतु, ज्ञानपरो द्वादशानुप्रेक्षाद्युपयोगनिष्ठः ।

अध्रुवाशरणे चैव, भव एकत्वमेव च ।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ ।।१।।
निर्जरा च तथा लोकबोधदुर्लभधर्मता ।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवैः ।।२।।

ध्यानपरः आज्ञापायविपाक संस्थानविचयलक्षणधर्मध्याननिष्ठो वा भवतु । किं विशिष्टः ? अतन्द्रालुः निद्रालस्यरहितः ।।१८।।

अब इनका त्यागकर उपवास के दिन क्या करना चाहिए, यह कहते हैं—

(उपवसन) उपवास करने वाला व्यक्ति (सतृष्णः) उत्कण्ठित होता हुआ (श्रवणाभ्यां) कानों से (धर्मामृत) धर्मरूपी अमृत को (पिबतु) स्वयं पीवे (वा) अथवा (अन्यान्) दूसरों को (पाययेत्) पिलावे (वा) अथवा (अतन्द्रालुः) आलस्य रहित होता हुआ (ज्ञानध्यानपरः) ज्ञान और ध्यान में तत्पर (भवतु) होवे ।

टीकार्थ—उपवास करने वाला धर्मरूपी अमृत को कानों से पीवे । धर्म को अमृत कहा है क्योंकि यह समस्त प्राणियों के सन्तोष का कारण है । यदि उपवास करने वाला व्यक्ति वस्तुस्वरूप का ज्ञाता नहीं है तो उत्सुकतापूर्वक अन्य विशिष्टजनों से धर्म के उपदेश को अपने कानों से सुने यदि स्वयं तत्त्ववेत्ता है तो दूसरों को धर्मोपदेश सुनावे तथा आलस्य-प्रमाद छोड़कर ध्यान-स्वाध्याय में लीन होते हुए अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारह भावनाओं के चिन्तन में उपयोग को लगावे अथवा आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय लक्षणरूप धर्मध्यान में तत्पर रहे ।

विशेषार्थ—उपवास का समय अर्थात् सोलहपहर किस प्रकार बिताना चाहिए इसका पूरा विवरण **पुरुषार्थसिद्धयुपाय** में दिया है, उसी को **अमितगतिआचार्य** और **वसुनन्दिआचार्य** ने थोड़ा विकसित किया है । इन्हीं सबका निचोड़ **सागारधर्मामृत** में **पं० आशाधरजी** ने दिया है । पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा है—प्रतिदिन स्वीकृत किये गये सामायिक संस्कार को स्थिर करने के लिये दोनों पक्षों के आधे भाग में अर्थात् अष्टमी चतुर्दशी को उपवास अवश्य करे । इसकी विधि इस प्रकार है—समस्त आरम्भ

से मुक्त होकर तथा शरीरादि में ममत्व त्यागकर प्रोषधोपवास के दिन से पहले के दिन अर्धभाग में उपवास ग्रहण करे और निर्जन वसतिका में जाकर सम्पूर्ण सावद्ययोग को त्यागकर तथा सब इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर कायगुप्ति, मनोगुप्ति, वचनगुप्तिपूर्वक रहे।

धर्मध्यानपूर्वक दिवस बिताकर संध्याकालीन कृतिकर्म करके पवित्र संस्तर पर स्वाध्यायपूर्वक रात्रि बितावे। प्रातः उठकर प्रातःकालीन क्रिया करके प्रासुक द्रव्य से जिनभगवान की पूजा करे। इसी विधि से उपवास का दिन और दूसरी रात बिताकर तीसरे दिन का आधा भाग बितावे। इस तरह जो सम्पूर्ण सावद्य कार्यों को त्याग कर सोलह पहर बिताता है, उसके उस समय निश्चय ही सम्पूर्ण अहिंसाव्रत होता है।

यह सम्पूर्ण कथन **आचार्य अमृतचन्द्र** का है। अमितगति आचार्य ने भी तदनुसार कथन करते हुए कहा है कि उपवास स्वीकृत करने के दिन दूसरे पहर में भोजन करके आचार्य के पास जाकर भक्तिपूर्वक वन्दना कायोत्सर्ग करे। फिर पञ्चांग प्रणाम करके आचार्य के वचनानुसार उपवास स्वीकार करे, पुनः विधिपूर्वक कायोत्सर्ग करे, पश्चात् आचार्य की स्तुति करके वन्दना करे और दो दिन स्वाध्यायपूर्वक बितावे। आचार्य की साक्षीपूर्वक ग्रहण किया गया उपवास निश्चल रहता है। उपवास में मन-वचन-काय से समस्त भोगों और उपभोगों का त्याग करना चाहिए तथा पृथ्वी पर प्रासुक संस्तर बनाकर उस पर सोना चाहिए। असंयमवर्धक समस्त आरम्भ को छोड़ कर मुनि की तरह विरक्त चित्त रहना चाहिए। तीसरे दिन समस्त आवश्यक आदि करके अतिथि को भोजन कराकर फिर भोजन करना चाहिए। इस विधि से किया गया एक भी उपवास पाप को वैसे ही दूर कर देता है जैसे सूर्य अन्धकार को दूर करता है।

इस तरह सोलह पहर का उपवास करने वाला समस्त पापों से निवृत्त हो जाता है, उसके पूर्णरूप से अहिंसाव्रत होता है। देशव्रती श्रावक के भोगोपभोगमूलक स्थावर जीवों की हिंसा होती है किन्तु उपवास के दिन वह भोगोपभोग-विषयों का त्याग कर देता है, इस प्रकार हिंसादि पापों से रहित प्रोषधोपवास करने वाला व्यक्ति उपचार से महाव्रती अवस्था को प्राप्त कर लेता है। किन्तु प्रत्याख्यानावरण चारित्र मोहनीय का उदय रहने से पूर्ण संयमभाव को प्राप्त नहीं कर सकता ॥१८॥१०८॥

अधुना प्रोषधोपवासस्य लक्षणं कुर्वन्नाह—

**चतुराहारविसर्जन मुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः ।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥१९॥**

चत्वारश्च ते आहाराश्चाशनपानखाद्यलेह्यलक्षणाः । अशनं हि भक्तमुद्गादि, पानं हि पेयमथितादि, खाद्यं मोदकादि, लेह्यं रब्रादि, तेषां विसर्जनं परित्यजनमुपवासोऽभिधीयते । प्रोषधः पुनः सकृद्भुक्तिर्धारणकदिने एकभक्तविधानं । यत्पुनरुपोष्य उपवासं कृत्वा पारणकदिने आरम्भं सकृद्भुक्तिमाचरत्यनुतिष्ठति स प्रोषधोपवासोऽभिधीयते इति ॥ १९ ॥

प्रोषधोपवास का लक्षण कहते हैं—

[चतुराहारविसर्जनं] चार प्रकार के आहार का त्याग करना [उपवासः] उपवास है । [सकृद्भुक्तिः] एक बार भोजन करना [प्रोषधः] प्रोषध है और [यत्] जो [उपोष्य] उपवास करने के बाद पारणा के दिन [आरम्भं आचरति] एक बार भोजन करना है [सः] वह [प्रोषधोपवासः] प्रोषधोपवास है ।

टीकार्थ—आहार चार प्रकार का है—अशन, पान, खाद्य, लेह्य । भात, मूंग आदि अशन कहलाते हैं । छाछ आदि पीने योग्य वस्तु पेय कहलाती है । लड्डू आदि खाद्य है । रबड़ी आदि चाटने योग्य पदार्थ लेह्य हैं । इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है । एक बार भोजन करने को प्रोषध कहते हैं । धारणा के दिन एकाशन और पर्व के दिन उपवास करना पुनः पारणा के दिन एकाशन करना प्रोषधोपवास कहलाता है ।

विशेषार्थ—समन्तभद्रस्वामी प्रोषधोपवास का लक्षण एवं उपवास के दिन करने योग्य क्रिया और न करने योग्य क्रियाओं का वर्णन कर चुके हैं । अब यहां पर पुनः प्रोषधोपवास, प्रोषध और उपवास का लक्षण लिख रहे हैं । क्योंकि यहां पर प्रोषध का लक्षण भिन्न है । अन्य ग्रन्थों में प्रोषध का अर्थ पर्व-अष्टमी, चतुर्दशी लिखा है । अतः पर्व के दिन किया हुआ उपवास प्रोषधोपवास कहलाता है । यहां पर धारणा पारणा के दिन एक बार भोजन की चर्चा की गई है । सोलह पहर के पश्चात् वह गृहस्थ अन्य आरम्भादिक कार्य करने के लिए स्वतन्त्र हो जाता है ॥१९॥१०९॥

अथ केऽस्यातीचारा इत्याह—

से मुक्त होकर तथा शरीरादि में ममत्व त्यागकर प्रोषधोपवास के दिन से पहले के दिन अर्धभाग में उपवास ग्रहण करे और निर्जन वसतिका में जाकर सम्पूर्ण सावद्ययोग को त्यागकर तथा सब इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर कायगुप्ति, मनोगुप्ति, वचनगुप्तिपूर्वक रहे ।

धर्मध्यानपूर्वक दिवस बिताकर संध्याकालीन कृतिकर्म करके पवित्र संस्तर पर स्वाध्यायपूर्वक रात्रि बितावे । प्रातः उठकर प्रातःकालीन क्रिया करके प्रासुक द्रव्य से जिनभगवान की पूजा करे । इसी विधि से उपवास का दिन और दूसरी रात बिताकर तीसरे दिन का आधा भाग बितावे । इस तरह जो सम्पूर्ण सावद्य कार्यों को त्याग कर सोलह पहर बिताता है, उसके उस समय निश्चय ही सम्पूर्ण अहिंसाव्रत होता है ।

यह सम्पूर्ण कथन **आचार्य अमृतचन्द्र** का है । अमितगति आचार्य ने भी तदनुसार कथन करते हुए कहा है कि उपवास स्वीकृत करने के दिन दूसरे पहर में भोजन करके आचार्य के पास जाकर भक्तिपूर्वक वन्दना कायोत्सर्ग करे । फिर पञ्चांग प्रणाम करके आचार्य के वचनानुसार उपवास स्वीकार करे, पुनः विधिपूर्वक कायोत्सर्ग करे, पश्चात् आचार्य की स्तुति करके वन्दना करे और दो दिन स्वाध्यायपूर्वक बितावे। आचार्य की साक्षीपूर्वक ग्रहण किया गया उपवास निश्चल रहता है । उपवास में मन-वचन-काय से समस्त भोगों और उपभोगों का त्याग करना चाहिए तथा पृथ्वी पर प्रासुक संस्तर बनाकर उस पर सोना चाहिए । असंयमवर्धक समस्त आरम्भ को छोड़ कर मुनि की तरह विरक्त चित्त रहना चाहिए । तीसरे दिन समस्त आवश्यक आदि करके अतिथि को भोजन कराकर फिर भोजन करना चाहिए । इस विधि से किया गया एक भी उपवास पाप को वैसे ही दूर कर देता है जैसे सूर्य अन्धकार को दूर करता है ।

इस तरह सोलह पहर का उपवास करने वाला समस्त पापों से निवृत्त हो जाता है, उसके पूर्णरूप से अहिंसाव्रत होता है । देशव्रती श्रावक के भोगोपभोगमूलक स्थावर जीवों की हिंसा होती है किन्तु उपवास के दिन वह भोगोपभोग-विषयों का त्याग कर देता है, इस प्रकार हिंसादि पापों से रहित प्रोषधोपवास करने वाला व्यक्ति उपचार से महाव्रती अवस्था को प्राप्त कर लेता है । किन्तु प्रत्याख्यानावरण चारित्र मोहनीय का उदय रहने से पूर्ण संयमभाव को प्राप्त नहीं कर सकता ।।१८।।१०८।।

अधुना प्रोषधोपवासस्य लक्षणं कुर्वन्नाह—

ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे ।
यत्प्रोषधोपवासव्यतिलंघनपंचकं तदिदम् ॥२०॥

प्रोषधोपवासस्य व्यतिलंघनपंचकमतिचारपंचकं । तदिदं पूर्वार्धप्रतिपादितप्रकारं । तथा हि । ग्रहणविसर्गास्तरणानि त्रीणि । कथंभूतानि ? अदृष्टमृष्टानिदृष्टं दर्शनं जन्तवः सन्ति न सन्तीति वा चक्षुषावलोकनं मृष्टं मृदुनोपकरणेन प्रमार्जनं तदुभौ न विद्येते येषु ग्रहणादिषु तानि तथोक्तानि । तत्र बुभुक्षापीडितस्यादृष्टमृष्टस्यार्हदादि पूजोपकरणस्यात्मपरिधानाद्यर्थस्य च ग्रहणं भवति । तथा अदृष्टमृष्टायां भूमौ मूत्रपुरीषादेरुत्सर्गो भवति । तथा अदृष्टमृष्टे प्रदेशे आस्तरणं संस्तरोपक्रमो भवतीत्येतानि त्रीणि । अनादरास्मरणे च द्वे । तथा आवश्यकादौ हि बुभुक्षा पीडितत्वादनादरोऽनैकाग्रतालक्षणमस्मरणं च भवति ॥२०॥

प्रोषधोपवास के अतिचार कौन कौन से हैं, यह कहते हैं—

(यत्) जो (अदृष्टमृष्टानि) बिना देखे तथा बिना शोधे (ग्रहणविसर्गास्तरणानि) पूजा आदि के उपकरणों को ग्रहण करना, मलमूत्रादि को छोड़ना और संस्तर आदि को बिछाना तथा (अनादरास्मरणे) अनादर और अस्मरण हैं (तदिदं) वे ये (प्रोषधोपवासव्यतिलंघनपञ्चकं) प्रोषधोपवासव्रत के पांच अतिचार हैं ।

टीकार्थ—यहाँ पर जीव जन्तु हैं कि नहीं ? इस प्रकार चक्षु से अवलोकन करना दृष्ट कहलाता है और कोमल उपकरण से परिमार्जन करना मृष्ट कहलाता है । जिसमें ये दोनों न हों वह अदृष्टमृष्ट कहलाता है । अदृष्टमृष्ट का सम्बन्ध-ग्रहण, बिसर्ग, आस्तरण इन तीनों के साथ है । इसलिए अदृष्टमृष्ट ग्रहण, अदृष्टमृष्ट विसर्ग, अदृष्टमृष्टास्तरण ये तीन अतिचार हैं । **अदृष्टमृष्टग्रहण** अतिचार उसके होता है जो भूख से पीड़ित होकर अर्हन्तादि की पूजा के उपकरण तथा अपने वस्त्रादि को बिना देखे और बिना शोधे ग्रहण करता है । **अदृष्टमृष्टविसर्ग** जो भूख से पीड़ित होने के कारण बिना देखी बिना शोधी भूमि पर मलमूत्रादि विसर्जित करते हैं । **अदृष्टमृष्टास्तरण** भूख से पीड़ित होकर बिना देखी-बिना शोधी भूमि पर बिस्तर आदि बिछाना । इन तीन के सिवाय अनादर और अस्मरण ये दो अतिचार और हैं । यथा—भूख से पीड़ित होने के कारण आवश्यक कार्यों में आदर नहीं करना, उपेक्षा का होना अनादरनामक अतिचार है और चित्तविक्षिप्त होना एकाग्रता नहीं होना अस्मरण नामका अतिचार है ।

विशेषार्थ—प्रोषधोपवास के पांच अतिचार हैं। तत्त्वार्थसूत्र में भी इस व्रत के पांच अतिचार बतलाये हैं। 'अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि' अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितदान, अप्रत्य-वेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण, अनादर और अस्मरण।

पं० आशाधरजी ने भी इसी प्रकार से अतिचार बतलाये हैं। पुरुषार्थसिद्धयु-पाय में स्मृत्यनुपस्थान तथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्मरण नामका अतिचार है। इन सब में शब्द भेद है, अर्थभेद नहीं है। ग्रहण, आस्तरण, उत्सर्ग इन तीन के साथ अनवेक्षा और अप्रमार्जन लगता है। जन्तु हैं या नहीं, यह आंखों से देखना अवेक्षा है। और कोमल उपकरण से साफ करना-पोंछना, झाड़ना आदि प्रमार्जन है। ये दोनों नहीं होना अनवेक्षा और अप्रमार्जन है। यहां अनवेक्षा से दूर से देखना और अप्रमार्जन से दुष्टतापूर्वक प्रमार्जन करना भी लिया जाता है। ठीक से देखे बिना और कोमल उपकरण से साफ किये बिना अर्हन्तादि की पूजा के उपकरणों को, पुस्तकों को और अपने पहनने के वस्त्रादि को ग्रहण करना, तथा रखना, संस्तर बिछाना, मल-मूत्र आदि त्यागना ये तीन अतिचार हैं और भूख से पीड़ित होने से आवश्यकों में अथवा प्रोष-धोपवास में ही आदर का न होना जैसे—किसी के ग्रीष्मऋतु में उपवास की शक्ति क्षीण हो जाने से उत्साह भंग हो गया, केवल प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए उपवास करता है, उत्साहपूर्वक नहीं। और पर्व के दिन का स्मरण नहीं रहना कि आज अष्टमी है कि नहीं। अनादर और अस्मरण ये दो अतिचार सामायिक शिक्षाव्रत में भी आते हैं। वहां उनका सामायिक से सम्बन्ध है। यहाँ पर प्रोषधोपवास से सम्बन्ध है।

सोमदेवसूरि ने कहा है—बिना देखे, बिना मार्जित किये किसी भी सावद्य कार्य को करना, बुरे विचार लाना, सामायिक आदि आवश्यक कर्मों को न करना ये सब काम प्रोषधोपवासव्रत के घातक हैं ॥२०॥११०॥

इदानीं वैयावृत्यलक्षणशिक्षाव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥२१॥

भोजनादिदानमपि वैयावृत्यमुच्यते। कस्मै दानं? तपोधनाय तप एव धनं यस्य तस्मै। किंविशिष्टाय? गुणनिधये गुणानां सम्यग्दर्शनादीनां निधिराश्रयस्तस्मै।

तथाऽगृहाय भावद्रव्यागाररहिताय। किमर्थं ? धर्माय धर्मनिमित्तं। किं विशिष्टं तद्दानं ? अनपेक्षितोपचारोपक्रियं उपचार: प्रतिदानं उपक्रिया मंत्रतन्त्रादिना प्रत्युपकरणं ते न अपेक्षिते येन। कथं तद्दानं ? विधिद्रव्यादिसम्पदा ॥२१॥

वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं—

(तपोधनाय) तपरूप धन से युक्त तथा (गुणनिधये) सम्यग्दर्शनादि गुणों के भण्डार (अगृहाय) गृहत्यागी-मुनीश्वर के लिए (विभवेन) विधि, द्रव्य आदि सम्पत्ति के अनुसार (अनपेक्षितोपचारक्रियम्) प्रतिदान और प्रत्युपकार की अपेक्षा से रहित (धर्माय) धर्म के निमित्त जो (दानं) दान दिया जाता है, वह (वैयावृत्यं) वैयावृत्य कहलाता है।

टीकार्थ—तप ही जिनका धन है तथा सम्यग्दर्शनादि गुणरूप निधि जिनके आश्रित है ऐसे, भाव आगार और द्रव्य आगार से रहित मुनीश्वरों के लिए धर्म के निमित्त प्रतिदान और मन्त्रतन्त्रादि प्रति उपकार की भावना की अपेक्षा से रहित आहारादि का दान देना वैयावृत्य कहलाता है।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्र में (७।३९) कहा है कि विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से दान के फल में विशेषता होती है। अतिथि को सम्यक् अर्थात् निर्दोष विभाग अर्थात् अपने लिये किये गये भोजन आदि का विभाग देना अतिथि संविभागव्रत है। समन्तभद्रस्वामी ने इसका नाम वैयावृत्य दिया है, इस व्रत का पालन श्रावक को नियम से करना चाहिए। ऐसा करने से अतिथि के न मिलने पर भी अतिथिदान का फल प्राप्त होता है।

आचार्य **सोमदेवसूरि** ने **उपासकाध्ययन** के तैंतालीसवें कल्प में और **आचार्य अमितगति** ने अपने श्रावकाचार के नवें परिच्छेद में दानका विस्तार से वर्णन किया है।

दान देने का उद्देश्य यही होना चाहिए कि इससे रत्नत्रय की वृद्धि होवे, दान के बदले मुनीश्वर हमें कुछ देवें अथवा मन्त्र तन्त्र आदि के द्वारा हमारा कुछ उपकार करें, ऐसी भावना नहीं होनी चाहिए। दान शक्ति के अनुसार देना चाहिए।

जिनका कोई घर नहीं है जो गुणों से सम्पन्न हैं, ऐसे तपस्वियों को बिना किसी प्रत्युपकार की भावना के अपने सामर्थ्य के अनुसार दान देना उसे वैयावृत्य कहा

है, तथा उनके गुणों में अनुराग रखते हुए उनके कष्टों को दूर करना, उनके पैर दबाना, आदि सब वैयावृत्य है। सात गुणों से सहित शुद्ध श्रावक के द्वारा पांच पाप क्रियाओं से रहित मुनियों को जो नवधाभक्ति से आहार दिया जाता है उसे दान कहते हैं।

अतिथि शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसका लक्षण बतलाते हैं। 'न तिथिर्यस्य-सोऽतिथिः' जिसकी कोई तिथि नहीं है, उसे अतिथि कहते हैं। अन्न का प्रयोजन शरीर की आयु पर्यन्त स्थिति है और शरीर की स्थिति का प्रयोजन ज्ञानादि की सिद्धि है। उस अन्न के लिए जो स्वयं बिना बुलाये संयम की रक्षा करते हुए सावधानतापूर्वक दाता के घर जाते हैं, वे अतिथि हैं।

ये अतिथि-साधु खाने के लिए नहीं जीते हैं, किन्तु जीवित रहने के लिए ही भोजन ग्रहण करते हैं। जीवित रहने का उद्देश्य है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र को पूर्ण करना। उनकी पूर्ति होना ही सिद्धि है। वह शरीर के बिना सम्भव नहीं है और शरीर की स्थिति भोजन के बिना सम्भव नहीं है।

कहा भी है—

कायस्थित्यर्थमाहारः, कायो ज्ञानार्थ मिष्यते।
ज्ञानं कर्मविनाशाय, तन्नाशे परमं सुखम् ॥

अर्थात्—शरीर की स्थिति के लिए भोजन है, शरीर ज्ञान के लिए है। ज्ञान कर्मविनाश के लिए है और कर्मविनाश होने पर परमसुख की प्राप्ति होती है।

अतः उसे स्वयं पूर्ण सावधानीपूर्वक चलाते हुए दाता के घर आहारार्थ जाना पड़ता है, ऐसे साधु को अतिथि कहते हैं। तथा तिथि से प्रयोजन है कि कोई निश्चित दिन, समय। वह जिनको नहीं है वह अतिथि है अर्थात् जिनके आने का काल नियत नहीं है। पूज्यपादस्वामी ने अतिथि शब्द के यही दो अर्थ किये हैं। सोमदेवसूरि ने एक नया ही अर्थ किया है। पांचों इन्द्रियों की अपने-अपने विषय में प्रवृत्ति ही पांच तिथियां हैं। और इन्द्रियों की अपने विषय में प्रवृत्ति संसार का कारण है अतः उनसे जो मुक्त है, वह अतिथि है। ॥२१॥१११॥

न केवलं दानमेव वैयावृत्यमुच्यतेऽपि तु—

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ।।२२।।

व्यापत्तयो विविधा व्याध्यादिजनिता आपदस्तासां व्यपनोदोविशेषेणापनोदः स्फेटनं यत्तद्वैयावृत्यमेव । तथा पदयोः संवाहनं पादयोर्मर्दनं । कस्मात् ? गुणरागात् भक्तिवशादित्यर्थः न पुनर्व्यवहारात् दृष्टफलापेक्षणाद्वा । न केवलमेतावदेव वैयावृत्यं किन्तु अन्योऽपि संयमिनां देशसकलव्रतानां सम्बन्धी यावान् यत्परिमाण उपग्रहउपकारः स सर्वो वैयावृत्यमेवोच्यते ।।२२।।

केवल दान ही वैयावृत्य नहीं कहलाता है किन्तु संयमीजनों की सेवा भी वैयावृत्य कहलाती है, यह कहते हैं—

(गुणरागात्) सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्रीति से (संयमिनां) देशव्रत और सकलव्रत के धारक संयमीजनों की (व्यापत्तिव्यापनोदः) आई हुई नाना प्रकार की आपत्ति को दूर करना (पदयोः) पैरों का, उपलक्षण से हस्तादिक अङ्गों का (संवाहनं) दाबना (च) और इसके सिवाय (अन्योऽपि) अन्य भी (यावान्) जितना (उपग्रह) उपकार है (सः) वह सब (वैयावृत्यम्) वैयावृत्य (उच्यते) कहा जाता है ।

टीकार्थ—संयमी दो प्रकार के हैं देशव्रती और सकलव्रती । इन संयमीजनों पर व्याधि आदि अनेक प्रकार की आयी हुई आपत्तियों को गुणानुराग–भक्ति से प्रेरित होकर दूर करना उनके पैर आदि अंगों का मर्दन करना–दबाना तथा अन्य भी अनुकूल सेवा वैयावृत्ति करना यह वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत है । यह वैयावृत्ति केवल व्यवहार अथवा किसी इष्टफल की अपेक्षा से न करके भक्ति के वशीभूत होकर की जाती है ।

विशेषार्थ—साधुओं पर यदि देव, मनुष्य तिर्यंच अथवा अचेतनकृत उपसर्ग हो जाय तो श्रावक का कर्तव्य है कि वह अपनी शक्ति को न छिपाते हुए उनका उपसर्ग दूर करे । मार्ग में यदि चोर भील आदि दुष्ट जीवों के द्वारा कष्ट पहुँचाने से परिणामों में क्लेश हो गया हो तो उनको धैर्य धारण कराना चाहिए । मार्ग में चलने से थकावट या श्रम होता है उसे दूर करने के लिए उनके पादमर्दन आदि करना, यदि रोगी हैं तो उनके संयम में मलिनता उत्पन्न न हो ऐसे यत्नाचार से आसन, शय्या, वसतिका शोधन, यत्न से उनको उठाना-बैठाना, शयन कराना, मल-मूत्रादिक की बाधा दूर करवाना,

स्वास्थ्य और संयम के अनुकूल आहार, औषधि आदि आहार में देना, आदि सब वैयावृत्य है।

आगम में मुनियों के छह अन्तरंग तप वर्णित हैं। उनमें वैयावृत्य भी एक तप है। इसका अर्थ है बाल-वृद्ध अथवा रुग्ण आदि मुनियों की सेवा, वैयावृत्ति करके उनको मार्ग में स्थिर रखना क्योंकि 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' परस्पर की सहानुभूति परस्पर एक दूसरे का उपकार करना ही मानव का कर्त्तव्य है। इस प्रकार के उपकार आदि से ही चतुर्विधसंघ का निर्वाह एवं संचालन हो सकता है। उमास्वामी आचार्य ने आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकार के मुनियों की वैयावृत्ति करने से वैयावृत्ति तप के दस भेद हो जाते हैं ऐसा कहा है। गृहस्थ भी शिक्षाव्रत के अन्तर्गत वैयावृत्यनामक शिक्षाव्रत का परिपालन करते हैं क्योंकि शिक्षाव्रतों के परिपालन करने से मुनि बनने की शिक्षा मिलती है। वैयावृत्य शिक्षाव्रत में सभी दान समाविष्ट हो जाते हैं। वैयावृत्ति ग्लानि छोड़कर समादरपूर्वक करनी चाहिए। स्वार्थवश की गई सेवा, वैयावृत्ति धर्म का अंग नहीं हो सकती। वैयावृत्ति अन्तरंग तप है और तप से कर्मों का संवर और निर्जरा होती है।२२।११२।

अथ किं दानमुच्यते इत्यत आह—

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥ २३ ॥

दानमिष्यते। कासौ ? प्रतिपत्तिः गौरवा आदरस्वरूपा। केषां ? आर्याणां सद्दर्शनादिगुणोपेतमुनीनां। किं विशिष्टानां ? अपसूनारम्भाणां सूनाः पंचजीवघातस्थानानि। तदुक्तम्—

खंडनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥१३॥

खंडनी उलूखलं, पेषणी घरट्टः, चुल्ली चुलूकः, उदकुंभः उदकघटः, प्रमार्जिनी बोहारिका। सूनाश्चारंभाश्च कृष्यादयस्तेऽपगता येषां तेषां। केन प्रतिपत्तिः कर्तव्या ? सप्तगुणसमाहितेन। तदुक्तं—

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्यं।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥

इत्येतैः सप्तभिर्गुणैः समाहितेन सहितेन तु दात्रा दानं दातव्यं । कैः कृत्वा ? नवपुण्यैः । तदुक्तं—

पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च ।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं ।।

एतैर्नवभिः पुण्यैः पुण्योपार्जन हेतुभिः ।।२३।।

आगे दान क्या कहलाता है, यह कहते हैं—

(सप्तगुणसमाहितेन) सात गुणों से सहित और (शुद्धेन) कौलिक, आचारिक तथा शारीरिक शुद्धि से सहित दाता के द्वारा (अपसूनारम्भाणां) गृह-सम्बन्धी कार्य तथा खेती आदि के आरम्भ से रहित (आर्याणां) सम्यग्दर्शनादि गुणों से सहित मुनियों का (नवपुण्यैः) नवधाभक्ति पूर्वक जो (प्रतिपत्तिः) आहारादि के द्वारा गौरव किया जाता है (तत्) वह (दानं) दान (इष्यते) माना जाता है ।

टीकार्थ—सम्यग्दर्शनादि गुण से सहित मुनियों का आहार आदि दान के द्वारा जो गौरव और आदर किया जाता है, वह दान कहलाता है । जीवघात के स्थान को सूना कहते हैं । सूना के पांच भेद हैं जैसे कि कहा है—**खण्डनी**—ऊखली से कूटना, **पेषणी**—चक्की से पीसना, **चुल्ली**—चूल्हा जलाना, **उदकुम्भ**—पानी भरना और **प्रमार्जिनी**—बुहारी से जमीन झाड़ना । गृहस्थ के ये पांच हिंसा के कार्य होते हैं इसलिए गृहस्थ मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता । खेती आदि व्यापार सम्बन्धी कार्य आरम्भ कहलाते हैं । जो पंचसूना और आरम्भ से रहित हैं, वे साधु हैं, ऐसे साधुओं को सात गुणों से सहित दाता के द्वारा दान दिया जाता है । जैसा कि कहा है—श्रद्धा सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा, सत्य ये सात गुण जिस दाता के होते हैं वह दाता प्रशंसनीय कहलाता है । इन सात गुणों के सिवाय दाता की शुद्धि होना भी आवश्यक है । दाता[१] की शुद्धता तीन प्रकार से बतलाई है, कुल से, आचार से और शरीर से । जिसकी वंश-परम्परा शुद्ध है वह कुलशुद्धि कही जाती है । जिसका आचरण शुद्ध है वह आचार शुद्धि है । जिसने स्नानादि कर शुद्ध वस्त्र पहने हैं, जो हीनांग, विकलांग नहीं है, तथा जिसके शरीर से खून पीपादि नहीं झरते हों वह कायशुद्धि है । दान नवधाभक्तिपूर्वक

१. संस्कृत टीका में शुद्धिपद की टीका छूटी हुई है । यहाँ अन्य ग्रन्थों के आधार से लिखा गया है ।

दिया जाता है । कहा भी है—पड़गाहन, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मन शुद्धि, वचनशुद्धि कायशुद्धि और आहारशुद्धि पुण्य उपार्जन के इन नौ कारणों के साथ आहार दान दिया जाता है । यही नवधाभक्ति कहलाती है ।

विशेषार्थ—इस श्लोक में दान, दाता, पात्र और दान की विधि बतलाई है । उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय में कहा है—'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गोदानम्' स्व-पर उपकार के लिए अपने द्रव्य को देना दान है ।

'विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः' दान देने की विधि विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दाताविशेष और पात्रविशेष होने से दान के फल में विशेषता आती है ।

विधिविशेष—पूर्वाचार्यों ने यथायोग्य भक्तिपूर्वक उपचार से विशेषता को प्राप्त प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पाद प्रक्षालन, पूजा, नमस्कार, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और एषणाशुद्धि अर्थात् भोजन की शुद्धि ये नौ विधियाँ बताई हैं । उत्तम पात्रों को दान देने की ये नौ विधियाँ हैं । अपने घर के द्वार पर यति को देखकर 'मुझ पर कृपा करें' ऐसी प्रार्थना करके तीन बार नमोस्तु; और तीन बार 'स्वामिन् ! तिष्ठ' कहकर ग्रहण करना प्रतिग्रह है । यति के स्वीकार करने पर उन्हें अपने घर के भीतर ले जाकर निर्दोष बाधा रहित स्थान में ऊँचे आसन पर बैठाना यह दूसरी विधि है । साधु के आसन ग्रहण कर लेने पर प्रासुक जल से उनके पैर धोना और उनके पाद प्रक्षालन के जल की वन्दना करना तीसरी विधि है । पैर धोने के बाद अष्टद्रव्य से साधु की पूजन करना चौथी विधि है । पूजन के बाद पंचांग नमस्कार करना छठी विधि है, इसके बाद चार शुद्धियाँ हैं ।

आहार देते समय आर्त्त, रौद्र, ध्यान का न होना मनःशुद्धि है । कठोर वचन न बोलना वचनशुद्धि है । जातिसंकरता, वर्णसंकरता, वीर्यसंकरता से रहित जिसकी पिण्डशुद्धि है तथा शरीर की बाह्यशुद्धि से सहित कायशुद्धि कहलाती है । चौदह मलदोषों से रहित आहार को यत्नपूर्वक शोधकर साधु के हस्तपुट में देना भोजनशुद्धि है । सभी पूर्वाचार्यों ने इन नौ उपायों को स्वीकार किया है । उक्त विधि आदर और भक्ति

अनगार धर्मामृत के पिण्डशुद्धि का कथन करने वाले पांचवें अध्याय में कहा गया है कि आहार, औषध, आवास, पुस्तक पिच्छिका आदि द्रव्य देने योग्य हैं। राग-द्वेष, असंयम, मद, दुःख आदि को उत्पन्न न करते हुए सम्यग्दर्शन आदि की वृद्धि का कारण होना यह उस द्रव्य की विशेषता है।

आचार्य अमृतचन्द्रजी ने भी कहा है कि जो राग-द्वेष असंयम मद दुःख

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जो धर्मात्माओं की सेवा में स्वयं तत्पर रहता है, उसमें आलस्य नहीं करता, उस शान्त दाता को भाक्तिक कहा है । अर्थात् वह पात्र के गुणों में अनुराग रखता है। जिसको पहले किये गये और वर्तमान में दिये जाने वाले दान से हर्ष होता है वह **तौष्टिक** है । अर्थात् दान देने से हर्ष का होना । देय में आसक्ति न होना तुष्टिगुण है। साधुओं को दान देने से, इच्छित फल की प्राप्ति होती है । ऐसी जिसकी श्रद्धा है वह दाता **श्रद्धागुण** से युक्त है अर्थात् पात्रदान से प्रतीति का होना श्रद्धा है । जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का सम्यक्रूप से विचार करके साधुओं को दान देता है वह दाता **ज्ञानी** है । अर्थात् द्रव्य आदि को जानना ज्ञान है । जो दान देने पर भी मन-वचन-काय से सांसारिक फल की याचना नहीं करता वह दाता **अलोलुपी** है । अर्थात् संसारिक फल की अपेक्षा न करना अलोलुपता है । जो साधारण स्थिति का होते हुए भी ऐसा दान देता है जिसे देखकर धनवानों को भी आश्चर्य होता है, वह दाता **सात्त्विक** है । अर्थात् सत्व एक ऐसा मनोगुण है जो दाता को उदार बनाता है । दुर्निवार कलुषता के कारण उत्पन्न होने पर भी जो किसी पर कुपित नहीं होता वह दाता **क्षमाशील** है । इस प्रकार दाता के सात गुण कहे ।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में दाता के सात गुण इस प्रकार कहे हैं—सांसारिक फल की अपेक्षा नहीं करना, अर्थात् अलोलुपता, क्षमा, निष्कपटता–बाहर में भक्ति करना और अन्तरंग में बुरे भाव नहीं रखना, अनसूया–अन्य दाताओं से द्वेषभाव न होना । अविषादखेद न होना । मुदित्व–दान से हर्ष होना और निरहंकारता ।

सोमदेव ने दान के तीन भेद किये हैं—राजस, तामस, और सात्त्विक । जो दान अपनी प्रसिद्धि की भावना से भी कभी-कभी ही दिया जाता है और तब दिया जाता है जब किसी के द्वारा दिये गये दान का फल देख लिया जाय, वह दान राजस है । पात्र और अपात्र को समान मानकर या पात्र को भी अपात्र के समान मानकर बिना किसी आदर-सम्मान और स्तुति के नौकर-चाकरों के उद्योग से जो दान दिया जाता है, वह दान तामस है । जो दान स्वयं पात्र को देखकर श्रद्धापूर्वक दिया जाता है, वह दान सात्त्विक है, इन तीनों दानों में सात्त्विक दान ही उत्तम है । राजस दान मध्यम है और तामसदान निकृष्ट है ।

पात्र का स्वरूप और भेद—जो जहाज की तरह अपने आश्रितों को अर्थात् दान के कर्ता, कराने वाले और दान की अनुमोदना करने वालों को संसार-समुद्र से

पार कर देता है, वह पात्र है। मुक्ति के कारण या मुक्ति ही जिसका प्रयोजन है उन सम्यग्दर्शन आदि गुणों के संयोग के भेद से पात्र के तीन भेद हैं—मुनि उत्तमपात्र, व्रतीश्रावक मध्यमपात्र और अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र है। गुणविशेष के सम्बन्ध से उन उत्तम, मध्यम और जघन्यपात्रों में परस्पर भेद है।

मुनि, यति या साधुओं में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नों का संयोग रहता है। श्रावक में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ एकदेश संयम रहता है। और असंयतसम्यग्दृष्टि में एकदेश भी संयम नहीं है। इस प्रकार गुणों के भेद से पात्र में भेद होता है।

दान का फल और उसकी विशेषता—दान का फल दान देने वाले और दान लेने वाले दोनों को ही मिलता है। जो दान ग्रहण करता है वह अपने धर्म-साधन में लगकर अपने आत्मिक गुणों की उन्नति करता है और जो दान देता है वह पुण्यकर्म का बन्ध करता है। यदि दान सात्त्विक होता है तो विशेष पुण्य का बन्ध होने से दाता भोगभूमि से लेकर स्वर्ग तक जाता है और वहां से चक्रवर्ती आदि पद प्राप्त करके मोक्ष चला जाता है। सोमदेवसूरि ने कहा है—जिससे अपना और परका उपकार हो वही दान है। जैसे खेती का मुख्य फल धान्य है, वैसे ही पात्र दान का मुख्य फल मोक्ष है। और खेती का आनुषंगिक फल भूसा है वैसे ही पात्रदान का आनुषंगिक फल भोग-प्राप्ति है ।।२३।।११३।।

इत्थं दीयमानस्य फलं दर्शयन्नाह—

गृहकर्मणापि निचितं कर्मविमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् ।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ।। २४ ।।

विमार्ष्टि स्फेटयति। खलु स्फुटं। किं तत्? कर्मपापरूपं। कथंभूतं? निचितमपि उपार्जितमपि पुष्टमपि वा। केन? गृहकर्मणा सावद्यव्यापारेण। कासौ कर्त्री? प्रतिपूजा दानं। केषां? अतिथीनां न विद्यते तिथिर्येषां तेषां। किंविशिष्टानां? गृहविमुक्तानां गृहरहितानां। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—रुधिरमलं धावते वारि। अलंशब्दो यथार्थे। अयमर्थो रुधिरं यथा मलिनमपवित्रं च वारि कर्तृ निर्मलं पवित्रं च धावते प्रक्षालयति तथा दानं पापं विमार्ष्टि ।।२४।।

इस प्रकार दिये जाने वाले दान का फल दिखलाते हुए कहते हैं—

(खलु) निश्चय से (अलं) जिस प्रकार (वारि) जल (रुधिरं) खून को (धावते) धो देता है, उसी प्रकार (गृहविमुक्तानां) गृह रहित निर्ग्रंथ (अतिथीनां) मुनियों के लिये दिया हुआ (प्रतिपूजा) दान (गृहकर्मणा) गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों से (निचितमपि) उपार्जित अथवा सुदृढ़ भी (कर्म) कर्मको (विमार्ष्टि) नष्ट कर देता है ।

टीकार्थ—जिनके सभी तिथियां एक समान हैं, ऐसे गृहत्यागी अतिथियों को दान देने से पापरूप व्यापारादि कार्यों से उपार्जित किये हुए घोर पाप भी नष्ट कर दिये जाते हैं । इसी अर्थ का समर्थन करने के लिए दृष्टान्त देते हैं—जिस तरह मलिन रक्त को पवित्र जल धो डालता है, उसी प्रकार दान देने से पापकर्म नष्ट हो जाते हैं ।

विशेषार्थ—गृहस्थ जीवन में सदा पंचसूना आरम्भ होते रहते हैं—जैसे ओखली में धान्य आदि कूटना, चक्की से गेहूं आदि धान्य पीसना, चूल्हा आदि जलाकर भोजन बनाना, पानी भरना, बुहारी आदि से सफाई करना, इसके अतिरिक्त व्यापार आदि आजीविका करना, इन सभी कार्यों में गृहस्थ सदा तत्पर रहता है और निरन्तर पाप कर्मों का संचय किया करता है । इन पाप कार्यों को करता हुआ गृहस्थ यदि सत्पात्र-मुनियों को आहार दानादि देता है तो उससे संचित हुआ पुण्य उस पूर्व संचित पापको उसी प्रकार धो देता है नष्ट कर देता है जिस प्रकार कि पानी अपवित्र खून को धो डालता है ।। २४ ।। ११४ ।।

साम्प्रतं नवप्रकारेषु प्रतिग्रहादिषु क्रियमाणेषु कस्मात् किं फलं सम्पद्यत, इत्याह—

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो, दानादुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ।।२५।।

तपोनिधिषु यतिषु । प्रणतेः प्रणामकरणादुच्चैर्गोत्रं भवति । तथा दानादशन-शुद्धिलक्षणाद्भोगो भवति । उपासनात् प्रतिग्रहणादिरूपात् सर्वत्र पूजा भवति । भक्तेर्गुणानुरागजनितान्तः श्रद्धाविशेषलक्षणायाः सुन्दररूपं भवति । स्तवनात् श्रुतजल-धीत्यादिस्तुतिविधानात् सर्वत्र कीर्तिर्भवति ।।२५।।

आगे पड़िगाहन आदि नौ प्रकार के पुण्य कार्यों के करने पर किससे कौनसा फल प्राप्त होता है ? यह कहते हैं—

(तपोनिधिषु) तप के खजाने स्वरूप मुनियों को (प्रणतेः) नमस्कार करने से (उच्चैर्गोत्रं) उच्चगोत्र, (दानात्) आहारादि दान देने से (भोगः) भोग, (उपासनात्) प्रतिग्रहण आदि करने से (पूजा) सम्मान, (भक्तेः) भक्ति करने से (सुन्दररूपं) सुन्दररूप और (स्तवनात्) स्तुति करने से (कीर्तिः) सुयश, (प्राप्यते) प्राप्त किया जाता है ।

टीकार्थ—यतियों-को प्रणाम करने से उच्चगोत्र का बंध होता है । भोजन की शुद्धिपूर्वक दान देने से भोगों की प्राप्ति होती है । पडगाहनादि करने से सर्वत्र पूजा-प्रभावना होती है । भक्ति–उनके गुणानुराग से उत्पन्न अन्तरंग में श्रद्धाविशेष से सुन्दर रूप और स्तुति अर्थात् 'आप ज्ञान के सागर स्वरूप हैं' इत्यादि स्तुति करने से कीर्ति प्राप्त होती है ।

विशेषार्थ—जिस कुल में मोक्षमार्ग का प्रवर्तन हो सके, वे उच्च कुलोत्पन्न उच्चगोत्री कहलाते हैं । जो तप के निधान हैं, पंचेन्द्रियों के विषयों से अत्यन्त विरक्त हैं, ऐसे अट्ठावीस मूलगुणों के धारक नग्न दिगम्बर साधु उत्तम पात्र को श्रद्धा से नमस्कार करने से उच्चगोत्र की प्राप्ति होती है । अर्थात् स्वर्ग लोक में जन्म होता है। वहाँ से आकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि पदों की प्राप्ति के योग्य उच्चगोत्र की प्राप्ति होती है । उत्तम पात्रों को दान देने से भोगभूमि के भोग अथवा स्वर्गलोक के भोगों को भोगकर मनुष्यों में राज्यलक्ष्मी आदि भोगों को पाकर अन्त में निर्वाण सुख की प्राप्ति होती है । साधुओं की सेवा उपासना-नवधाभक्ति आदि करने से सर्वत्र सम्मान की प्राप्ति होती है, इसे ही पूजा कहा है । साधुओं के गुणों में अनुराग रखने से श्रद्धा, भक्ति उत्पन्न होती है और भक्ति से सुन्दर रूप की प्राप्ति होती है । तथा इनका स्तवन करने से तीनों लोकों में फैलने वाली कीर्ति–सुयश की प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥ ११५ ॥

नन्वेवंविधं विशिष्टं फलं स्वल्पं दानं कथं सम्पादयतीत्या शंकाऽपनोदार्थमाह—

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले ।
फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥२६॥

अल्पमपि दानमुचितकाले । पात्रगतं सत्पात्रे दत्तं । शरीरभृतां संसारिणां । इष्टं फलं बह्वनेकप्रकारं सुन्दररूप भोगोपभोगादि लक्षणं फलति । कथम्भूतं ? छाया-विभवं छाया माहात्म्यं विभवः सम्पत् तौ विद्येते यत्र । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं क्षिती-त्यादिदृष्टान्तमाह । क्षितिगतं सुक्षेत्रे निक्षिप्तं यथा अल्पमपि वटबीजं बहुफलं फलति । कथं ? छायाविभवं छाया आतपनिरोधिनी तस्या विभवः प्राचुर्यं यथा भवत्येवं फलति ।। २६ ।।

कोई शंका करता है कि थोड़ासा दान इस प्रकार के विशिष्ट फल को कैसे सम्पन्न करता है, इस शंका को दूर करने के लिए कहते हैं—

(काले) उचित समय में (पात्रगतं) योग्य पात्र के लिये दिया हुआ (अल्पमपि) थोड़ा भी (दानं) दान (क्षितिगतं) उत्तम पृथ्वी में पड़े हुए (वटबीज-मिव) वटवृक्ष के बीज के समान (शरीरभृताम्) प्राणियों के लिए (छायाविभवं) माहात्म्य और वैभव से युक्त, पक्ष में छाया की प्रचुरता से सहित (बहु) बहुत भारी (इष्टं) अभिलषित (फलं) फलको (फलति) फलता है ।

टीकार्थ—सत्पात्र को दिया गया अल्प भी दान संसारी प्राणियों को सुन्दर रूप तथा भोगोपभोगादि अनेक प्रकार के इष्ट फल प्रदान करता है । दान के पक्ष में छाया विभवं का समास—'छाया माहात्म्यं विभवः सम्पत् तौ विद्येते यत्र' यह फलका विशेषण है । छाया का अर्थ माहात्म्य होता है, और विभव का अर्थ सम्पत्ति होता है । छाया और माहात्म्य ये दोनों जिस फल में विद्यमान हैं उस फल की प्राप्ति दान देने से होती है । जिस प्रकार उत्तम भूमि में बोया गया छोटासा वट का बीज प्राणियों को बहुत भारी छाया और बहुत अधिक रूप में फल प्रदान करता है । 'छाया-आतप-निरोधिनी तस्या विभवः प्राचुर्यं यथाभवत्येवं' इस प्रकार वटबीज पक्ष में छाया का अर्थ धूप का अभाव और विभव का अर्थ-प्राचुर्य अधिकता लिया गया है ।

विशेषार्थ—समन्तभद्रस्वामी इस श्लोक में यह बतला रहे हैं कि योग्य पात्र के लिए योग्य समय पर थोड़ासा भी दिया गया दान अधिक फलदायी हो जाता है । यहां वटवृक्ष का दृष्टान्त देते हुए बतला रहे हैं, जैसे—वटका छोटासा बीज यदि योग्य समय पर योग्य भूमि में डाल दिया जाता है तो वह आगे समय पाकर बहुत भारी छाया के साथ-साथ अनेक इष्ट फल प्रदान करता है । यहां आचार्यश्री ने वट बीज का

उदाहरण देना अधिक उपयुक्त समझा है क्योंकि सबसे अधिक वृद्धि वट वृक्ष की होती हुई देखी जाती है। उसी प्रकार सत्पात्र के लिए दिया गया थोड़ासा भी दान आगे चलकर समय पाकर विशिष्ट माहात्म्य ऐश्वर्य और भोगोपभोग की सम्पदारूप बहुत इष्ट फलों को प्रदान करता है।

दान में द्रव्य के साथ-साथ भावना का भी विशिष्ट माहात्म्य है। पात्रदान का अचिन्त्य फल है, पात्रदान के प्रभाव से सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो सकती है। सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि भी पात्रदान के प्रभाव से उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न हो जाते हैं, जहां पर तीन पल्य की आयु, शरीर की ऊंचाई तीन कोस, समचतुरस्रसंस्थान दस प्रकार के कल्प वृक्षों से सभी प्रकार की भोगोपभोग की वस्तुओं की प्राप्ति आदि होती है। भोगभूमि में स्त्री-पुरुष युगल ही उत्पन्न होते हैं। उत्तम भोगभूमि में तीन दिन के पश्चात् बेर फल के बराबर आहार करके भूख की वेदना शमित हो जाती है। यहां शीत-उष्ण की बाधा नहीं है, दिन-रात का कोई भेद नहीं है। सदा प्रकाश ही रहता है, शीतल मन्द सुगन्धित वायु सदा चलती रहती है। वहां की पृथ्वी रज, पाषाण, तृण, कांटे, कीचड़ आदि से रहित है। स्फटिक के समान स्वच्छ भूमि रहती है, वहां पर रोग-शोक, बुढ़ापे का क्लेश नहीं है, कोई किसी का स्वामी, सेवक नहीं है। यहां स्त्री-पुरुष युगल का मरण भी साथ ही होता है, पुरुष को मरण के समय छींक और स्त्री को जम्भाई आती है और उसी समय संतान युगल का जन्म होता है, माता-पिता का मरण हो जाता है। माता-पिता सन्तान का मुख नहीं देख पाते और सन्तान माता-पिता का मुख नहीं देखती। इसलिए इष्ट वियोगजनित दुःख भी नहीं होता।

आगम में पात्र तीन प्रकार के कहे हैं—उत्तमपात्र, मध्यमपात्र और जघन्यपात्र। उत्तमपात्र-दिगम्बर साधु, मध्यमपात्र व्रती श्रावक और जघन्यपात्र-अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक। पात्रदान के प्रभाव से सम्यग्दृष्टि स्वर्ग में उत्पन्न होता है। कुपात्र दान का फल कुभोगभूमि है और अपात्रदान का फल दुर्गति है ।।२६।।११६।।

तच्चैवंविधफलसम्पादकं दानं चतुर्भेदं भवतीत्याह—

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ।।२७।।

वैयावृत्यं दानं ब्रुवते प्रतिपादयन्ति । कथं ? चतुरात्मत्वेन चतुःप्रकारत्वेन । के ते ? चतुरस्राः पण्डिताः । तानेव चतुष्प्रकारान् दर्शयन्नाहारेत्याद्याह—आहारश्च, भक्तपानादिः औषधं च व्याधिस्फेटकं द्रव्यं तयोर्द्वयोरपि दानेन । न केवलं तयोरेव अपि तु उपकरणावासयोश्च उपकरणं ज्ञानोपकरणादिः आवासो वसतिकादिः ॥२७॥

इस प्रकार का फल देने वाला दान चार भेद वाला है, यह कहते हैं—

(चतुरस्रा) विद्वज्जन (आहारौषधयोः) आहार, औषध (च) और (उपकरणावासयोः अपि) उपकरण तथा आवास के भी (दानेन) दान से (वैयावृत्यं) वैयावृत्य को (चतुरात्मत्वेन) चार प्रकार का (ब्रुवते) कहते हैं ।

टीकार्थ—पण्डितों ने दान का चार प्रकार से निरूपण किया है । यथा—**आहार**-भक्त-पानादि को आहार कहते हैं । रोग दूर करने वाले द्रव्य को **औषधि** कहते हैं । ज्ञानोपकरणादिक को **उपकरण** कहते हैं । वसति आदि को **आवास** कहते हैं । इन चारों प्रकार की वस्तुओं को देने से वैयावृत्ति के चार प्रकार होते हैं ।

विशेषार्थ— वैयावृत्य का अर्थ दान भी है । वह दान चार प्रकार का है । आहारदान, औषधदान, उपकरणदान तथा वसतिदान अथवा अभयदान । आहारादि चार प्रकार के दान से पापों का नाश होता है । सम्पदा, आयु, काय ये सभी अस्थिर हैं । गार्हस्थ्य की सफलता तो दान से ही है । आहारादि दान के बिना गृहस्थ-जीवन में मात्र पापारम्भ ही किया जाय तो वह पापारम्भ पाषाण की नाव के समान केवल संसार में डुबोने वाला ही है । विवेकी गृहस्थ विचार करते हैं कि धन का उपार्जन अथवा पिता आदि से प्राप्त धन, राज्य, ऐश्वर्य, देश, नगर, वस्त्राभरण, सेवकादि जो सभी प्रकार की अनुकूल सामग्री प्राप्त हुई है, वह पूर्व जन्म में दान दिया था, दीन दुःखी जीवों का पालन-पोषण किया, उसी का फल है । लक्ष्मी तो चंचल है इसका संयोग हुआ है तो नियम से वियोग होगा ही । यह धन बड़े दुर्ध्यान से महापाप करने से प्राप्त हुआ है । तथा इसके रक्षण करने में महान् कष्ट हुआ, संक्लेश हुआ, एक दिन इसको छोड़कर अवश्य मरना ही है । इस संसार में अनेक करोड़पति अरबपति देखे जाते हैं किन्तु उनके भी भोगने में तो पेट भर अनाज और शरीर पर वस्त्र, सोने के लिए शरीर प्रमाण भूमि ही आती है किन्तु यह मानव तृष्णा के वशीभूत होकर रात-

दिन आर्त-रौद्रध्यान करता है जैसे-जैसे धन वृद्धि को प्राप्त होता है वैसे-वैसे तृष्णा भी बढ़ती जाती है। इस प्रकार इस जीव को दुर्ध्यान करते हुए अनन्तकाल व्यतीत हो गये। अब किंचित् शुभ कर्म के उदय से, मोहरूप निद्रा के उपशम होने से, जिनेन्द्र भगवान के वचनों के प्रभाव से जागृति प्राप्त हुई है, इसलिये आत्महित का साधन जो चार प्रकार का दान है उसे देना चाहिए। सभी दानों में आहारदान प्रधान है, जीवों का जीवन आहार से ही सुरक्षित है। इसलिये कोटि स्वर्णदान से भी आहारदान महत्त्वपूर्ण है। आहार से शरीर की रक्षा है, शरीर से रत्नत्रयधर्म का परिपालन होता है, और रत्नत्रय से निर्वाण सुख की प्राप्ति होती है। आहार बिना ज्ञानाभ्यास भी नहीं होता, न व्रत, तप-संयम का परिपालन हो सकता है और न प्रतिक्रमण सामायिक आदि हो सकते हैं, आहार के बिना परमागम का उपदेश भी नहीं हो सकता, आहार के बिना बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, शरीर की कान्ति नष्ट हो जाती है तथा कीर्ति, क्षान्ति, नीति, रीति, गति, शक्ति, द्युति, प्रीति, प्रतीति आदि सभी गुण नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

आहार के बिना प्राणी का मरण हो जाता है इसलिए आहार दान के समान उपकारक श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है।

रोग को दूर करने के लिए प्रासुक औषधिदान श्रेष्ठ है। क्योंकि शरीर में रोग की उद्भूति से संयमव्रत बिगड़ सकता है। ध्यान-स्वाध्याय का लोप हो जाता है, सामायिक आदि आवश्यक क्रिया नहीं हो सकती। रोग के निमित्त से आर्तध्यान हो जाता है, रोग वृद्धि के साथ-साथ संक्लेश की भी वृद्धि होने लगती है, रोगी व्यक्ति पराधीन हो जाता है इसलिए योग्य प्रासुक औषधिदान देकर रोग दूर करने का प्रयास करना ही श्रावक का कर्त्तव्य है।

ज्ञानदान के समान जगत् में और कोई उपकारक वस्तु नहीं है। ज्ञान के बिना मनुष्यजन्म पशु के समान है ज्ञान के बिना स्व-पर का विवेक नहीं हो सकता। ज्ञान से ही इस लोक और परलोक का ज्ञान होता है, ज्ञान से ही धर्म और पापको जान सकते हैं। ज्ञान से ही सच्चे देव, कुदेव, सुगुरु-कुगुरु आदि का भेद जाना जाता है। सच्चे ज्ञान बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

अन्य आचार्यों ने उपकरणदान के स्थान पर ज्ञानदान और आवासदान के स्थान पर अभयदान का उल्लेख किया है। ज्ञानदान में मात्र ज्ञान के उपकरण और

शास्त्रों का दान ही गर्भित है। किन्तु उपकरणदान में संयम के उपकरण मयूरपिच्छिका तथा शौच के उपकरण कमण्डलु का दान दोनों ही आ जाते हैं, आवासदान–वसतिकादान, अभयदान का ही एक रूप है। किन्तु अभयदान शब्द अधिक व्यापक है, क्योंकि इसमें प्राणिमात्र की रक्षा का भाव देखा जाता है।

पूज्यपादस्वामी और अकलंकदेव ने भिक्षा, औषध, उपकरण और प्रतिश्रय के भेद से अतिथिसंविभागव्रत के चार भेद माने हैं जो समन्तभद्रस्वामी की मान्यता के अनुरूप ही हैं ।।२७।।११७।।

तच्चतुष्प्रकारं दानं कि केन दत्तमित्याह—

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः सूकरश्च दृष्टान्ताः ।
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ।।२८।।

चतुर्विकल्पस्य चतुर्विधवैयावृत्यस्य दानस्यैते श्रीषेणादयो दृष्टान्ता मन्तव्याः।

तत्राहारदाने श्रीषेणो दृष्टान्तः। अस्य कथा—

मलयदेशे रत्नसंचयपुरे राजा श्रीषेणो राज्ञी सिंहनन्दिता द्वितीया अनिन्दिता च। पुत्रौ क्रमेण तयोरिन्द्रोपेन्द्रौ। तत्रैव ब्राह्मणः सात्यकिनामा ब्राह्मणी जम्बू, पुत्री सत्यभामा। पाटलिपुत्रनगरे ब्राह्मणो रुद्रभट्टो वटुकान् वेदं पाठयति। तदीयचेटिकापुत्रश्च कपिलनामा तीक्ष्णमतित्वात् छद्मना वेदं शृण्वन् तत्पारगो जातो। रुद्रभट्टेन च कुपितेन पाटलिपुत्रान्निर्घाटितः। सोत्तरीयं यज्ञोपवीतं परिधाय ब्राह्मणो भूत्वा रत्नसंचयपुरे गतः। सात्यकिना च तं वेदपारगं सुरूपं च दृष्ट्वा सत्यभामाया योग्योऽयमिति मत्वा सा तस्मै दत्ता। सत्यभामा च रतिसमये विटचेष्टां तस्य दृष्ट्वा कुलजोऽयं न भविष्यतीति सा सम्प्रधार्य चित्ते विषादं वहन्ती तिष्ठति। एतस्मिन् प्रस्तावे रुद्रभट्टस्तीर्थयात्रां कुर्वाणो रत्नसंचयपुरे समायातः। कपिलेन प्रणम्य निजधवलगृहे नीत्वा भोजनपरिधानादिकं कारयित्वा सत्यभामायाः सकललोकानां च मदीयोऽयं पितेति कथितम्। सत्यभामया चैकदा रुद्रभट्टस्य विशिष्टं भोजनं बहुसुवर्णं च दत्वा पादयोर्लगित्वा पृष्टं—तात! तव शीलस्य लेशोऽपि कपिले नास्ति, ततः किमयं तव पुत्रो भवति न वेति सत्यं मे कथय। ततस्तेन कथितं, पुत्रि! मदीयचेटिकापुत्रइति। एतदाकर्ण्य तदुपरि विरक्ता सा हठादयं मामभिगमिष्यतीति मत्वा सिंहनन्दिताग्रमहादेव्याः शरणं प्रविष्टा, तया च

सा पुत्री जाता। एवमेकदा श्रीषेणराजेन परमभक्त्या विधिपूर्वकर्मक कीर्त्यामितगतिचारण-मुनिभ्यां दानं दत्तम्। तत्फलेन राज्ञा सह भोगभूमावुत्पन्ना। तदनुमोदनात् सत्यभामापि तत्रैवोत्पन्ना। स राजा श्रीषेणो दानप्रथमकारणात् पारम्पर्येण शान्तिनाथतीर्थंकरो जातः। आहारदानफलम्।

औषधदाने वृषभसेनाया दृष्टान्तः। अस्याः कथा—

जनपददेशे कावेरीपत्तने राजोग्रसेनः, श्रेष्ठी धनपतिः, भार्या धनश्रीः, पुत्री वृषभसेना, तस्याधात्री रूपवती नामा। एकदा वृषभसेनास्नानजलगर्तायां रोगगृहीतं कुक्कुरं पतितलुठितोऽत्थितं रोगरहितमालोक्य चिन्तितं धात्र्या—पुत्रीस्नानजलमेवास्या-रोग्यत्वे कारणम्। ततस्तया धात्र्या निजजनन्या द्वादशवार्षिकाक्षिरोगगृहीतायाः कथिते तया लोचने तेन जलेन परीक्षार्थमेकदिने धौतदृष्टे च शोभने जाते। ततः सर्वरोगापनयने सा धात्री प्रसिद्धा तत्र नगरे संजाता। एकदोग्रसेनेन रणपिंगलमंत्री बहुसैन्योपेतो मेघ-पिंगलोपरि प्रेषितः। स तं देशं प्रविष्टो विषोदक सेवनात् ज्वरेण गृहीतः। स च व्याघुट्यागतः रूपवत्या च तेन जलेन नीरोगीकृतः। उग्रसेनोऽपि कोपात्तत्र गतः तथा ज्वरितो व्याघुट्यायातो रणपिंगलाज्जलवृत्तान्तमाकर्ण्य तज्जलं याचितवान्। ततो मंत्र उक्तो धनश्रिया भोः श्रेष्ठिन्! कथं नरपतेः शिरसि पुत्रीस्नानजलं क्षिप्यते? धनपति-नोक्तं यदि पृच्छति राजा जलस्वभावं तदा सत्यं कथ्यते न दोषः। एवं भणिते रूपवत्या तेन जलेन नीरोगीकृत उग्रसेनः। ततो निरोगेण राज्ञा पृष्टा रूपवती जलस्य माहात्म्यम्। तया च सत्यमेव कथितं। ततो राज्ञा व्याहूतः श्रेष्ठी, स च भीतः राज्ञः समीपमायातः। राजा च गौरवं कृत्वा वृषभसेना परिणेतुं स याचितः। ततः श्रेष्ठिना भणितं देव! यद्यष्टाह्निकां पूजां जिनप्रतिमानां करोषि तथा पंजरस्थान् पक्षिगणान् मुञ्चसि तथा गुप्तिषु सर्वमनुष्यांश्च मुञ्चसि तदा ददामि। उग्रसेनेन च तत् सर्वं कृत्वा परिणीता वृषभसेना पट्टरानी च कृता। अतिवल्लभया तयैव च सह विमुच्यान्यकार्यं क्रीडां करोति। एतस्मिन् प्रस्तावे यो वाराणस्याः पृथिवीचन्द्रो नाम राजा धृत आस्ते सोऽति-प्रचण्डत्वात्तद्विवाहकालेऽपि न मुक्तः। ततस्तस्य या राज्ञी नारायणदत्ता तया मंत्रिभिः सह मंत्रयित्वा पृथिवीचन्द्रमोचनार्थं वाराणस्यां सर्वत्रावारितसत्कारा वृषभसेनाराज्ञीनाम्ना कारितास्तेषु भोजनं कृत्वा कावेरीपत्तनं ये गतास्तेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यस्तं वृत्तान्तमाकर्ण्य रुष्टया रूपवत्या भणिता वृषभसेने! त्वं मामपृच्छन्ती वाराणस्यां कथं सत्कारान् कारयसि? तया भणितमहं न कारयामि किन्तु मम नाम्ना केनचित्कारणेन केनापि

कारिताः । तेषां शुद्धिं कुरु त्वमिति चरपुरुषैः कृत्वा यथार्थं ज्ञात्वा तया वृषभसेनायाः सर्वं कथितम् । तया च राजानं विज्ञाप्य मोचितः पृथ्वीचन्द्रः । तेन च चित्रफलके वृषभसेनोग्रसेनयो रूपे कारिते । तयोरधो निजरूपं सप्रणामं कारितम् । स फलकस्तयोर्दर्शितः भणिता च वृषभसेना राज्ञी—देवि ! त्वं मम मातासि त्वत्प्रसादादिदं जन्म सफलं मे जातं । तत उग्रसेनः सन्मानं दत्वा भणितवान् त्वया मेघपिंगलस्योपरि गंतव्यमित्युक्त्वा स च ताभ्यां बाराणस्यां प्रेषितः । मेघपिंगलोऽप्येतदाकर्ण्य ममायं पृथ्वीचन्द्रो मर्मभेदीति पर्यालोच्यागत्य चोग्रसेनस्यातिप्रसादितः सामन्तो जातः । उग्रसेनेन चास्थानस्थितस्य यन्मे प्राभृतमागच्छति तस्यार्धं मेघपिंगलस्य दास्यामि अर्धं च वृषभसेनाया इति व्यवस्था कृता । एवमेकदा रत्नकम्बलद्वयमागतमेकैकं सनामाङ्कं कृत्वा तयोर्दत्तं । एकदा मेघपिंगलस्य राज्ञी विजयाख्या मेघपिंगलकम्बलं प्रावृत्य प्रयोजनेन रूपवतीपार्श्वे गता । तत्र कम्बलपरिवर्तो जातः । एकदा वृषभसेनाकम्बलं प्रावृत्य मेघपिंगलः सेवायामुग्रसेनसभायामागतः राजा च तमालोक्यातिकोपाद्रक्ताक्षो बभूव । मेघपिंगलश्च तं तथाभूतमालोक्य ममोपरि कुपितोऽयं राजेति ज्ञात्वा दूरं नष्टः । वृषभसेना च रुष्टेनोग्रसेनेन मारणार्थं समुद्रजले निक्षिप्ता । तया च प्रतिज्ञा गृहीता यदि एतस्मादुपसर्गादुद्धरिष्यामि तदा तपः करिष्यामीति । ततो व्रतमाहात्म्याज्जलदेवतया तस्याः सिंहासनादिप्रातिहार्यं कृतम् । तच्छ्रुत्वा पश्चात्तापं कृत्वा राजा तमानेतुं गतः । आगच्छता वनमध्ये गुणधरनामाऽवधिज्ञानी मुनिर्दृष्टः । स च वृषभसेनया प्रणम्य निजपूर्वभव चेष्टितं पृष्टः । कथितं च भगवता । यथा—पूर्वभवेत्वमत्रैव, ब्राह्मणपुत्री नागश्री नामा जातासि । राजकीयदेवकुले सम्मार्जनं करोषि तत्र देवकुले चैकदाऽपराह्णे प्राकाराभ्यन्तरे निर्वातगर्तायां मुनिदत्तनामा मुनिः पर्यंककायोत्सर्गेण स्थितः । त्वया च रुष्टया भणितः कटकाद्राजा समायातोऽत्रागमिष्यतीत्युत्तिष्ठोत्तिष्ठ सम्मार्जनं करोमि लग्नेति ब्रुवाणायास्तत्र मुनिः कायोत्सर्गं विधाय मौनेन स्थितः । ततस्त्वया कचवारेण पूरयित्वोपरि सम्मार्जनं कृतम् । प्रभाते तत्रागतेन राज्ञा तत्प्रदेशे क्रीडता उच्छ्वसितनिःश्वसित प्रदेशं दृष्ट्वा उत्खन्य निःसारितश्च स मुनिः । ततस्त्वयात्मनिन्दां कृत्वा धर्मे रुचिः कृता । परमादरेण च तस्या मुनेस्त्वया तत्पीडोपशमशमनार्थं विशिष्टमौषधदानं वैयावृत्यं च कृतम् । ततो निदानेन मृत्वेह धनपतिधनश्रियोः पुत्री वृषभसेना नाम जातासि । औषधदानफलात् सर्वौषधिर्द्धिफलं जातम् । कचवारपूरणात् कलङ्किता च । इति श्रुत्वात्मानं मोचयित्वा वृषभसेना तत्समीपे आर्यिका जाता । औषधदानस्य फलम् ।

श्रुतदाने कौण्डेशो दृष्टान्तः । अस्य कथा—

कुरुमणिग्रामे गोपालो गोविन्दनामा । तेन च कोटरादुद्धृत्य चिरन्तनपुस्तकं प्रपूज्य भक्त्या पद्मनन्दिमुनये दत्तम् । तेन पुस्तकेन तत्राटव्यां पूर्वभट्टारकाः केचित् किल पूजां कृत्वा कारयित्वा च व्याख्यानं कृतवन्तः कोटरे धृत्वा च गतवन्तश्च । गोविन्देन च बाल्यात्प्रभृति तं दृष्ट्वा नित्यमेव पूजा कृता वृक्षकोटरस्यापि । एष स गोविन्दो निदानेन मृत्वा तत्रैव ग्रामकूटस्य पुत्रोऽभूत् । तमेव पद्मनन्दिमुनिमालोक्य जातिस्मरो जातः । तपो गृहीत्वा कौण्डेशनामा महामुनिः श्रुतधरोऽभूत् । इति श्रुतदानस्य फलम् ।

वसतिदाने सूकरो दृष्टान्तः । अस्य कथा—

मालवादेशे घटग्रामे कुम्भकारो देविलनामा नापितश्च धमिल्लनामा । ताभ्यां पथिक जनानां वसति निमित्तं देवकुलं कारितम् । एकदा देविलेन मुनये तत्र प्रथमं वसतिर्दत्ता, धमिल्लेन च पश्चात् परिव्राजकस्तत्रानीय धृतः । ताभ्यां च धमिल्ल परिव्राजकाभ्यां निःसारितः स मुनिर्वृक्षमूले रात्रौ दंशमशकशीतादिकं सहमानः स्थितः । प्रभाते देविलधमिल्लौ तत्कारणेन परस्परं युद्धं कृत्वा मृत्वाविन्ध्ये क्रमेण सूकरव्याघ्रौ प्रौढौ जातौ । यत्र च गुहायां स सूकरस्तिष्ठति तत्रैव च गुहायामेकदा समाधिगुप्त-त्रिगुप्तमुनि आगत्य स्थितौ । तौ च दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा देविलचरसूकरो धर्ममाकर्ण्य व्रतं गृहीतवान् । तत्प्रस्तावे मनुष्यगन्धमाघ्राय मुनिभक्षणार्थं स व्याघ्रोऽपि तत्रायातः । सूकरश्च तयोःरक्षानिमित्तं गुहाद्वारे स्थितः । तत्रापि तौ परस्परं युद्ध्वा मृतौ । सूकरो मुनिरक्षणाभिप्रायेण शुभाभिसन्धित्वात् मृत्वा सौधर्मे महर्द्धिको देवो जातः । व्याघ्रस्तु मुनिभक्षणाभिप्रायेणातिरौद्राभिप्रायत्वान्मृत्वा नरकं गतः । वसतिदानस्य फलम् ।।२८।।

चार प्रकार का दान किस-किस के द्वारा दिया गया, यह कहते हैं—

(श्रीषेणवृषभसेने) श्रीषेण, वृषभसेना (कौण्डेशः) कौण्डेश (च) और (शूकरः) सूकर (ऐते) ये (चतुर्विकल्पस्य) चार भेद वाले (वैयावृत्यस्य) वैयावृत्य के (दृष्टान्ताः) दृष्टान्त (मन्तव्याः) मानने के योग्य हैं ।

टीकार्थ—श्रीषेण राजा आहारदान में, वृषभसेना औषधदान में, कौण्डेश उपकरणदान में और शूकर आवासदान में दृष्टान्त हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

आहारदान में श्रीषेण राजा का दृष्टान्त है । इसकी कथा इस प्रकार है—

श्रीषेण राजा की कथा

मलयदेश के रत्नसंचयपुर में राजा श्रीषेण रहता था। उसकी बड़ी रानी का नाम सिंहनन्दिता और छोटी रानी का नाम अनिन्दिता था। दोनों रानियों के क्रम से इन्द्र और उपेन्द्र नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए। उसी नगर में सात्यकि नामका एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम जम्बू और पुत्री का नाम सत्यभामा था। पाटलिपुत्र नगर में एक रुद्रभट्ट नामका ब्राह्मण बालकों को वेद पढ़ाया करता था। उसकी दासी का पुत्र कपिल तीक्ष्णबुद्धि होने से छद्मपूर्वक वेद को सुनता हुआ उसका पारगामी विद्वान् हो गया। रुद्रभट्ट ने क्रुद्ध होकर उस कपिल को पाटलिपुत्र नगर से बाहर निकाल दिया।

वह कपिल दुपट्टे सहित यज्ञोपवीत धारण कर ब्राह्मण बन रत्नसंचय नगर में चला गया। सात्यकि ब्राह्मण ने उसे वेद का पारगामी तथा सुन्दर देख 'यह सत्यभामा के योग्य है' ऐसा मान उसके लिए सत्यभामा दे दी। सत्यभामा, रति के समय उसकी विट जैसी चेष्टा देखकर 'यह कुलीन है या नहीं ?' ऐसा विचार कर मन में खेद को धारण करती हुई रहती थी। इसी अवसर पर रुद्रभट्ट तीर्थयात्रा करता हुआ रत्नसंचय नगर में आया। कपिल उसे प्रणाम कर अपने सफेद गृह में ले गया तथा भोजन और वस्त्र आदि दिलाकर उसने सत्यभामा तथा अन्य समस्त लोगों के सामने कहा कि 'यह मेरा पिता है'। सत्यभामा ने एक दिन रुद्रभट्ट को विशिष्ट भोजन तथा बहुतसा सुवर्ण देकर उसके पैरों में लगकर पूछा कि हे तात ! कपिल में आपके स्वभाव का अंश भी नहीं है, इसलिए यह आपका पुत्र है अथवा नहीं यह मेरे लिए सत्य कहिये।' तदनन्तर रुद्रभट्ट ने कहा कि 'हे पुत्रि ! यह मेरी दासी का पुत्र है।' यह सुनकर वह उससे विरक्त हो गयी तथा 'यह हठपूर्वक मेरे पास आयेगा' ऐसा मानकर वह सिंहनन्दिता नामक बड़ी रानी की शरण में चली गयी। सिंहनन्दिता ने उसे पुत्री मानकर रख लिया। इस प्रकार एक दिन श्रीषेण राजा ने परमभक्ति से विधिपूर्वक अर्ककीर्ति और अमितगति नामक चारण मुनियों को दान दिया। उसके फल स्वरूप वह रानी राजा के साथ भोगभूमि में उत्पन्न हुई। सत्यभामा ने भी उस दान की अनुमोदना की थी, इसलिए वह भी उसी भोगभूमि में उत्पन्न हुई। राजा श्रीषेण आहारदान के कारण परम्परा से शान्तिनाथ तीर्थंकर हुए। यह आहारदान का फल है।

औषधदान में वृषभसेना का दृष्टान्त है। उसकी कथा—

वृषभसेना की कथा

जनपद देश के कावेरीपत्तन नगर में राजा उग्रसेन रहते थे। वहीं एक धनपति नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनश्री था। उन दोनों के वृषभसेना नामकी पुत्री थी। वृषभसेना की रूपवती नामकी धाय थी। एक दिन वृषभसेना के स्नानजल के गड्ढे में एक रोगी कुत्ता गिरकर जब उसमें लौटने के बाद निकला तो वह रोग रहित हो गया। उसे देखकर धाय ने विचार किया कि इसकी नीरोगता का कारण पुत्री का स्नानजल ही है। तदनन्तर धाय ने यह समाचार अपनी माता से कहा। उसकी माता बारह वर्ष से नेत्र रोग से पीड़ित थी। माता ने एक दिन परीक्षा के लिए अपने नेत्र उस जल से धोये तो धोने के साथ ही ठीक दिखने लगा। इस घटना से वह धाय उस नगर में सब रोगों को दूर करने वाली है, इस तरह प्रसिद्ध हो गयी।

एक समय राजा उग्रसेन ने अपने रणपिङ्गल नामक मन्त्री को बहुत सेना से युक्त कर मेघपिङ्गल पर चढ़ाई करने भेजा। मन्त्री ज्यों ही उस देश में प्रविष्ट हुआ त्यों ही विषमिश्रित पानी का सेवन करने से ज्वर से ग्रसित हो गया। जब वह लौटकर आया तब रूपवती धाय ने उसे उस जल से नीरोग कर दिया। राजा उग्रसेन भी क्रोधवश वहां गया और ज्वर से आक्रान्त हो लौटकर आ गया। रणपिङ्गल से जल का वृत्तान्त सुनकर राजा ने भी उस जल की याचना की। तदनन्तर धनश्री सेठानी ने सेठ से सलाह की कि हे श्रेष्ठिन्! राजा के सिर पर पुत्री के स्नान का जल कैसे डाला जावे? धनपति सेठ ने कहा कि यदि राजा जल का स्वभाव पूछता है तो सत्य कह दिया जावेगा उसमें दोष नहीं है। ऐसा कहने पर रूपवती धाय ने उग्रसेन राजा को उस जल से नीरोग कर दिया। तदनन्तर नीरोग राजा ने रूपवती से जल का माहात्म्य पूछा। रूपवती ने सब सत्य ही कह दिया। पश्चात् राजा ने सेठ को बुलाया और वह डरते-डरते राजा के पास आया। राजा ने सम्मान कर उससे वृषभसेना को विवाह देने की याचना की। तदनन्तर सेठ ने कहा कि 'हे राजन्! यदि तुम जिन प्रतिमाओं की आष्टाह्निक पूजा करते हो, पिंजड़ों में स्थित समस्त पक्षियों को छोड़ते हो और बन्दीगृह में स्थित सब मनुष्यों को बन्धन से मुक्त करते हो तो मैं अपनी पुत्री देता हूँ।' राजा उग्रसेन ने वह सब कर वृषभसेना को विवाह लिया तथा उसे पट्टरानी

बना दिया । राजा अन्य सब कार्यों को छोड़कर अतिशय प्रिय उसी वृषभसेना के साथ क्रीड़ा करने लगा ।

इसी अवसर पर वाराणसी का एक पृथ्वीचन्द्र नामक राजा उसके यहां कैद था । उसे अत्यन्त शक्तिशाली होने के कारण राजा ने वृषभसेना के विवाह के समय भी नहीं छोड़ा था । तदनन्तर पृथ्वीचन्द्र की जो नारायणदत्ता नामकी रानी थी उसने मन्त्रियों के साथ सलाह कर, पृथ्वीचन्द्र को छुड़वाने के लिए वाराणसी में सब जगह वृषभसेना रानी के नाम से ऐसे भोजनगृह खुलवाये, जिनमें किसी के लिए प्रवेश करने का निषेध नहीं था । उन भोजनगृहों में भोजन कर जो ब्राह्मणादिक कावेरीपत्तन गये थे उनसे उस वृत्तान्त को सुनकर रूपवती धाय ने रुष्ट हो वृषभसेना से कहा कि हे वृषभसेने ! तुम मुझ से बिना पूछे ही वाराणसी में भोजनगृह क्यों बनवा रही हो । वृषभसेना ने कहा कि मैं नहीं बनवा रही हूँ किन्तु मेरे नाम से किसी कारणवश किसी अन्य ने बनवाये हैं । तुम इसका पता लगाओ । तदनन्तर गुप्तचरों से पता लगवाकर तथा यथार्थ बात जानकर उसने वृषभसेना से सब समाचार कहा । वृषभसेना ने यह सब राजा से कहकर पृथ्वीचन्द्र को बन्धन से छुड़वा दिया ।

पृथ्वीचन्द्र ने एक चित्रपट्ट पर वृषभसेना और उग्रसेन के चित्र बनवाये तथा उनके नीचे प्रणाम करता हुआ अपना चित्र बनवाया । वह चित्रपट्ट उन दोनों के लिए दिखाया गया और वृषभसेना रानी से कहा गया कि हे देवी ! तुम मेरी माता हो, तुम्हारे प्रसाद से मेरा यह जन्म सफल हुआ है । तदनन्तर उग्रसेन ने सम्मान देकर कहा कि तुम्हें मेघपिङ्गल पर जाना चाहिए, ऐसा कहकर उन दोनों ने उसे वाराणसी भेज दिया । मेघपिङ्गल भी यह सुनकर तथा 'यह पृथ्वीचन्द्र मेरा मर्मभेदी है' ऐसा विचार कर आया और उग्रसेन से सम्मान प्राप्त कर उसका सामन्त बन गया । राजा उग्रसेन ने ऐसी व्यवस्था की कि राजसभा में स्थित रहते हुए मेरे लिये जो भेंट आती है उसका आधा भाग मेघपिंगल को दूंगा और आधा भाग वृषभसेना के लिए । इस प्रकार की व्यवस्था किये जाने पर एक दिन रत्नकम्बल भेंट में आये । राजा ने उसे नाम से चिह्नित कर एक-एक कम्बल दोनों के लिए दे दिया ।

एक दिन मेघपिङ्गल की रानी विजया, मेघपिङ्गल का कम्बल ओढ़कर किसी कार्य से रूपवती के पास गई । वहां उसका कम्बल बदल गया अर्थात् वह वृषभ-सेना के नाम से अंकित कम्बल ले आई और मेघपिङ्गल के नाम से अंकित कम्बल को

वहीं छोड़ आई। एक दिन वृषभसेना के कम्बल को ओढ़कर मेघपिंगल सेवा के समय राजा उग्रसेन की सभा में गया। और राजा उग्रसेन उस कम्बल को देखकर अत्यन्त क्रोध से लाल-लाल नेत्रों वाला हो गया। मेघपिंगल, उसे उस प्रकार देख, 'यह मेरे ऊपर कुपित है' ऐसा जानकर दूर चला गया। और क्रोध से युक्त राजा उग्रसेन ने मारने के लिए वृषभसेना को समुद्र के जल में फिकवा दिया। वृषभसेना ने प्रतिज्ञा की कि यदि इस उपसर्ग से उद्धार पा सकूंगी तो तप करूंगी। तदनन्तर व्रत के माहात्म्य से जल देवता ने उसके लिए सिंहासन आदि का अतिशय किया। यह सुनकर पश्चाताप करता हुआ राजा उसे लेने के लिए गया। वापिस आते हुए राजा ने वन के बीच गुणधर नामके एक अवधिज्ञानी मुनिको देखा। वृषभसेना ने नमस्कार कर उनसे अपने पूर्वभव का समाचार पूछा। भगवान मुनि ने कहा—कि तू पूर्वभव में इसी नगर में नागश्री नामकी ब्राह्मणपुत्री थी और राजा के देवमन्दिर में झाड़ने का कार्य करती थी। एक दिन उस मन्दिर में अपराह्न के समय कोट के भीतर वायु रहित गहरे स्थान में मुनिदत्त नामके एक मुनि पर्यङ्कासन से कायोत्सर्ग कर विराजमान थे। तूने क्रुद्ध होकर उनसे कहा कि कटक से राजा यहां आवेंगे, अतः तुम यहां से उठो, मुझे झाड़ना है। इस तरह तू कहती रही, परन्तु मुनि कायोत्सर्ग कर मौन से स्थित रहे। तदनन्तर तूने कचरे से उन्हें ढककर ऊपर से झाड़ू दे दी। प्रातःकाल जब राजा आया और क्रीड़ा करता हुआ उस स्थान पर पहुँचा तब उसने श्वास के कारण ऊंचे-नीचे होते हुए उस स्थान को देखकर खुदवाया और उन मुनिको बाहर निकाला। तदनन्तर तूने आत्म-निन्दा कर धर्म में श्रद्धा की और उन मुनि की पीड़ा को शान्त करने के लिए बड़े आदर से उन्हें विशिष्ट औषध दी तथा उनकी सेवा की। तदनन्तर निदान से मरकर तू यहां धनपति और धनश्री के वृषभसेना नामकी पुत्री हुई है। औषधदान के फल से तुम्हें सर्वौषधऋद्धि का फल प्राप्त हुआ है। तथा कचरे से ढकने के कारण तू कलंक को प्राप्त हुई है। यह सुनकर वृषभसेना अपने आपको राजा से छुड़ाकर उन्हीं मुनि के समीप आर्यिका हो गयी। यह औषधदान का फल है।

शास्त्रदान में कौण्डेश का दृष्टान्त है। उसकी कथा इस प्रकार है—

कौण्डेश की कथा

कुरुमणि ग्राम में गोविन्द नामका एक ग्वाला रहता था। उसने कोटर से निकालकर एक प्राचीन शास्त्र की पूजा की तथा भक्तिपूर्वक पद्मनन्दी मुनि के लिए

वह शास्त्र दे दिया । उस शास्त्र के द्वारा पहले के कितने ही मुनियों ने स्वयं पूजा करके तथा दूसरों से कराकर व्याख्यान किया था । उसके बाद वे उस शास्त्र को उसी कोटर में रखकर चले गये थे । गोविन्द बचपन से ही उस शास्त्र को देखकर नित्य ही उसकी पूजा करता था । यह वही गोविन्द निदान से मरकर उसी ग्राम में ग्राम प्रमुख का पुत्र हुआ । एक बार उन्हीं पद्मनन्दी मुनि को देखकर उसे जातिस्मरण हो गया, जिससे तप धारणकर वह कौण्डेश नामका बहुत बड़ा शास्त्रों का पारगामी मुनि हुआ। यह श्रुतज्ञान-शास्त्रदान का फल है ।

वसतिका दान में सूकर का दृष्टान्त है । इसकी कथा इस प्रकार है—

सूकर की कथा

मालवदेश के घट ग्राम में देविल नामका एक कुम्हार और धमिल्ल नामका एक नाई रहता था । उन दोनों ने पथिकों के ठहरने के लिए एक धर्म स्थान बनवाया। एक दिन देविल ने मुनि के लिए वहां पहले निवास स्थान दे दिया । पश्चात् धमिल्ल ने एक परिव्राजक को वहां लाकर ठहरा दिया । धमिल्ल और परिव्राजक ने उन मुनिराज को वहां से निकाल दिया, जिससे वे वृक्ष के नीचे रात भर डांस-मच्छर तथा शीत आदि की बाधा को सहन करते हुए ठहरे रहे । प्रातःकाल ऐसा करने से देविल और धमिल्ल दोनों में परस्पर युद्ध हुआ, जिससे दोनों मरकर विन्ध्याचल में (देविल) सूकर और (धमिल्ल) व्याघ्र हुए । वे क्रम-क्रम से बड़े हुए । जिस गुफा में वह सूकर रहता था उसी गुफा में एक दिन समाधिगुप्त और त्रिगुप्त नामके दो मुनि आकर ठहर गये । उन्हें देखकर देविल के जीव सूकर को जातिस्मरण हो गया, जिससे उसने धर्म श्रवण कर व्रत ग्रहण कर लिये । उसी समय मनुष्य की गन्ध को सूंघकर मुनियों का भक्षण करने के लिए वह व्याघ्र जो धमिल्ल का जीव था वह वहां आ पहुँचा । सूकर उन मुनियों की रक्षा के निमित्त गुफा के द्वार पर खड़ा हो गया । वहां भी वे दोनों परस्पर युद्ध कर मरे, सूकर ने मुनियों की रक्षा के अभिप्राय से अच्छे भावों को धारण किया था, इसलिए वह मरकर सौधर्मस्वर्ग में महान् ऋद्धियों को धारण करने वाला देव हुआ । परन्तु व्याघ्र मुनियों के भक्षण के अभिप्राय से खोटे भावों को धारण करने से मरकर नरक गया । यह वसतिदान का फल है ॥२८॥११८॥

यथा वैयावृत्यं विदधता चतुर्विधं दानं-दातव्यं तथा पूजाविधानमपि कर्तव्यमित्याह—

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ।।२९।।

आदृत: आदरयुक्तः नित्यं परिचिनुयात् पृष्टं कुर्यात् । किं ? परिचरणं पूजां । किंविशिष्टं ? सर्वदुःखनिर्हरणं निःशेषदुःखविनाशकं । क्व ? देवाधिदेवचरणे देवानामिन्द्रादीनामधिको वन्द्यो देवो देवाधिदेवस्तस्य चरण: पाद: तस्मिन् । कथंभूते ? कामदुहि वाञ्छितप्रदे । तथा कामदाहिनि कामविध्वंसके ।।२९।।

वैयावृत्य करने वाले श्रावक को जिस तरह चार प्रकार का दान देना चाहिए उसी तरह भगवान की पूजा भी करनी चाहिए यह कहते हैं—

(आदृत:) श्रावक को आदर से युक्त होकर (नित्यं) प्रतिदिन (कामदुहि) मनोरथों को पूर्ण करने वाले और (कामदाहिनि) काम को भस्म करने वाले (देवाधिदेवचरणे) अरहन्त भगवान के चरणों में (सर्वदुःखनिर्हरणं) समस्त दुःखों को दूर करने वाली (परिचरणं) पूजा (परिचिनुयात्) करनी चाहिए ।

टीकार्थ—इन्द्रादिक देवों के द्वारा वन्दनीय अरहन्त भगवान देवाधिदेव कहलाते हैं । उनके चरणकमल वाञ्छित फल देने वाले हैं और कामदेव को विध्वंस करने वाले हैं इसलिए गृहस्थों को चाहिए कि वे आदरपूर्वक प्रतिदिन अरहन्तदेव की पूजा करें क्योंकि उनकी पूजा समस्त दुःखों का नाश करने वाली है ।

विशेषार्थ—गृहस्थ के षट् आवश्यक कार्यों में देव पूजा का प्रमुख स्थान है। पूजा में चार बातों पर विचार किया जाता है । पूज्य, पूजा, पूजक और पूजा का फल । वीतराग सर्वज्ञदेव हमारे पूज्य हैं । अथवा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, जिनधर्म, जिनागम, जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर ये नौ देवता हैं । अरहन्त के प्रतिबिम्ब में नौ देवता गर्भित हो जाते हैं । क्योंकि आचार्य, उपाध्याय और साधु ये अरहन्त की पूर्व अवस्थायें हैं । अरहन्त अवस्था के पश्चात् नियम से सिद्धावस्था प्राप्त होती है । अरहन्त की वाणी जिनवचन है । और जिनेन्द्रवाणी के द्वारा प्रकाशित जो अर्थ है वह जिनधर्म है । एवं अरहन्त की प्रतिमा को जहां स्थापित किया जाता है वह

जिनालय है। इस प्रकार नौ देवतारूप अरहन्त भगवान के प्रतिबिम्ब का अभिषेक पूजन नित्य करना श्रावक का नित्यप्रति का कार्य है। अरहन्त भगवान सौ इन्द्रों के द्वारा पूजित हैं। इस प्रकार त्रिलोक के भव्यों के द्वारा वंद्य अरहन्तदेव के तदाकार प्रतिबिम्ब का सदाकाल अभिषेक-पूजन करना चाहिए।

पूजा दो प्रकार की है। द्रव्यपूजा और भावपूजा। अरहन्त भगवान के प्रतिबिम्ब की जल, चन्दनादि अष्ट द्रव्यों को चढ़ाकर पूजा करना द्रव्यपूजा है। तथा अरहन्त के गुणों में एकाग्रचित्त होकर अन्य समस्त विकल्प जाल छोड़कर अनुराग रखना, अरहन्त का ध्यान करना भावपूजा है। यद्यपि अरहन्तदेव पूजा से प्रसन्न होकर किसी को कुछ देते नहीं हैं। क्योंकि वे वीतराग हैं और निन्दा करने से अप्रसन्न होकर किसी की कुछ भी हानि नहीं करते क्योंकि वे वैर-विरोध से रहित हैं। किन्तु फिर भी अरहन्त भगवन्त की पूजा करने से जो पुण्य का संचय होता है उससे अनन्तभवों की बँधी हुई पाप कर्मों की परम्परा का नाश हो जाता है और मनोरथों की पूर्ति हो जाती है, तथा सुख की प्राप्ति और दुःखों का नाश हो जाता है। इस प्रकार से जो अरहन्त के गुणों में अनुरागी है, वह पूजक कहलाता है। तथा समस्त दुःखों का नाश हो जाना पूजा का फल है। आचार्यश्री ने 'कामदुहि कामदाहिनि देवाधिदेवचरणे' इन पदों के द्वारा पूज्य अरहन्त देव का वर्णन किया, तथा यह बतलाया कि जो वाञ्छित फलों को पूर्ण करने वाला हो और कामादि विकारीभावों का नाश करने वाला हो, वही पूज्य हो सकता है।

पूजा का वर्णन करते हुए आचार्य ने 'आदृत:' 'परिचरणं' शब्दों द्वारा यह प्रकट किया है कि पूजा करने वाला अत्यन्त आदर से देव, शास्त्र तथा गुरु की उनके अनुकूल परिचर्या करे अर्थात् अरहंत प्रतिमा का श्रद्धापूर्वक अभिषेक, पूजन करना, शास्त्रों की विनयपूर्वक सुरक्षा करना, और उनमें प्रतिपादित तत्त्वों का पठन, अवधारण, प्रचार करना तथा निर्ग्रन्थ मुनियों को नवधाभक्तिपूर्वक आहारदानादि देकर उनकी वैयावृत्ति करना, ये सब कार्य पूजक को करने चाहिए।

तथा पूजा के फल का वर्णन करते हुए 'सर्वदुःखनिर्हरणं' इस पद के द्वारा यह प्रकट किया है कि पूजा सब दुःखों को अर्थात् जन्म-मरण-जरा की परम्परा को समूल नष्ट करने वाली है। जिनेन्द्रवन्दन से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, जिनमन्दिर के निमित्त से ध्यान, स्वाध्याय, जप, हवन, तत्त्वचर्चा आदि शुभ क्रियायें होती हैं।

जिनेन्द्र भक्त निर्विकार जिनमुद्रा का दर्शन करते हुए यह भाव करता है कि आपके समान मेरी मुद्रा है, मेरा स्वरूप भी आपके समान है परन्तु मैं अपने स्वभाव को भूल कर विभावरूप परिणमन करता हुआ संसार के अनन्त दुःखों का भाजन बना हुआ हूँ अतः आपकी भक्ति-उपासना से मैं भी वीतराग-अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करूं यही चाहता हूँ, मैं संसार के सुखों का आकांक्षी अर्थात् विषयलोलुपी नहीं बनूं, न मुझे इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदों की कामना ही है क्योंकि ये सब पद तो अपद हैं, मुझे तो निजपद चाहिए, जो पद आपने प्राप्त किया है उसी की प्राप्ति मुझे भी हो, इस प्रकार की तीव्र शुभ भावना से मन में आह्लाद उत्पन्न होता है, इससे महान् पुण्यबन्ध और अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है, सभी मनोरथों की सिद्धि होती है, किसी भी भव-भवान्तर में पूजक भी पूज्य बन जाता है। भगवान की भक्ति में इस प्रकार की शक्ति पायी जाती है। यह अरहन्त भक्ति-पूजा का फल है कि उपासक भी एक दिन 'उपास्य' बन जाता है ॥ २९ ॥ ११९ ॥

पूजामाहात्म्यं किं क्वापि केन प्रकटितमित्याशंक्याह—

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥३०॥

भेको मण्डूकः। प्रमोदमत्तो विशिष्टधर्मानुरागेण हृष्टः। अवदत् कथितवान्। किमित्याह—अर्हदित्यादि। अर्हतश्चरणौ अर्हच्चरणौ तयोः सपर्या पूजा तस्याः महानुभावं विशिष्टं माहात्म्यं। केषामवदत् ? महात्मनां भव्य जीवानां। केन कृत्वा ? कुसुमेनैकेन। क्व ? राजगृहे।

अस्य कथा

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिकः, श्रेष्ठी नागदत्तः, श्रेष्ठिनी भवदत्ता। स नागदत्तः श्रेष्ठी सर्वदा मायायुक्तत्वान्मृत्वा निजप्राङ्गणवाप्यां भेको जातः। तत्र चागतामेकदा भवदत्ताश्रेष्ठिनीमालोक्य जातिस्मरो भूत्वा तस्याः समीपे आगत्य उपर्युत्प्लुत्य चटितः। तया च पुनः पुनर्निर्घाटितो रटति, पुनरागत्य चटति च। ततस्तया कोऽप्ययं मदीयो इष्टो भविष्यतीति सम्प्रधार्यावधिज्ञानी सुव्रतमुनिः पृष्टः। तेन च तद्वृत्तान्ते कथिते गृहे नीत्वा परमगौरवेणासौ धृतः। श्रेणिकमहाराजश्चैकदा वर्धमान-

स्वामिनं वैभारपर्वते समागतमाकर्ण्य आनन्दभेरीं दापयित्वा महता विभवेन तं वन्दितुं गतः। श्रेष्ठिन्यादौ च गृहजने वन्दनाभक्त्यर्थं गते स भेकः प्रांगणवापीकमलं पूजानिमित्तं गृहीत्वा गच्छन् हस्तिनः पादेन चूर्णयित्वा मृतः। पूजानुरागवशेनोपार्जित पुण्य प्रभावात् सौधर्मे महर्द्धिकदेवो जातः। अवधिज्ञानेन पूर्वभववृत्तान्तं ज्ञात्वा निजमुकुटाग्रे भेकचिह्नं कृत्वा समागत्य वर्धमानस्वामिनं वन्दमानः श्रेणिकेन दृष्टः। ततस्तेन गौतमस्वामी भेकचिह्नेऽस्य किं कारणमिति पृष्टः तेन च पूर्ववृत्तान्तः कथितः। तच्छ्रुत्वा सर्वो जनाः पूजातिशय विधाने उद्यताः संजाता इति ॥३०॥

आगे पूजा का माहात्म्य क्या कहीं किसी ने प्रकट किया है, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

(प्रमोदमत्तः) हर्ष से प्रमत्त (भेकः) मेंढक ने (राजगृहे) राजगृह नगर में (एकेन कुसुमेन) एक पुष्प के द्वारा (महात्मनां) भव्य जीवों के आगे (अर्हच्चरण-सपर्यामहानुभावं) अर्हन्त भगवान् के चरणों की पूजा का माहात्म्य (अवदत्) प्रकट किया था।

टीकार्थ—विशिष्ट धर्मानुराग से हर्षित मेंढक ने राजगृही नगरी में भव्य जीवों को यह बतलाया कि एक फूल से अर्हन्तभगवन्त के चरणों की पूजा करने वालों को क्या फल होता है। इसकी कथा इस प्रकार है—

मेंढक की कथा

मगधदेश के राजगृह नगर में राजा श्रेणिक, नागदत्त सेठ और उसकी भवदत्ता नामकी सेठानी रहती थी। वह नागदत्त सेठ सदा माया से युक्त रहता था। इसलिए मरकर अपने आंगन की बावड़ी में मेंढक हो गया। एक दिन भवदत्ता-सेठानी को आई हुई देख उस मेंढक को जातिस्मरण हो गया जिससे वह समीप आकर उसके ऊपर उछलकर चढ़ गया। सेठानी ने उसे बार-बार अलग किया। अलग करने पर टर्र-टर्र शब्द करता और फिर आकर उसके ऊपर चढ़ जाता। तदनन्तर सेठानी ने यह विचार किया कि यह मेरा कोई इष्ट होगा। ऐसा विचार कर उसने अवधिज्ञानी सुव्रत मुनि से पूछा। मुनि के द्वारा उसका वृत्तान्त कहे जाने पर सेठानी ने उसे घर ले जाकर बड़े गौरव से रखा।

एक बार श्रेणिक महाराज, वर्धमानस्वामी को वैभार पर्वत पर आया सुनकर आनन्द भेरी बजवाकर बड़े वैभव से उनकी वन्दना के लिए गये। सेठानी आदि को लेकर घर के अन्य लोग भी जब वन्दना भक्ति के लिए चले गये तब वह मेंढ़क पूजा के निमित्त आंगन की बावड़ी का कमल लेकर चला। जाता हुआ वह मेंढ़क हाथी के पाँव से कुचलकर मर गया और पूजा सम्बन्धी अनुराग के वश से उपार्जित पुण्य के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग में महान् ऋद्धियों को धारण करने वाला देव हुआ। अवधिज्ञान से पूर्वभव का वृत्तान्त जानकर अपने मुकुट के अग्रभाग में मेंढ़क का चिन्ह कर वह आया और वर्धमान स्वामी को वन्दना करते समय राजा श्रेणिक ने गौतमस्वामी से पूछा कि इसके मेंढक का चिन्ह रखने में क्या कारण है ? गौतमस्वामी ने उसका पूर्ववृत्तान्त कहा। उसे सुनकर सब लोग पूजा का अतिशय करने में उद्यत हो गये ॥३०॥१२०॥

इदानीमुक्तप्रकारस्य वैयावृत्यस्यातीचारानाह—

हरितपिधान निधानेह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।
वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥३१॥

पंचैते आर्यपूर्वार्धकथिता। वैयावृत्यस्य व्यतिक्रमाः कथ्यन्ते। तथाहि। हरितपिधाननिधाने हरितेन पद्मपत्रादिना पिधानं झंपनमाहारस्य। तथा हरिते तस्मिन् निधानं स्थापनं। तस्य अनादरः प्रयच्छतोऽप्यादराभावः। अस्मरणमाहारादिदानमेतस्यां वेलायामेवंविधपात्राय दातव्यमिति आहार्यवस्तुष्विदं दत्तमदत्तमिति वा स्मृतेरभावः। मत्सरत्वमन्यदातृदानगुणा सहिष्णुत्वमिति ॥३१॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययन-
टीकायां चतुर्थः परिच्छेदः।

अब उक्त प्रकार के वैयावृत्य सम्बन्धी अतिचार कहते हैं—

(हि) निश्चय से (हरितपिधाननिधाने) देने योग्य वस्तु को हरितपत्र आदि से ढकना तथा हरितपत्र आदि पर देने योग्य वस्तु को रखना (अनादरास्मरणमत्सरत्वानि) अनादर, अस्मरण और मत्सरत्व (एते पञ्च) ये पांच (वैयावृत्यस्य) वैयावृत्य के (व्यतिक्रमाः) अतिचार (कथ्यन्ते) कहे जाते हैं।

टीकार्थ—वैयावृत्य शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार कहते हैं, तद्यथा—हरे कमल पत्र आदि से आहार को ढकना **'हरितविधान'** नामका अतिचार है। हरे कमल पत्र आदि पर आहार को रखना **'हरितनिधान'** नामका अतिचार है। देते हुए भी आदर भाव नहीं होना **'अनादर'** नामका अतिचार है। आहारदान इस समय ऐसे पात्र के लिये देना चाहिए अथवा आहार में यह वस्तु दी है कि नहीं दी है इस प्रकार की स्मृति का अभाव होना **'अस्मरण'** नामका अतिचार है। अन्य दाता के दान तथा गुणों को सहन नहीं करना **'मात्सर्य'** कहलाता है। इस प्रकार वैयावृत्य के ये पाँच अतिचार कहे गये हैं।

विशेषार्थ—यहाँ पर वैयावृत्य अर्थात् चार प्रकार के दानों में आहार दान को प्रमुख बतलाते हुए उसके अतिचारों का वर्णन करते हैं—मुनिराज सचित्तवस्तु के त्यागी होते हैं, उनको प्रासुक अचित्त वस्तु ही आहार में देना चाहिए। परन्तु अचित्त वस्तु को सचित्त कमल पत्र आदि से ढ़क देना, सचित्त पिधान नामका अतिचार है। इसी प्रकार अचित्त पत्र आदि पर रखे हुए आहार को देना यह सचित्त निधान नामका अतिचार है। मुनिराज को अज्ञान या प्रमाद के वश से सचित्त में रखे हुए या सचित्त से ढका हुआ आहार देना अतिचार है।

मुनिराज अपने नगर में आ गये अथवा अन्यत्र कहीं पर भी बेगार समझकर कि क्या करें, इनको आहार नहीं देंगे तो ये बिना आहार के रह जावेंगे और हमारी निन्दा होगी इत्यादि उपेक्षा भाव से आहार देना अनादर नामक अतिचार है। आहारादि की विधि को भूल जाना अथवा क्या वस्तु देने योग्य है, क्या देने योग्य नहीं है यह अस्मरण नामका अतिचार है। मत्सर शब्द के अनेक अर्थ हैं, दूसरे दाता के गुणों को सहन नहीं करना जैसे—इस श्रावक ने यह दिया है तो क्या मैं इससे हीन हूँ इस प्रकार दूसरे से डाह करके दान देना मत्सर है। तथा एक दूसरे की सम्पत्ति को सहन नहीं करना या क्रोध करना, मत्सर है, साधु की प्रतीक्षा करते हुए कोप करना कि कितनी देर से खड़ा हूँ अभी तक कोई नहीं आया, यह भी मत्सर है, इस प्रकार से मत्सर शब्द के अनेक अर्थ होने से सब अतिचार घटित होते हैं। किन्तु जान बूझकर करने पर तो अतिचार न होकर व्रत का भंग ही है। **तत्त्वार्थसूत्र** में सचित्तनिक्षेप सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पाँच अतिचार बतलाये हैं, उनमें सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, मत्सर ये तीन अतिचार तो समन्तभद्रस्वामी के

समान ही हैं। किन्तु परव्यपदेश और कालातिक्रम ये दो अतिचार भिन्न हैं। दान स्वयं न देकर दूसरे दाता से दिलवाना परव्यपदेश है। अथवा स्वयं न देकर नौकर आदि से दिलवाना।

साधुओं के भिक्षा के समय को बिताकर अन्य समय में अतिथि की प्रतीक्षा करना, कालातिक्रम नामका अतिचार है। जो श्रावक मुनियों के भोजन के समय में भोजन न करके मुनियों के भोजन के समय से पहले या पीछे भोजन करता है उसके यह अतिचार होता है। इसलिए वैयावृत्य के पांच अतिचार टालकर महाविनय से शुद्ध दान देना चाहिए ।।३१।।१२१।।

इस प्रकार समन्तभद्रस्वामी द्वारा रचित उपासकाध्ययन की प्रभाचन्द्रविरचित टीका में चतुर्थ परिच्छेद (शिक्षाव्रताधिकार) पूर्ण हुआ।

सल्लेखना-प्रतिमाधिकारः पंचमः

अथ सागारेणाणुव्रतादिवत् सल्लेखनाप्यनुष्ठातव्या । सा च किं स्वरूपा कदा चानुष्ठातव्येत्याह—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१॥

आर्या गणधरदेवादयः । सल्लेखनामाहुः । किं तत् ? तनुविमोचनं शरीर-त्यागः । कस्मिन् सति ? उपसर्गे तिर्यङ्मनुष्यदेवाचेतनकृते । निःप्रतीकारे प्रतीकारा-गोचरे । एतच्च विशेषणं दुर्भिक्षजरारुजानां प्रत्येकं सम्बन्धनीयं । किमर्थं तद्विमोचनं ? धर्माय रत्नत्रयाराधनार्थं न पुनः परस्य ब्रह्महत्याद्यर्थं ॥१॥

आगे गृहस्थ को अणुव्रतादि के समान सल्लेखना भी धारण करनी चाहिए । उस सल्लेखना का क्या स्वरूप है तथा किस समय धारण करने योग्य है, यह कहते हैं—

(आर्याः) गणधरादिक देव (निःप्रतीकारे) प्रतीकार रहित (उपसर्गे) उपसर्ग, (दुर्भिक्षे) दुष्काल, (जरसि) बुढ़ापा (च) और (रुजायां) रोग के उपस्थित होने पर (धर्माय) धर्म के लिए (तनुविमोचनं) शरीर के छोड़ने को (सल्लेखना) सल्लेखना (आहुः) कहते हैं ।

टीकार्थ—उपद्रव को उपसर्ग कहते हैं, वह तिर्यंच, मनुष्य, देव और अचेतन-कृत इस प्रकार चार प्रकार का है । जब अन्न की एक दम कमी हो जाती है सभी जीव-जन्तु भूख से पीड़ित होने लगते हैं वह दुर्भिक्ष-अकाल कहलाता है । वृद्धावस्था के कारण शरीर अत्यन्त जीर्ण हो जाता है उसे जरा कहते हैं । रोग की उद्भूति को रुजा

कहते हैं। ये चारों इस रूप में उपस्थित हो जायें कि जिनका प्रतिकार नहीं हो सके तब रत्नत्रयधर्म की आराधना करने के लिए शरीर छोड़ने को सल्लेखना कहते हैं। किन्तु स्व और पर के प्राणघात के लिए जो शरीर का त्याग किया जाता है, वह सल्लेखना नहीं है।

विशेषार्थ—संसारी जीवों का मरण तीन प्रकार का है, च्युत, च्यावित और त्यक्त। आयु पूर्ण होने पर मृत्यु के द्वारा जो शरीर छूटता है उसे **च्युत** कहते हैं। आयु पूर्ण हुए बिना ही विष खा लेने से भयंकर वेदना उपस्थित हो जाने से, शरीर का रक्त समाप्त हो जाने से, अत्यन्त भय उपस्थित होने से, शस्त्र घात से, संक्लेश से, आहार के निरोध और श्वास के निरोध से असमय में शरीर छूट जाता है, वह **च्यावित है**। इसका नाम कदलीघात भी है जैसे—काटने से केला झट कट जाता है उसी प्रकार आकस्मिक मृत्यु में झट मरण हो जाता है इसलिये इसको कदलीघात मरण कहते हैं। तथा ऐसा घोर उपसर्ग आदि उपस्थित हो जावे कि जिसका प्रतिकार करना कठिन है उस अवसर पर रत्नत्रयधर्म की रक्षा के लिए जो शरीर छोड़ा जाता है उसे **त्यक्त** कहते हैं। धर्म की रक्षा के लिए शरीर की उपेक्षा करना आत्मघात नहीं है। जैनधर्म में समाधिपूर्वक मरण तभी किया जाता है जब मरण टालने से भी नहीं टलता। शरीर धर्म का साधन रहे तब तक रक्षा करने योग्य है, किन्तु उसकी रक्षा के पीछे धर्म का ही विनाश हो तो शरीर को बचाना अधर्म है।

पूज्यपादस्वामी ने सर्वार्थसिद्धि (७।२२) में एक दृष्टान्त दिया है। जैसे—एक व्यापारी जो अनेक प्रकार की विक्रय वस्तुओं के लेन-देन और संचय में लगा हुआ है। वह अपने माल और घर को नष्ट करना नहीं चाहता। यदि घर में आग लग जाये तो उसे बचाना तो शक्य नहीं है तो घर की चिन्ता नहीं करके घर में भरे हुए माल को बचाने की कोशिश करता है। उसी प्रकार गृहस्थ भी व्रत, शील रूपी धन के संचय में लगा हुआ है। वह यह नहीं चाहता कि जिस शरीर के द्वारा यह धर्म का व्यापार चलता है वह नष्ट हो जाय, यदि शरीर में रोगादिक होते हैं तो अपने व्रत, शील की रक्षा करते हुए शरीर की चिकित्सा करता है। किन्तु जब देखता है कि शरीर को बचाना शक्य नहीं है तो शरीर की चिन्ता न करके अपने धर्म का नाश न हो, ऐसा प्रयत्न करता है ऐसी स्थिति में वह आत्मघात नहीं कहलाता है। **अमृतचन्द्राचार्य** ने कहा है—जब मरण अवश्य होने वाला है तब कषायों को कृश करने में लगे हुए

पुरुष के रागादि के अभाव में आत्मघात कैसे हो सकता है ? हाँ, जो क्रोधादि कषायों में आकर श्वास निरोध, जल, अग्नि, विष या शस्त्रघात द्वारा प्राणों का घात करता है उसके आत्मघात अवश्य होता है। किन्तु रत्नत्रय की रक्षा के लिए आहारादि का त्याग किया जाता है वह अवश्य ही सल्लेखना है। इसी को समाधिमरण भी कहते हैं। सल्लेखना के भी तीन भेद हैं–भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन। जिसमें नियम अथवा यमरूप से आहारादि का त्याग किया जाता है उसे **भक्तप्रत्याख्यान** कहते हैं। इसका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और अन्तर्मुहूर्त से ऊपर और बारह वर्ष के बीच का समय मध्यमकाल कहलाता है।

समय की अवधि लेकर जो आहार का त्याग किया जाता है वह नियमरूप त्याग कहलाता है। तथा जीवन पर्यन्त के लिए आहार का त्याग किया जाता है वह यमरूप त्याग है।

भक्त प्रत्याख्यान नामक संन्यासमरण में क्षपक अपने शरीर की टहल स्वयं भी करता है और दूसरों से भी करवाता है, किन्तु जिस संन्यासमरण में अपने शरीर की सेवा स्वयं करता है, अन्य से नहीं करवाता वह इंगिनीमरण है।

जिस संन्यासमरण में अपने शरीर की टहल न तो स्वयं करता है और न दूसरों से ही करवाता है, वह प्रायोपगमन संन्यासमरण है ॥१॥१२२॥

सल्लेखनायां भव्यैर्नियमेन प्रयत्नः कर्त्तव्यः, यतः—

अन्तक्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥२॥

सकलदर्शिनः स्तुवते प्रशंसन्ति। किं तत् ? तपः फलं तपसः फलं तपः फलं सफलं तप इत्यर्थः। कथंभूतं सत् ? अन्तः क्रियाधिकरणं अन्ते क्रिया संन्यासः तस्या अधिकरणं समाश्रयो यत्तपस्तत्फलं। यत एवं तस्माद्यावद्विभवं यथाशक्ति। समाधिमरणे प्रयतितव्यं प्रकृष्टो यत्नः कर्त्तव्यः ॥२॥

सल्लेखना के विषय में भव्य जीवों को नियम से प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि—

(सकलदर्शिनः) सर्वज्ञ भगवान (अन्तक्रियाधिकरणं) संन्यास धारण करने को (तपः फलं) तप का फल (स्तुवते) कहते हैं (तस्मात्) इसलिए (यावद्विभवं) यथाशक्ति (समाधिमरणे) समाधिमरण के विषय में (प्रयतितव्यं) प्रयत्न करना चाहिए ।

टीकार्थ—अन्तिम समय में यानी जीवन के अन्त में संन्यास धारण करना ही तप का फल है, तप की सफलता है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं । अथवा सर्वदर्शी उसी तप के फल की प्रशंसा करते हैं, जो अन्त समय संन्यास का आश्रय लेता है, अतः समाधिमरण के लिए पूर्णरूप से प्रयत्न करना चाहिए ।

विशेषार्थ—जिस प्रकार चिरकाल तक शस्त्र-संचालन का अभ्यास करने वाला राजा युद्ध में हार जाता है तो उसका राज्य छिन जाता है, और उसे दुःखदायी अपयश मिलता है, उसका किया हुआ शस्त्र-अभ्यास निष्फल हो जाता है, उसी प्रकार चिरकाल तक धर्म की आराधना करने वाला यति मरते समय दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन आराधनाओं में चूक जावे तो उसका सल्लेखनापूर्वक मरण नहीं होता क्योंकि तप धारण करने का फल यही है कि अन्तिम सल्लेखना धारण करना । वह धनुर्धारी कैसा जो युद्ध में बाण चलाना भूल जावे, इसी प्रकार वह तपस्वी कैसा जो मरणकाल उपस्थित होने पर भी स्थिर रहकर धर्माराधना न करे अर्थात् संन्यासपूर्वक प्राणों का विसर्जन न करे । इसलिए अपनी शक्ति के अनुसार अन्त में संन्यास धारण करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए ।

मृत्युकाल में धर्म की विराधना नहीं करनी चाहिए । सोमदेवसूरि ने भी कहा है, यदि मरते समय मन मलिन हो गया तो यम नियम, स्वाध्याय, तप, देवपूजा, विधि, दान ये सब निष्फल हैं । अन्यत्र भी कहा है—जैसे असंख्यात करोड़ों वर्षों में बाँधा हुआ कर्म सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने पर एक क्षण में नष्ट हो जाता है उसी प्रकार से अन्तिम समय में की गई धर्माराधना से भी कर्मक्षय होता है ।।२।।१२३।।

तत्र यत्नं कुर्वाण एवं कृत्वेदं कुर्यादित्याह—

स्नेहं वैरं संगं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ।।३।।

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषम् ॥ ४ ॥ युगलं ॥

स्वयं क्षान्त्वा । प्रियैर्वचनैः स्वजनं परिजनमपि क्षमयेत् । किं कृत्वा ? अपहाय त्यक्त्वा । कं ? स्नेहमुपकारके वस्तुनि प्रीत्यनुबन्धं । वैरमनुपकारके द्वेषानुबन्धं । संगं पुत्रस्त्र्यादिकं । ममेदमहमस्येत्यादिसम्बन्धं परिग्रहं बाह्याभ्यन्तरं । एतत्सर्वमपहाय शुद्धमना निर्मलचित्तः सन् क्षमयेत् । तथा आरोपयेत् स्थापयेदात्मनि । किं तत् ? महाव्रतम कथंभूतं ? आमरणस्थायि मरणपर्यन्तम् निःशेषं च पंच प्रकारमपि । किं कृत्वा ? आलोच्य । किं तत् ? एनो दोषं । किं तत् ? सर्वं कृतकारितमनुमतं च स्वयं हि कृतं हिंसादिदोषं, कारितं हेतुभावेन, अनुमतमन्येन क्रियमाणं मनसा श्लाघितं । एतत्सर्वमेनो निर्व्याजं दशालोचनादोषवर्जितं यथा भवत्येवमालोचयेत् । दश हि आलोचनादोषा भवन्ति । तदुक्तं—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहमं च ।
छन्नं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥ इति ।

आगे समाधिमरण के विषय में यत्न करने वाले पुरुष को ऐसा करके यह करना चाहिए, यह कहते हैं—

समाधिमरण को धारण करने वाला पुरुष (स्नेहं) प्रीति, (वैरं) वैर, (संगं) ममत्वभाव (च) और (परिग्रहं) परिग्रह को (अपहाय) छोड़कर (शुद्धमनाः) स्वच्छ हृदय होता हुआ (प्रियैः वचनैः) मधुर वचनों से (स्वजनं) अपने कुटुम्बी जन तथा (परिजनमपि) परिवारके लोगों को (क्षान्त्वा) क्षमा कराकर (क्षमयेत्) स्वयं क्षमा करे । तथा (कृतकारितम् अनुमतं च) कृत, कारित और अनुमोदित (सर्वं) सभी (एनः) पापों की (निर्व्याजं) निश्चल भाव से (आलोच्य) आलोचना कर (आमरणस्थायि) मरणपर्यन्त स्थिर रहने वाले (निश्शेषं महाव्रतं) समस्त महाव्रतों को (आरोपयेत्) धारण करे ।

टीकार्थ—उपकारक वस्तु में जो प्रीति उत्पन्न होती है, उसे स्नेह कहते हैं । अनुपकारक वस्तु में जो द्वेष के भाव होते हैं उसे वैर कहते हैं । पुत्र, स्त्री आदि मेरे हैं और मैं उनका हूं इस प्रकार 'ममेदं' भाव को संग-परिग्रह कहते हैं । वह दो प्रकार का

है—बाह्यपरिग्रह और अभ्यन्तरपरिग्रह । सल्लेखना धारण करने वाला पुरुष इन सब परिग्रहों को छोड़कर निर्मलचित्त होता हुआ स्वजन और परिजनों को प्रिय वचनों के द्वारा क्षमा करे । और उनसे अपने आपको क्षमा करावे । जो हिंसादि पाप स्वयं किया जाता है वह कृत है । जो दूसरों के द्वारा कराया जाता है उसे कारित कहते हैं, तथा दूसरे के द्वारा किये हुए पाप को जो मन से अच्छा समझा जाता है उसे अनुमत कहते हैं । इन सभी पापों की निश्चल भाव से आलोचना कर मरणपर्यन्त स्थिर रहने वाले अहिंसादि महाव्रतों को धारण करे । तथा आलोचना के दस दोषों से रहित होकर आलोचना करे । आलोचना के दस दोष इस प्रकार हैं—१ आकम्पित २ अनुमानित ३ दृष्ट ४ बादर ५ सूक्ष्म ६ छन्न ७ शब्दाकुलित ८ बहुजन ९ अव्यक्त और १० तत्सेवी ।

विशेषार्थ—१२४-१२५-सल्लेखना को धारण करने वाला मनुष्य स्नेह, वैर, संग और परिग्रह का त्यागकर शुद्ध मन होकर अपने स्वजन और परिजनों को क्षमा करके प्रिय वचनों के द्वारा उनसे क्षमा मांगे ।

जो अपराधी को क्षमा करते हैं और उनसे जिनके प्रति अपराध हुआ है, उनसे क्षमा मांगते हैं उन्होंने संसाररूपी समुद्र को पार कर लिया है । किन्तु जो क्षमा मांगने पर भी क्षमा नहीं करते, वे दीर्घसंसारी हैं अर्थात् उनका संसार जल्दी समाप्त होने वाला नहीं है । कषायों को कृश करना ही सल्लेखना का लक्ष्य है । जिस प्रकार रोगी मनुष्य नीरोग होने की इच्छा से सभी प्रकार के रोगों को वैद्य के सामने प्रकट करके वैद्य की आज्ञा के अनुकूल प्रवृत्ति करता है, उसी प्रकार सल्लेखना धारण करने वाला क्षपक आलोचना के योग्य स्थान और योग्यकाल में निर्यापकाचार्य के सामने अपने व्रतादि में लगे समस्त अतिचारों का निवेदन करे । इसी का नाम आलोचना है । आलोचना दस दोषों से रहित होकर करनी चाहिए । आलोचना के दस दोष इस प्रकार हैं—

आलोचना के दस दोष

१. आकम्पित दोष—उपकरण देने से मुझे स्वल्प प्रायश्चित्त देंगे, ऐसा विचार करके प्रायश्चित्त के समय उपकरणादि देना अथवा दयनीय मुद्रा बना कर शरीर में भय उत्पन्न करके दोषों को कहना जिससे गुरु के हृदय में अपने प्रति दया

का भाव उत्पन्न हो जावे, ताकि वे अधिक कठोर दण्ड न देवें इसे **आकम्पित दोष** कहते हैं ।

२. **अनुमानित दोष**—दूसरों के द्वारा अनुमानित–सम्भावना में आये हुए दोष कहना, अथवा गुरु इस समय प्रसन्न मुद्रा में हैं या रोष मुद्रा में, इसका अनुमान लगाकर प्रसन्न मुद्रा के समय दोष कहना अथवा यथाकृत दोष न कहकर अनुमान से दोष कहना **अनुमानित दोष** है ।

३. **दृष्ट दोष**—दूसरों के द्वारा जान लिये गये दोषों को कहना तथा अज्ञात दोषों को छिपा लेना **दृष्ट दोष** है ।

४. **बादर दोष**—आलस्य या प्रमाद से सूक्ष्म अपराधों की परवाह न करके केवल स्थूल दोषों को कहना तथा साथ ही यह भावना रखना कि जब यह स्थूल दोष नहीं छिपाता तब सूक्ष्म दोष क्या छिपायेगा यह **बादर दोष** है ।

५. **सूक्ष्म दोष**—कठोर प्रायश्चित्त के डर से बड़े दोषों को छिपाकर सूक्ष्म दोषों को कहना, साथ ही यह भावना रखना कि जब सूक्ष्म दोष नहीं छिपाता तब स्थूल दोष क्या छिपायेगा **सूक्ष्म दोष** है ।

६. **छिन्न दोष**—आचार्य के आगे अपने अपराध को स्वयं प्रकट नहीं करना अथवा ऐसा दोष होने पर क्या प्रायश्चित्त होगा–किसी युक्ति से प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में जानकर चापलूसीपूर्वक दोष कहना अथवा जब आचार्य के पास कोई न हो तब एकान्त में दोष कहना **छिन्न या छन्न दोष** है ।

७. **शब्दाकुलित दोष**—संघ आदि के द्वारा किये हुए कोलाहल के समय दोष प्रकट करना **शब्दाकुलित दोष** है ।

८. **बहुजन दोष**—गुरु के द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त आगमाश्रित व उचित है या नहीं ? अन्य साधुओं से ऐसा पूछना अथवा बहुत से श्रावकों की उपस्थिति में अपने अपराधों को प्रकाशित करना **बहुजन दोष** है ।

९. **अव्यक्त दोष**—जिस किसी उद्देश्य से अपने में रागशील साधुओं की उपस्थिति में दोष निवेदन करना अथवा अस्पष्टरूप से दोषों के विषय में निवेदन करना **अव्यक्त दोष** है ।

१०. **तत्सेवी दोष**—जिस अपराध को प्रकट कर प्रायश्चित्त लिया है उस अपराध को पुनः पुनः करना अथवा जो अपराध हुआ है उसी अपराध को करने वाले आचार्य से प्रायश्चित्त लेना और यह अभिप्राय रखना कि जब आचार्य स्वयं यह अपराध करते हैं तब दूसरे को क्या दण्ड देंगे **तत्सेवी दोष** है।

आलोचना के इन दस दोषों से निरन्तर बचना चाहिए।······

आचार्य के द्वारा प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त आदि विधि से दोषों का शोधन करके माया आदि तीन शल्यों से रहित होकर रत्नत्रयरूप मार्ग में विहार करे।

मन और शरीर की निर्मलता अथवा प्रायश्चित्त विधानरूप विशुद्ध अमृत से सिंचित हुआ वह क्षपक आगम के अनुसार समाधि के लिए पूरब या उत्तर दिशा की ओर सिर करके निराकुल हो संस्तर ग्रहण करे। तथा यह जीवनपर्यन्त के लिए अहिंसादि महाव्रतों को धारण करता है, यह महाव्रत धारण करने की बात उत्कृष्टता की अपेक्षा है। यदि शक्ति की हीनता हो तो ऐलक, क्षुल्लक आदि के व्रत भी धारण किये जा सकते हैं।

'भक्त प्रत्याख्यान' कब करना चाहिए ? यह बताते हैं—

जिसका प्रतिकार होना अशक्य है, ऐसी व्याधि के होने पर, चारित्र-संयम को हानि पहुँचाने वाले बुढ़ापे के आने पर या देव, मनुष्य और तिर्यंचकृत घोर उपसर्ग उपस्थित होने पर अथवा चारित्र का घात करने में कारण ऐसे शत्रु या मित्रों के होने पर या दुर्भिक्ष के कारण शरीर के क्षीण होने पर अथवा गहन वन में फँस जाने पर या दृष्टि से दिखाई न देने पर अथवा कानों से सुनाई न पड़ने पर अथवा जंघाबल घट जाने पर, विहार करने में असमर्थ होने पर, विरत हो या अविरत वह भोजन का त्याग कर देने का पात्र होता है। भक्तप्रत्याख्यान तीन प्रकार का कहा गया है। यथा—भोजन के त्यागपूर्वक जो मरण होता है, उसे भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। पहला प्रकार है **शरीर-त्यजन**—जब कोई ऐसा रोगादि हो जाता है जिसका इलाज अशक्य है तब शरीर को छोड़ने के लिए भोजन का त्याग कर दिया जाता है। दूसरा प्रकार है **शरीर-च्यवन**—जब आयु पूरी होकर शरीर छूटने का समय आता है तो भोजन त्याग दिया जाता है। तीसरा प्रकार है **शरीर च्यावन**—घोर उपसर्ग आदि से अचानक शरीर छूटता जान पड़े तो भोजन का त्याग कर दिया जाता है।

समाधिमरण के लिए शरीर का संस्कार करने की विधि कहते हैं—

यदि शरीर को पहले से कृश न किया जाय तो अन्तिम समय में शरीरधारी को आर्तध्यान होता है, जल्दी शरीर छूटता नहीं है। अतः शरीर-शोधन के लिए दूध आदि मधुर पेय देना चाहिए तथा हल्का विरेचन करना चाहिए, क्योंकि पेट में यदि मल होता है तो वह पीड़ा देता है।

अब यह बतलाते हैं कि कषायों को कृश किये बिना शरीर को कृश करना निष्फल है—

आचार्य गुणभद्रस्वामी ने कहा है कि—इस लोक में लोक पूजा का विचार न करके निरन्तर शास्त्र का अध्ययन करे तथा शरीर को कृश करने के साधनों के द्वारा उसे कृश करे, जिससे दुर्जेय कषाय और विषयरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सके, क्योंकि मुनिगण तप और शास्त्रअध्ययन का फल समभाव को मानते हैं।

'जिनका मन आहार में आसक्त है वे कषायों को नहीं जीत सकते, केवल भेदज्ञान के बल से ही कषायों को जीता जा सकता है' इसी को बतलाते हैं—

अधिकतर आहार के मद से जो अन्धे हैं, जिन्हें स्व-पर का ज्ञान नहीं है उनके द्वारा कषायों को जीतना अशक्य है, किन्तु जो आत्मा और शरीर के भेदज्ञान से उन कषायों को जीतते हैं वे ही जयशील होते हैं।

श्रावक अथवा मुनिगण मरण समय में निश्चल चित्तपूर्वक अपने निर्मल चित्स्वरूप में लीन होकर प्राण त्याग करने पर नाना प्रकार के सांसारिक अभ्युदयों को भोगकर मुक्ति के भागी होते हैं ॥३-४॥१२४-१२५॥

एवंविधामालोचनां कृत्वा महाव्रतमारोप्यैतत् कुर्यादित्याह—

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥५॥

प्रसाद्यं प्रसन्नं कार्यं। किं तत्? मनः। कैः? श्रुतैरागमवाक्यैः। कथंभूतैः? अमृतैः अमृतोपमैः संसारदुःखसन्तापापनोदकैरित्यर्थः। किं कृत्वा? हित्वा। किं

तदित्याह–शोकमित्यादि । शोकं-इष्टवियोगे तद्गुणशोचनं, भयं-क्षुत्पिपासादि पीड़ा निमित्तमिहलोकादिभयं वा, अवसादं विषादं खेदं वा क्लेदं स्नेहं, कालुष्यं क्वचिद्विषये रागद्वेषपरिणति । न केवलं प्रागुक्तमेव अपि तु अरतिमपि, अप्रसत्तिमपि । न केवलमेतदेव कृत्वा किन्तु उदीर्य च प्रकाश्य च । कं ? सत्त्वोत्साहं सल्लेखनाकरणेऽकातरत्वं ।।५।।

आगे, इस प्रकार की आलोचना कर तथा महाव्रत धारण कर यह कार्य करना चाहिए यह कहते हैं—

(शोकं) शोक, (भयं) भय, (अवसादं) खेद, (क्लेदं) स्नेह, (कालुष्यं) द्वेष और (अरतिमपि) अप्रीति को भी (हित्वा) छोड़कर (च) तथा (सत्त्वोत्साहं) धैर्य और उत्साह को (उदीर्य) प्रकटकर (श्रुतैः अमृतैः) शास्त्ररूप अमृत के द्वारा (मनः) चित्तको (प्रसाद्यम्) प्रसन्न करना चाहिए ।

टीकार्थ—इष्ट का वियोग होने पर उसके गुणों का बार-बार चिन्तन करना **शोक** कहलाता है । क्षुधा-तृषा आदि की पीड़ा के निमित्त से जो डर लगता है, वह **भय** कहलाता है अथवा इहलोकभय, परलोकभय (व्याधि, मरण, असंयम, अरक्षण, आकस्मिक) आदि के भेद से भय सात प्रकार का है । विषाद अथवा खेद को **अवसाद** कहते हैं । स्नेह को **क्लेद** कहते हैं । किसी के विषय में राग द्वेष की जो परिणति होती है उसे **कालुष्य** कहते हैं । अप्रसन्नता को **अरति** कहते हैं । सल्लेखना करने में जो कायरता का अभाव है उसे **सत्त्वोत्साह** कहते हैं । सल्लेखना करने वाला इन शोकादि को छोड़कर शास्त्ररूपी अमृत के द्वारा मनको प्रसन्न करे । यहां पर संसार के दुःखों से उत्पन्न हुए सन्ताप को दूर करने के लिए शास्त्र को **अमृत** कहा गया है । अतः सल्लेखना धारण करने वाला मनुष्य अपने मन को शास्त्र के पठन-श्रवण में लगावे ।

विशेषार्थ—अनादिकाल से ही संसारी जीव की बुद्धि पर्याय में लगी हुई है, इसलिये वह पर्याय के नाश को अपना नाश मानता है । इस पर्याय बुद्धि मिथ्यादृष्टि को धन, परिग्रह, स्त्री, पुत्र, मित्र बांधवादिक जितने भी संयोग हैं उनका वियोग होने पर शोक होता है, सम्यग्दृष्टि इनके वियोग पर भी शोक नहीं करता है । जिसने सल्लेखना धारण की है, वह विचार करता है हे आत्मन् ! पर्यायें तो अनन्तानन्त ग्रहण की हैं और छोड़ी हैं । यह शरीर तो रोगों की उत्पत्ति का स्थान है, महाकृतघ्न है, नाशवन्त है, आत्मा को सभी प्रकार से दुःख क्लेश उत्पन्न करने वाला है, दुष्ट के

संयोग की तरह त्यागने योग्य है, सभी दुःखों का बीज है, महान संताप और उद्वेग को करने वाला है।

सल्लेखना लेने वाले को यह विचार नहीं करना चाहिए कि ये मेरे माता, पिता, स्त्री, पुत्रादिक मेरे से छूट रहे हैं, इनका क्या होगा ? इनके जीवन का निर्वाह कैसे होगा ? इत्यादि। तथा मैंने सल्लेखना तो ले ली है परन्तु भूख-प्यास आदि की बाधा सहन कर सकूंगा या नहीं ? इत्यादि संक्लेश नहीं करना चाहिए।

विचार करना चाहिए कि ऐसे शरीर के वियोग का क्या शोक करना, ज्ञानी तो शोक को छोड़कर मरण का भय नहीं करता है अतः मुझे भी विषाद, स्नेह, कलुषता तथा अरतिभाव को त्यागकर उत्साह साहस धैर्य धारण करते हुए श्रुतज्ञानरूप अमृत का पान करके मनको तृप्त करना चाहिए। मृत्यु-महोत्सव में बतलाया है कि समाधिस्थ व्यक्ति कैसी भावना करता है, कि मैंने अनादिकाल से संसार में भ्रमण करते हुए अनेक कुमरण किये हैं। एक बार भी यदि मेरा समीचीन मरण हो जाता तो मैं अनन्त संसार का भाजन नहीं होता।

जहां शरीर तो मर जावे किन्तु आत्मा के सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का विषय-कषाय के द्वारा घात न हो वही सम्यक्मरण है। मिथ्या श्रद्धान से शरीर के नाश को आत्मा का नाश मानकर संक्लेश करना कुमरण है। इसलिये हे वीतराग देव ! मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि मरण के समय मुझे वेदनामरण तथा आत्मज्ञान रहित मरण नहीं होवे।

हे आत्मन् ! तुम्हारा रूप तो ज्ञान है, जिसमें समस्त पदार्थ प्रकाशित होते हैं और यह शरीर अस्थि, मांस, चर्ममय दुर्गन्धयुक्त, विनाशीक है इसलिए तुम्हारा रूप इससे अत्यन्त भिन्न है। कर्म के निमित्त से इसका सम्बन्ध शरीर के साथ हो रहा है, आत्मा तो अखण्ड ज्ञायक स्वभावी है। इसलिये शरीर के नाश का भय नहीं करना चाहिए।

भो ज्ञानिन् ! इस मृत्युरूपी महान् उत्सव को प्राप्त करके क्यों भय करते हो ? जिस प्रकार कोई व्यक्ति एक जीर्णकुटी से निकलकर अन्य नवीन महल में रहने के लिए जब जाता है तो बड़ा उत्सव मनाता है, इसी प्रकार यह आत्मा भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता हुआ इस शरीररूपी पुरानी झोंपड़ी से निकलकर नवीन शरीररूपी

महल को प्राप्त करने जा रहा है तो इसको महान् उत्सव मानना चाहिए । इसमें भय का क्या काम ? वहां तो दिव्य वैक्रियिकशरीर मिलेगा, अनेक ऋद्धियों सहित देवों के द्वारा आदर सत्कार को प्राप्त होओगे, यदि अपने ज्ञानस्वरूप का घात करोगे और ममता सहित मरण करोगे तो एकेन्द्रियों में जन्म लेकर ज्ञान का नाश होकर जड़ जैसी अवस्था प्राप्त हो जायेगी, इसलिये क्लेश मत करो ।

अपने कर्त्तव्य का फल तो मृत्यु होने पर ही मिलता है । षट्काय के जीवों का रक्षण किया, राग-द्वेष आदि को छोड़कर अन्याय अनीति कुशील आदि दुष्कार्यों को त्यागकर जो सन्तोष धारण किया, अपनी आत्मा को अभयदान दिया, उसका फल तो स्वर्गलोक के बिना और कहाँ जाकर भोगोगे, स्वर्गलोक का सुख तो मृत्युरूपी मित्र के प्रसाद से ही प्राप्त होता है । इसलिए शरीर और कुटुम्बीजनों का ममत्व करके चिन्तामणि, कल्पवृक्ष के समान समाधिमरण को बिगाड़कर कुमरण करके दुर्गति में जाना उचित नहीं है ।

कर्मरूपी शत्रु ने मेरी आत्मा को इस शरीररूपी पिंजरे में डाल रखा है और मैं इन्द्रियों के आधीन होकर नित्य ही क्षुधा, तृषा आदि दुःखों को भोग रहा हूँ, कुटुम्बीजनों के आधीन रहकर महान् बन्दीगृह के समान इस शरीर से मरण के बिना कौन निकाल सकता है । इस कृतघ्न शरीर से तो मृत्युरूपी राजा ही निकालने में समर्थ है। यह समाधिमरण नामका बड़ा न्यायवन्त राजा है, मेरे लिए तो यही शरण है ।

इस सप्त धातुमय अत्यन्त अशुचि विनाशीक शरीर को छोड़कर दिव्य वैक्रियिक शरीर की प्राप्ति होना और वहां अनेक दिव्यसुख सम्पदा की प्राप्ति होना यह सब प्रभाव समाधिमरण का है । समाधिमरण के समान इस जीव का कोई भी उपकारी नहीं है, इस जीव ने चतुर्गति में जन्म-मरण के अनन्त दुःख भोगे हैं । संसार-परिभ्रमण से छुड़ाने वाला कोई भी नहीं है, कदाचित् अशुभकर्म के मन्द उदय से मनुष्यगति, उच्चकुल, इन्द्रियों की पूर्णता, सन्त समागम, भगवान की दिव्य देशना को सुनकर श्रद्धान, ज्ञान, संयम प्राप्त कर चार आराधना की शरण प्राप्त करके, मरण होना ही जीव के लिए महान् हित है, इसलिए संसार-परिभ्रमण से छूटना है तो समाधिमरण की शरण ग्रहण करो ।

इस मनुष्य-जन्म में मरण का संयोग साक्षात् कल्पवृक्ष के समान है जो भी इच्छा हो वह ले सकते हो । यदि उत्कृष्टपद चाहिए तो मिल सकता है, यदि दुर्गति में जाना हो तो कुमरण करके जा सकते हो, इसलिए निन्द्य आचरण त्यागकर, समता धारण कर त्यागव्रत सहित, ज्ञान सहित, पण्डितमरण करना ही उचित है ।

मिथ्यादर्शन के उदय से शरीर को अपना मानते हुए खाने-पीने, इन्द्रियों के भोगों में ही सुख मानने वाला बहिरात्मा मरणकाल उपस्थित हुआ जानकर अत्यन्त संक्लेश करता है, हाय-हाय ! मैं अब मर जाऊंगा तो ऐसा खाना-पीना फिर कहां मिलेगा, इन सब कुटुम्बीजनों का समागम छूट जायेगा, अब मैं क्या करूँ ? किसकी शरण ग्रहण करूँ ? इस प्रकार घोर संक्लेश करता हुआ मरण करता है । किन्तु ज्ञानी आत्मा मृत्यु के निकट आने पर विचार करता है, 'मैं इतने दिन से शरीररूपी बन्दीगृह में पड़ा हुआ पराधीनता से इन्द्रियों की चाहरूपी दाह में झुलस रहा था, मैंने एक क्षण के लिए भी स्थिरता नहीं पायी इष्टवियोग अनिष्टसंयोग जनित अनेक प्रकार के दुःखों को सहन किया है अब पराधीनता रहित अनन्तसुख स्वरूप जन्म-मरण रहित अविनाशी स्थान को प्राप्त कराने वाला अवसर प्राप्त हुआ है, मरण महासुख को देने वाला है । अत्यन्त उपकारक है, इसलिए मैं तो समाधिमरण को ही ग्रहण करता हूँ ।'

समाधिस्थ साधक विचार करता है कि जिनेन्द्रदेव के वचनामृत ही परम औषधि हैं । यह विषय कषायरूपी रोग का हरण करने वाली है । औषधि तो असाता-वेदनीयकर्म के मन्द उदय होने पर कदाचित् किसी एक रोग को मिटा सकती है, किन्तु जिनवचनरूपी औषधि तो जन्म-मरण बुढ़ापा आदि से छुड़ाने में समर्थ है ।

अनादिकाल से मैं अमूर्त हूँ चैतन से परिपूर्ण हूँ, अविनाशी हूँ और ये रोगादि तो शरीर में हैं, रोग तो शरीर को नष्ट करने वाला है, मैं तो मात्र ज्ञाता द्रष्टा हूँ । जिस प्रकार लोहे की संगति से अग्नि को भी घन की चोट खानी पड़ती है, उसी प्रकार शरीर की संगति से वेदनादिक का वेदन होता है ।

अग्नि से झोंपड़ी जलती है किन्तु झोंपड़ी के भीतर रहा आकाश नहीं जलता, उसी प्रकार अविनाशी, अमूर्तिक चैतन्य धातुमय आत्मा का रोगरूपी अग्नि से नाश नहीं होता ।

हे आत्मन् ! रोग आने पर ऐसा विचार करना चाहिए कि नरकों में इस जीव ने ऐसे कौन से दुःख हैं जो नहीं भोगे हैं । शरीर में कितने रोग होते हैं उसका वर्णन करते हुए बतलाया है—

"व्याधे कोट्यः पंच भवन्त्यष्टाधिक षष्टि लक्षाणि,
नव नवति सहस्राणि पंचशतो चतुरशीत्यधिका ।
एतत्संख्यान् महारोगान् पश्यन्नपि न पश्यति,
इन्द्रियै मोहितो मूढ़ परलोक पराङ्मुखः ॥"

अर्थात् एक शरीर में पाँच करोड़, अड़सठ लाख, निन्यानवे हजार, पाँचसौ चौरासी रोग होते हैं । नारकियों के इन सभी रोगों की उद्भूति एक साथ रहती है । नरकों में अनन्तबार मारा गया, चीरा गया, फाड़ा गया तथा सागरोपर्यन्त एक कण अन्न खाने को नहीं मिला और न एक बून्द पानी पीने को मिला, अब यहाँ क्या दुःख है, रोग तो मेरा महान् उपकारी है, यदि रोग नहीं आता तो मेरा शरीर से ममत्व भी नहीं घटता तथा मैं परमात्मा की शरण भी ग्रहण नहीं करता, इसलिये इस अवसर पर यह रोग तो मुझे प्रेरणा देने वाला परम मित्र है । ऐसा विचार करता हुआ ज्ञानी रोग आने पर क्लेश नहीं करता ।

जिन्होंने समस्त श्रुतज्ञान का पठन, मनन, चिन्तन किया, धर्मध्यान सहित शरीरादि से भिन्न अपने आपको जाना है, भयरहित समाधिमरण के निमित्त ही उन्होंने विद्या की आराधना करके अपना काल व्यतीत किया है, चारों आराधनाओं का शरण ग्रहण करके अपने ज्ञायक स्वभाव का अवलम्बन लेकर जो मरण करता है तो स्वर्गलोक में महर्द्धिक देव होकर वहां से आकर श्रेष्ठ कुल में जन्म लेकर उत्तम संहनन आदि सामग्री प्राप्त करके दीक्षा धारण करके अपने रत्नत्रय की पूर्णता करके निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है ॥५॥१२६॥

इदानीं सल्लेखनां कुर्वाणस्याहारत्यागेक्रमं दर्शयन्नाह—

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥६॥

स्निग्धं दुग्धादिरूपं पानं । विवर्धयेत् परिपूर्णं दापयेत् । किं कृत्वा ? परिहाप्य परित्याज्य । कं ? आहारं कवलाहाररूपं । कथं ? क्रमशः प्रागशनादिक्रमेण पश्चात् खरपानं कंजिकादि, शुद्धपानीयरूपं वा । किं कृत्वा ? हापयित्वा । किं ? स्निग्धं च स्निग्धमपि पानकं । कथं ? क्रमशः । स्निग्धं हि परिहाप्य कंजिकादिरूपं खरपानं पूरयेत् विवर्धयेत् । पश्चात्तदपि परिहाप्य शुद्धपानीयरूपं खरपानं पूरयेदिति ।।६।।

अब, सल्लेखना करने वाले के लिए आहार त्याग का क्रम दिखलाते हुए कहते हैं—

(क्रमशः) क्रम से (आहारं) कवलाहार को (परिहाप्य) छुड़वाकर (स्निग्धं पानं) दूध आदि स्निग्धपेय को (विवर्द्धयेत्) बढ़ावे (च) पश्चात् (क्रमशः) क्रम से (स्निग्धं) दूध आदि स्निग्धपेय को (हापयित्वा) छुड़वाकर (खरपानं) कांजी आदि खरपान को (पूरयेत्) बढ़ावे ।

टीकार्थ—सल्लेखना को ग्रहण करने वाला आहारादि को इस क्रम से छोड़े—पहले कवलाहाररूप दाल-भात, रोटी आदि आहार को छोड़े और दूध आदि स्निग्धरूप पेय पदार्थों को ग्रहण करे । पश्चात् उसे भी छोड़कर खरपान-चिकनाई से रहित पेय-पदार्थों-कांजी, छाछ आदि को ग्रहण करे । फिर उसे भी छोड़कर केवल गर्म जल ग्रहण करे ।

विशेषार्थ—सल्लेखना लेने वाला क्षपक एक साथ चारों प्रकार के आहार को न छोड़कर क्रम से छोड़ता है, क्योंकि एक साथ छोड़ने से आकुलता-व्याकुलता उत्पन्न हो सकती है इसलिए वह शक्ति के अनुसार क्रम-क्रम से आहारादि का त्याग करता है । अर्थात् पहले अन्न-दाल, भात, रोटी आदि खाद्य पदार्थों का त्याग करता है । आहार के आस्वादन में विरक्त हुआ वह क्षपक विचार करता है कि 'हे आत्मन् ! संसार में परिभ्रमण करते हुए तूने इतना आहार किया है कि एक-एक कण भी यदि एकत्र किया जावे तो अनन्त सुमेरु प्रमाण राशियों के ढेर लग जायें और इतना जल पीया कि एक-एक बून्द भी एकत्र करे तो अनन्त समुद्र भर जायें, इतने आहार और जल से भी जब तृप्ति नहीं हो सकी तो अब रोग, बुढ़ापा आदि से तो प्रत्यक्ष मृत्यु दिखाई दे रही है तो इतने समय में अब क्या तृप्ति हो सकती है, इस पर्याय में भी नित्य आहार ग्रहण किया और आहार का लोभी होकर घोर आरम्भादि किया तथा

आहार के लोभ से हिंसा, असत्य, परधनलम्पटता, अब्रह्म और बहु परिग्रह संचय आदि सब पाप करते हुए तथा दुर्ध्यान से कुकर्म करते हुए, आहार गृद्धतावश दीन-हीनवृत्ति से पराधीन होकर अभक्ष्य भक्षण किया। न रात्रि-दिन का ही विचार किया न अपने स्वाभिमान का विचार किया। आहार का लम्पटी निर्लज्ज होकर आचार-विचार से शून्य हो जाता है, अनेक दुर्वचन सहन करता है। आहार के लिए तिर्यंचगति में एक दूसरे को मारते हैं। एक दूसरे का भक्षण कर लेते हैं, इतना ही नहीं भूख से पीड़ित होकर कुत्ता, बिल्ली, सर्प आदि तो अपनी सन्तानों का भी भक्षण कर लिया करते हैं। संसार की बड़ी विचित्र स्थिति है। इस पर्याय में अब मेरा जितना काल शेष है उसमें मुझे रसना इन्द्रिय की गृद्धता को छोड़कर कभी उपवास कभी बेला, कभी तेला कभी एक बार भोजन करना कभी नीरस भोजन, तो कभी अल्प भोजन करना चाहिए।' इस प्रकार अपनी शक्ति के प्रमाण और अपनी आयु की स्थिति के प्रमाण आहार को घटाते हुए वह क्षपक कवलाहार का त्याग करके दूध आदि स्निग्धपदार्थों का सेवन करता है।

निर्यापकाचार्य क्षपक के सामने विभिन्न प्रकार के आहार को दिखाते हैं, यदि क्षपक की किसी आहार में लोलुपता दिखाई देती है तो निर्यापकाचार्य समझाते हैं कि हे क्षपकराज ! तुमने इस प्रकार के आहार को अनादिकाल से बहुत ग्रहण किया है किन्तु अभी तक तृप्ति नहीं हुई, तो अब कुछ समय में कैसे तृप्ति हो सकती है, अतः अब भोजन के राग को छोड़ना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार उपदेश के द्वारा निर्यापकाचार्य भोजन विषयक राग का त्याग करा देते हैं फिर क्रम से स्निग्ध पदार्थों का भी त्याग कराकर छाछ का सेवन कराते हैं, पश्चात् छाछ का भी त्याग कराके मात्र गर्म जल को ग्रहण कराते हैं।

जिस प्रकार सब आभूषणों में चूड़ामणि मस्तक पर धारण किया जाता है, उसी प्रकार यह सल्लेखना सब व्रतों का चूड़ामणि है। क्योंकि इसके धारण से ही सब व्रत सफल होते हैं। समाधिमरण कराने वाले निर्यापकाचार्य को निपुण अर्थात् सूक्ष्मदृष्टि से सम्पन्न कहा है क्योंकि वह क्षपक के रोग, देश, काल, सत्त्व, बल, परीषह सहन करने की क्षमता, संवेग, वैराग्य आदि का सूक्ष्मदृष्टि से विचार करता है तब वह आहार का त्याग कराता है।

'यह क्षपक जीवनपर्यन्त के लिए समस्त प्रकार के आहार का मन, वचन, काय से त्याग करेगा' निर्यापकाचार्य इस प्रकार संघ से निवेदन करे। जो कर्मों का क्षपण करता है, वह क्षपक है। उसी संयमी को सब प्रकार का भोजन दिखाकर उसका त्याग कराना चाहिए। इस प्रकार जो क्षपक परीषह की बाधा सहन करने में अति समर्थ होता है, उसके लिए चारों प्रकार के आहार के त्याग का उपदेश देते हैं, और जो क्षपक समर्थ नहीं है, उसके लिये जलमात्र के सिवाय तीन प्रकार के आहार के त्याग का उपदेश करते हुए चतुर्विध आहार के त्यागका अवसर बतलाते हैं ॥६।१२७॥

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥ ७ ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा। कथं ? शक्त्या स्वशक्तिमनतिक्रमेण स्तोकस्तोकतरादिरूपं। पश्चादुपवासं कृत्वा तनुमपि त्यजेत्। कथं ? सर्वयत्नेन सर्वस्मिन् व्रतसंयम चारित्रध्यानधारणादौ यत्नस्तात्पर्यं तेन। किंविशिष्टः सन् ? पंचनमस्कारमनाः पंचनमस्काराहितचित्तः ॥७॥

आगे तत्पश्चात् वह क्या करता है, यह कहते हैं—

पश्चात् (खरपानहापनाम् अपि) गर्म जल का भी त्याग (कृत्वा) करके (शक्त्या) शक्ति के अनुसार (उपवासम् अपि) उपवास भी (कृत्वा) करके (सर्वयत्नेन) पूर्ण तत्परता से (पञ्चनमस्कारमनाःसन्) पञ्चनमस्कार मन्त्र में मन लगाता हुआ (तनुं) शरीर को (त्यजेत्) छोड़े।

टीकार्थ—तत् पश्चात् उस गर्म जल का भी त्यागकर अपनी शक्ति का अतिक्रमण नहीं करके कुछ उपवास भी करे। और अन्त में यत्नपूर्वक व्रत-संयम-चारित्र, ध्यान-धारणादि सभी कार्यों में तत्पर रहते हुए पंचनमस्कार मन्त्र में अपने चित्त को लगाते हुए शरीर को भी छोड़ देवे।

विशेषार्थ—पूर्व श्लोक में बतलाया था कि वह क्षपक आहारादि का क्रम से त्याग करते हुए गर्म जल को ग्रहण करता है। यदि क्षपक को पित्त सम्बन्धी रोग है, अथवा ग्रीष्म आदि ऋतु है, मरुस्थल आदि प्रदेश है, इस प्रकार तृषा परीषह के उद्रेक को सहन न कर सकने का कोई कारण हो तो गुरु की अनुज्ञा से मैं जल का उपयोग

करूंगा, इस प्रकार का प्रत्याख्यान स्वीकार करे। क्योंकि उसके बिना उसकी समाधि सम्भव नहीं होगी। जब उसकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाये और मरण निकट हो तो क्षपक उस जल का भी त्याग कर उपवास धारण करे, तत्पश्चात् जितनी शक्ति रहे उसके अनुसार पंचनमस्कार मन्त्र का तथा द्वादश अनुप्रेक्षा का चिन्तन करे, शक्ति के और अधिक क्षीण होने पर अरहन्त-सिद्ध का ध्यान करे। जब शक्ति एक दम क्षीण हो जाय तब अमृत के समान मधुर वचनों से क्षपक को सम्बोधित करते हुए धर्मवात्सल्य अंग के धारक स्थितीकरण में सावधान निर्यापकगण निरन्तर चार आराधना पंचनमस्कार मंत्र को मधुर स्वर से बड़ी धीरता से श्रवण करावे ताकि सुनने से क्षपक के निर्बल शरीर में, मस्तक में वचनों के आघात से कष्ट न हो, उपयोग की स्थिरता रहे। निर्यापकाचार्य क्षपक को सावधान करते हुए उपदेश देवें। हे क्षपकराज ! सम्यक्त्व की भावना करो। अरहन्त आदि पंचपरमेष्ठी में, उनके प्रतिबिम्बों में और निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय में भक्ति बढ़ाओ, अरहन्तादि के गुणों के अनुराग पूर्ण ध्यान में उपयोग लगाओ। क्रोधादि कषायों का अत्यन्त निग्रह करो और मुक्ति के लिए आत्मा में आत्मा से आत्मा को देखो।

आचार्य क्षपक को इस प्रकार शिक्षा देवें—हे आर्य ! तुम्हारी यह आगम प्रसिद्ध अन्तिम सल्लेखना है, अतः अत्यन्त दुर्लभ इस सल्लेखना को अतिचाररूपी पिशाचों से बचाओ। पंचनमस्कार में मनको स्थिर करो। इस प्रकार वह क्षपक यावज्जीवन उपवास धारण करते हुए मन को पंचपरमेष्ठियों में स्थिर करते हुए अन्त में समताभावपूर्वक शरीर का परित्याग करे। शरीर के त्याग के साथ सल्लेखना विधि भी पूर्ण हो जाती है ॥७॥१२८॥

अधुना सल्लेखनाया अतिचारानाह—

जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः ।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥८॥

जीवितं च मरणं च तयोराशंसे आकांक्षे। भयमिहपरलोकभयं। इहलोकभयं हि क्षुत्पिपासापीडादिविषयं, परलोकभयं—एवंविधदुर्धरानुष्ठानाद्विशिष्टं फलं परलोके भविष्यति न वेति। मित्रस्मृतिः बाल्याद्यवस्थायां सहक्रीडितमित्रानुस्मरणं। निदानं

भाविभोगाद्याकांक्षणं । एतानि पंचनामानि येषां ते तन्नामानः सल्लेखनायाः पंचातिचाराः । जिनेन्द्रैस्तीर्थंकरैः । समादिष्टा आगमे प्रतिपादिताः । ८।।

अब सल्लेखना के अतिचार कहते हैं—

(जीवितमरणाशंसे) जीविताशंसा, मरणाशंसा, (भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः) भय, मित्रस्मृति और निदान नाम से युक्त (पञ्च) पाँच (सल्लेखनातिचाराः) सल्लेखना के अतिचार (जिनेन्द्रैः) जिनेन्द्र भगवान के द्वारा (समादिष्टाः) कहे गये हैं ।

टीकार्थ—अब सल्लेखना के अतिचार कहते हैं—सल्लेखना धारण कर ऐसी इच्छा करना कि 'मैं कुछ समय के लिए और जीवित रहूँ' तो अच्छा है । यह **जीविताशंसा** नामका अतिचार है । भूख, प्यास की वेदना होने पर ऐसी इच्छा होना कि 'मैं जल्दी मर जाऊं' तो अच्छा है, यह **मरणाशंसा** नामका अतिचार है । इस लोक भय और परलोकभय की अपेक्षा भय दो प्रकार का है । 'मैंने सल्लेखना धारण तो की है किन्तु अधिक समय तक मुझे भूख-प्यास की वेदना सहन नहीं करनी पड़े' इस प्रकार का भय होना **इहलोकभय** कहलाता है । तथा 'इस प्रकार के दुर्धर अनुष्ठान का परलोक में विशिष्ट फल प्राप्त होगा कि नहीं' ऐसा भय उत्पन्न होना **परलोकभय** है । बाल्यादि अवस्था में मित्रों के साथ जो क्रीड़ा की थी उन मित्रों का स्मरण करना **मित्रस्मृति** नामक अतिचार है और आगामी भोगों की आकांक्षा रखना **निदान** नामक अतिचार है । इस प्रकार जिनेन्द्रदेव ने सल्लेखना के पाँच अतिचार आगम में प्रतिपादित किये हैं ।

विशेषार्थ—उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में सल्लेखना के अतिचार इस प्रकार बतलाये हैं—'जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि' अर्थात् जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये पाँच अतिचार हैं । **समन्तभद्रस्वामी** ने सुखानुबन्ध के स्थान पर भय नामका अतिचार माना है । पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण करना सुखानुबन्ध कहलाता है । इसे समन्तभद्राचार्य ने निदान में गर्भित करके भय नामक अतिचार पृथक् स्वीकृत किया है ।

आचार्य पाँच अतिचारों को दूर करने की शिक्षा देते हैं—आचार्यादि के द्वारा की जा रही परिचर्या आदि विधि में तथा बड़े सम्पन्न पुरुषों के द्वारा किये जा रहे

गौरव, दानादि, आदर-सत्कार में आसक्त होकर अधिक काल तक जीने की इच्छा मत करो क्योंकि बाह्यवस्तु भ्रम से अपने को प्रिय प्रतीत होती है। आयु का आशीर्वाद चाहने से अर्थात् मैं और जीवित रहूँ इस इच्छा से कौन मनुष्य लौकिक और विचारक जनों की हँसी का पात्र नहीं होता ? इस विकार जीविताशंसा नामक अतिचार छुड़ाने के लिए कहा गया है। अधिक जीने की इच्छा करना जीविताशंसा नामक अतिचार है। दुःसह भूख-प्यास रोगादि की वेदना के भय से शीघ्र मरने की इच्छा मत करो। क्योंकि दुःख को बिना संक्लेशभाव से सहन करने वाला पूर्व उपार्जित पापकर्म का नाश करता है, किन्तु जो दुःखित स्थिति से मरना चाहता है वह आत्मा का हनन करता है क्योंकि आत्मघात से संसार दीर्घ होता है। इस प्रकार शीघ्र मरने की इच्छा करना मरणाशंसा नामक अतिचार है।

'बाल्यावस्था में जिसके साथ धूल में खेले थे उस बचपन के मित्र के साथ अपने को स्नेहबद्ध मत करो। मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न इस प्रकार के खोटे परिणामों से तुम्हें क्या प्रयोजन है ? तुम तो परलोक जाने के लिए तैयार हो।' समाधिकाल में मित्रों का स्मरण होना **मित्रानुराग** नामक अतिचार है।

'पहले इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किये गये भोगों में प्रीतिपूर्वक मनको मत लगाओ कि मैंने इस प्रकार सुन्दर कामिनी आदि के साथ सुखोपभोग किये थे, इन्द्रिय सुखों के दृढ़ संस्कारों की वासना के कारण ही यह जीव संसार में भ्रमण करता है। अर्थात् इसके भ्रमण का कारण आत्मज्ञान के संस्कार नहीं हैं किन्तु विषय-वासना के संस्कार हैं।' पहले भोगे हुए भोगों को याद करना **सुखानुबन्ध** नामक अतिचार है।

'रोगों की तरह दुःख देने वाले भावी भोगों की आकांक्षा मत करो तप के माहात्म्य आदि से अमुक इष्ट विषय मुझे प्राप्त हो, ऐसा निदान तुम मत करो। क्योंकि इष्ट वस्तु को देने में समर्थ देवी या देवता को प्रसन्न करके उससे तत्काल प्राणहारी विष कौन मांगता है। अर्थात् समाधिपूर्वक मरण करके स्वर्ग आदि के भोगों की कामना वैसी ही है जैसे कोई वरदान देने वाले देवता को प्रसन्न करे और उससे प्रार्थना करे कि हमें ऐसा विष दो जिसके खाते ही प्राण निकल जाय। क्योंकि भोग विष से कम भयानक नहीं हैं।' आगामी भोगों की चाह करना **निदान** नामक अतिचार है।

इस प्रकार अतिचारों की उपपत्तिपूर्वक त्याग की प्रेरणा की है वही इस सल्लेखनाव्रत का संस्कार है। क्योंकि अतिचारों को त्यागने से उसमें विशेषता आ जाती है ॥८॥१२९॥

एवंविधैरतिचारैः रहितां सल्लेखनां अनुतिष्ठन् कीदृशं फलं प्राप्नोत्याह—

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥ ९ ॥

निष्पिबति आस्वादयति अनुभवति वा कश्चित् सल्लेखनानुष्ठाता । किं तत् ? निःश्रेयसं निर्वाणं । किंविशिष्टं ? सुखाम्बुनिधिं सुखसमुद्रस्वरूपं । तर्हि सपर्यन्तं तद्-भविष्यतीत्याह—निस्तीरं तीरात्पर्यन्तान्निष्क्रान्तं । कश्चित्पुनस्तदनुष्ठाता । अभ्युदयमह-मिन्द्रादिसुखपरम्परां निष्पिबति । कथंभूतं ? दुस्तरं महता कालेन प्राप्यपर्यन्तं । किंवि-शिष्टः सन् ? सर्वैर्दुःखैरनालीढः सर्वैः शारीरमानसादिभिर्दुःखैरनालीढोऽसंस्पृष्टः । कीदृशः सन्नेतद्द्वयं निष्पिबति ? पीतधर्मा पीतोऽनुष्ठितो धर्म उत्तमक्षमादिरूपः चारित्र-स्वरूपो वा येन ॥ ९ ॥

अतिचारों से रहित सल्लेखना को धारण करने वाला मनुष्य कैसे फल को प्राप्त होता है, यह कहते हैं—

(पीतधर्मा) धर्म का पान करने वाला कोई क्षपक (सर्वैः) सब (दुःखों) दुःखों से (अनालीढः) अछूता रहता हुआ (निस्तीरं) अन्त रहित तथा (सुखाम्बु-निधिं) सुख के समुद्रस्वरूप (निःश्रेयसं) मोक्ष का (निःपिबति) अनुभव करता है और कोई क्षपक (दुस्तीरं) बहुत समय में समाप्त होने वाली (अभ्युदयं) अहमिन्द्र आदि की सुखपरम्परा का अनुभव करता है ।

टीकार्थ—सल्लेखना धारण करने का फल मोक्ष और स्वर्गादिक के सुखों की प्राप्ति है । निःश्रेयस-निर्वाण को कहते हैं । वह सुख के समुद्ररूप है । निःश्रेयस—मोक्ष निस्तीर है । अर्थात् आत्मोत्थसुख अन्त से रहित है । अहमिन्द्रादिक के पद को अभ्युदय कहते हैं । यह दुस्तर है अर्थात् सागरोपर्यन्त काल तक अहमिन्द्रादिक के सुखों का पान करते हैं । और शारीरिक, मानसिक आदि सभी दुःखों से अछूते रहते हैं, इस प्रकार दोनों ही पद सुख के समुद्ररूप हैं । सल्लेखना लेने वाला दोनों फलों को प्राप्त

करता हुआ पीतधर्मा होता है, अर्थात् वह उत्तमक्षमादिरूप अथवा चारित्ररूप धर्म का पान करने वाला होता है।

विशेषार्थ—सल्लेखना को धारण करने वाला मनुष्य यदि रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है तो उसी भव से निर्वाण को चला जाता है। और यदि उसके रत्नत्रय की पूर्णता में कमी रहती है तो वह स्वर्ग को प्राप्त होता है।[1] स्वर्ग में महर्द्धिकदेव होकर बहुत काल तक स्वर्ग सुखों को भोगकर पश्चात् मनुष्यों में आकर राज्यवैभवादि पाकर फिर संसार-शरीर, भोगों से विरक्त होकर शुद्ध संयम धारण कर निःश्रेयस जो निर्वाण है वहाँ के सुखों को प्राप्त करता है। वह निःश्रेयस कैसा है? जो अन्त से रहित है तथा जो कभी समाप्त होने वाला नहीं है, सुख के समुद्ररूप ऐसे निर्वाण में समस्त दुःखों से रहित होता हुआ अविनश्वर सुख को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥ १३० ॥

किं पुनर्निःश्रेयसशब्देनोच्यत इत्याह—

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥१०॥

निःश्रेयसमिष्यते। किं? निर्वाणं। कथम्भूतं शुद्धसुखं शुद्धं प्रतिद्वन्द्वरहितं सुखं यत्र। तथा नित्यं अविनश्वरस्वरूपं। तथा परिमुक्तं रहितं। कैः? जन्मजरामयमरणैः, जन्म च पर्यायान्तरप्रादुर्भावः जरा च वार्द्धक्यं, आमयाश्च रोगाः, मरणं च शरीरादि प्रच्युतिः। तथा शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तं ॥१०॥

अब निःश्रेयस शब्द से क्या कहा जाता है, यह बताते हैं—

(जन्मजरामयमरणैः) जन्म, वार्धक्य, रोग, मरण, (शोकैः) शोक (दुःखैः) दुःख (च) और (भयैः) भयों से (परिमुक्तं) रहित (शुद्धसुखं) शुद्धसुख से सहित

---

१. विधिपूर्वक सल्लेखना करने वाला मनुष्य सात-आठ भव में नियम से मोक्ष को प्राप्त करता है। ऐसा आराधनासार में देवसेनाचार्य ने कहा है—

जेसिं हुंति जहण्णा चउव्विहाराहणा हु खवयाणं ।
सत्तट्ठभवे गन्तुं ते वि य पावंति णिव्वाणं ॥१०९॥

(नित्यं) नित्य–अविनाशी (निर्वाणं) निर्वाण (निःश्रेयसं) निःश्रेयस (इष्यते) माना जाता है ।

टीकार्थ—निर्वाण–मोक्ष को निःश्रेयस कहते हैं । वहाँ पर शुद्ध सुख प्राप्त होता है क्योंकि प्रतिपक्षी कर्मों का अभाव है । वह सुख नित्य अविनश्वर स्वरूप है । तथा जन्म, बुढ़ापा, रोग और मरण से, शोक-दुःख भयों से सर्वथा रहित है । एक पर्याय से दूसरी पर्याय की प्राप्ति को जन्म कहते हैं । बुढ़ापा को जरा कहते हैं । रोग को आमय कहते हैं । शरीर का छूटना मरण कहा जाता है । शोक, दुःख, भय का अर्थ स्पष्ट ही है ।

विशेषार्थ—'नितरां श्रेयो निःश्रेयसम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अत्यन्त कल्याणरूप है उसे निःश्रेयस कहते हैं । क्योंकि अत्यन्त कल्याणरूप मोक्ष है । जन्म, बुढ़ापा, रोग, मरण, शोक, दुःख आदि से रहित है । मोक्ष तो पूर्ण शाश्वत सुखमय अवस्था है । तथा चतुर्गति के अन्तर्गत देव, देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के पंचेन्द्रियजन्य जितने भी सुख हैं वे जन्म, जरा, रोग, मरण आदि विपत्तियों से सहित हैं । क्योंकि इन्द्रियजन्य सुख तो दुःखरूप ही हैं । चिरकाल तक रहने वाले नहीं हैं, अस्थायी हैं । परन्तु मोक्ष सुख इनसे विपरीत है जिसको कि यहाँ निर्वाण शब्द से कहा है । इसका अर्थ है—'निःशेषेणवानं गमनं निर्वाणम्' अर्थात् पूर्णस्वरूप की प्राप्ति का होना निर्वाण है । जहां से जीव को अनन्तकाल व्यतीत होने पर भी लौटकर नहीं आना पड़ता ।। १० ।। १३१ ।।

इत्थंभूते च निःश्रेयसे कीदृशाः पुरुषाः तिष्ठन्तीत्याह—

विद्यादर्शन शक्ति स्वास्थ्य प्रह्लादतृप्ति शुद्धियुजः ।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम् ।।११।।

निःश्रेयसमावसन्ति निःश्रेयसे तिष्ठन्ति । के ते इत्याह—विद्येत्यादि । विद्या केवलज्ञानं, दर्शनं केवलदर्शनं, शक्तिरनन्तवीर्यं, स्वास्थ्यं परमोदासीनता, प्रह्लादोऽनन्तसौख्यं, तृप्तिर्विषयानाकांक्षा, शुद्धिर्द्रव्यभावस्वरूप कर्ममलरहितता, एता युञ्जन्ति आत्मसम्बद्धाः कुर्वन्ति ये ते तथोक्ताः । तथा निरतिशया अतिशयाद्विद्यादिगुणहीनाधिकभावान्निष्क्रान्ताः । तथा निरवधयो नियतकालावधिरहिताः । इत्थंभूता ये ते निःश्रेयसमावसन्ति । सुखं सुखरूपं निःश्रेयसं । अथवा सुखं यथा भवत्येवं ते तत्रावसन्ति ।।११।।

ऐसे निःश्रेयस–मोक्ष में कैसे पुरुष रहते हैं, यह कहते हैं—

(विद्या दर्शनशक्ति स्वास्थ्य प्रह्लादतृप्ति शुद्धियुज:) केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, परम उदासीनता, अनन्तसुख तृप्ति और शुद्धि को प्राप्त (निरतिशया:) हीनाधिकता से रहित और (निरवधय:) अवधि से रहित जीव (सुखं) सुखस्वरूप (निःश्रेयसं) मोक्षरूप निःश्रेयस में (आवसन्ति) निवास करते हैं ।

टीकार्थ—निःश्रेयस–मोक्ष में वे जीव रहते हैं जो विद्या-केवलज्ञान, दर्शन-केवलदर्शन, शक्ति–अनन्तवीर्य, स्वास्थ्य–परमउदासीनता, प्रह्लाद–अनन्तसुख, तृप्ति–विषयों की आकांक्षा का अभाव, शुद्धि–द्रव्यकर्म–भावकर्म–नोकर्म से रहितपना, इन सभी से युक्त हैं । निरतिशय--विद्या आदि गुणों की हीनाधिकता से रहित हैं और निरवधि–काल की अवधि से रहित हैं । जो इन सब विशेषणों से युक्त हैं वे जीव निःश्रेयस में सुख से निवास करते हैं ।

विशेषार्थ—धर्म के प्रभाव से आत्मा निःश्रेयस पूर्णकल्याण अवस्था को प्राप्त कर लेता है, मोक्ष में रहने वाले जीवों का ज्ञानावरण कर्म के पूर्ण नष्ट हो जाने से अनन्तज्ञान की प्राप्ति हो जाती है । उनके दर्शनावरण कर्म के सर्वथा नाश से अनन्त दर्शन प्रकट हो जाता है । अन्तरायकर्म के सर्वथा क्षय से अनन्तवीर्य–परमस्वास्थ्य अवस्था प्राप्त होती है अर्थात् अनन्तशक्ति परमवीतरागता ! मोहकर्म के नाश से अनन्तसुख अवस्था प्राप्त होती है इत्यादि । इस प्रकार सम्पूर्ण द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म के अभाव से उत्कृष्ट सुखमय अवस्था प्राप्त होती है । ऐसे निःश्रेयस-निर्वाण की अलौकिक अवस्था को यह जीव कर्मों के नाश से प्राप्त करता है ।।११।।१३२।।

अनन्ते कालेगच्छति कदाचित् सिद्धानां विद्याद्यन्यथाभावो भविष्यत्यत: कथं निरतिशया निरवधयश्चेत्याशंकायामाह—

कालेकल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या ।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंभ्रान्ति करणपटु: ।।१२।।

न लक्ष्या न प्रमाणपरिच्छेद्या । कासौ ? विक्रिया विकार: स्वरूपान्यथा भाव: । केषां ? शिवानां सिद्धानां । कदा ? कल्पशतेऽपि गते काले । तर्हि उत्पात-

वशात्तेषां विक्रिया स्यादित्याह—उत्पातोऽपि यदि स्यात् तथापि न तेषां विक्रिया लक्ष्या। कथम्भूत: उत्पात: ? त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटु: त्रिलोकस्य सम्भ्रान्तिः क्षोभस्तत्करणे-पटु: समर्थ: ।। १२ ।।

आगे अनन्तकाल बीत जाने पर किसी समय सिद्धों की विद्या आदि में अन्यथाभाव हो जायेगा, अत: वे निरतिशय और निरवधि किस प्रकार हुए, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

(कल्पशते) सैंकड़ों कल्पकाल बराबर (काले) काल के (गतेऽपि) बीत जाने पर भी (च) और (यदि) यदि (त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटु:) तीनों लोकों को संभ्रान्त करने में समर्थ (उत्पात: अपि) उत्पात भी (स्यात्) होवे तो भी (शिवानां) सिद्धों में (विक्रिया) विकार (न लक्ष्या) दिखाई नहीं देता।

टीकार्थ—बीस कोड़ा कोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। ऐसे सैंकड़ों कल्पकालों के बीत जाने पर भी सिद्धजीवों में कोई विकार लक्षित नहीं होता। तथा तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न करने में समर्थ ऐसा भी उत्पात यदि हो जावे तो भी सिद्धों में कोई विकार नहीं होता, इस प्रकार की सिद्धजीवों की अवस्था होती है।

विशेषार्थ—यद्यपि द्रव्य का स्वभाव सत्‌रूप है तथापि सभी द्रव्यों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता रहता है इसलिए कोई भी द्रव्य कूटस्थ नहीं है। इसी प्रकार सिद्ध परमेष्ठी में भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता रहता है इसलिए सिद्ध भगवान भी कूटस्थ नहीं हैं। सिद्धों में अर्थपर्यायरूप परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है। किन्तु यहां इस सूक्ष्म परिणमन की विवक्षा नहीं है। यहाँ तो व्यञ्जन पर्यायों में होने वाले स्थूल परिणमन की विवक्षा की अपेक्षा से कथन है। सिद्धावस्था प्राप्त होने के पश्चात् सैंकड़ों कल्पकालों के व्यतीत होने पर भी उनमें किसी प्रकार का परिणमन नहीं होता है, न उनके अनन्तगुणों में न्यूनता आती है, और न उनकी सिद्धपर्याय ही नष्ट होकर नर-नारकादि पर्यायें प्राप्त होती हैं। क्योंकि वहां से वापस लौटने के कारण जो रागादि विकार भाव हैं वे सर्वथा नाश को प्राप्त हो चुके हैं। इसलिए सिद्धों में किसी प्रकार का बाह्य परिवर्तन नहीं होता, वे सदा अपने स्वभाव में ही स्थिर रहते हैं ।। १२ ।। १३३ ।।

ते तत्राविकृतात्मानः सदा स्थिताः किं कुर्वन्तीत्याह—

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्य शिखामणिश्रियं दधते ।
निष्किट्टिकालिकाच्छवि-चामीकर-भासुरात्मानः ॥१३॥

निःश्रेयसमधिपन्नाः प्राप्तास्ते दधते । धरन्ति । कां ? त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं त्रैलोक्यस्य शिखा चूडाऽग्रभागस्तत्र मणिश्री: चूडामणिश्रीः तां । किंविशिष्टाः सन्त इत्याह—निष्किट्टेत्यादि । किट्टं च कालिका च ताभ्यां निष्क्रान्ता सा छविर्यस्य तच्चामीकरं च सुवर्णं तस्येव भासुरो निर्मलतया प्रकाशमान आत्मा स्वरूपं येषां ॥१३॥

विकार से रहित वे सिद्ध भगवान मोक्ष में सदा रहते हुए क्या करते हैं, यह कहते हैं—

(निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः) कीट और कालिका से रहित कान्ति वाले सुवर्ण के समान जिनका स्वरूप प्रकाशमान हो रहा है ऐसे (निःश्रेयसमधिपन्नाः) मोक्ष को प्राप्त हुए सिद्ध परमेष्ठी (त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं) तीन लोक के अग्रभाग पर चूड़ामणि की शोभा को (दधते) धारण करते हैं ।

टीकार्थ—जिस प्रकार कीट-कालिमा से रहित होकर सुवर्ण कान्ति को धारण करता हुआ अतिशय दीप्तिमान होता है, उसी प्रकार द्रव्यकर्म-भावकर्मरूपी कालिमा का अभाव हो जाने से यह आत्मा पूर्णरूप से निर्मल होता हुआ प्रकाशमान रहता है । ऐसे सिद्ध परमेष्ठी लोक के शिखर पर चूड़ामणि की शोभा को धारण करते हैं ।

विशेषार्थ—चौदहवें गुणस्थान में ८५ कर्मप्रकृतियों का सत्ता से नाश हो जाता है । उनमें उपान्त्यसमय में ७२ प्रकृतियों का नाश होता है और अन्तसमय में १३ प्रकृतियों का नाश होकर सिद्धावस्था प्राप्त हो जाती है, अर्थात् लोक के अग्रभाग में अन्तिम तनुवातवलय में सिद्ध जीव विराजित हो जाते हैं । यद्यपि सिद्ध क्षेत्र पैंतालीस लाख योजन का है । तथापि सिद्धजीव तो इसके ऊपर अन्तिम वातवलय में स्थित हैं । वे सर्वथा किट्ट-कालिमा से रहित होते हुए शुद्धस्वर्ण के समान द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मों से सर्वथा रहित हैं और सदा लोक के अग्रभाग में देदीप्यमान चूड़ामणि के समान शोभायमान रहते हैं ॥१३॥१३४॥

एवं सल्लेखनामनुतिष्ठतां निःश्रेयसलक्षणं फलं प्रतिपाद्य अभ्युदयलक्षणं फलं प्रतिपादयन्नाह—

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकामभोग भूयिष्ठैः ।
अतिशयित भुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥१४॥

अभ्युदयं इन्द्रादिपदावाप्तिलक्षणं । फलति अभ्युदयफलं ददाति । कोऽसौ ? सद्धर्मः सल्लेखनानुष्ठानोपार्जितं विशिष्टं पुण्यं । कथम्भूतमभ्युदयं ? अद्भुतं साश्चर्यं । कथंभूतं तदद्भुतं ? अतिशयितभुवनं यतः । कैः कृत्वा ? पूजार्थाज्ञैश्वर्यैः ऐश्वर्यशब्दः पूजार्थाज्ञानां प्रत्येकं सम्बध्यते । किं विशिष्टैरेतैरित्याह – बलेत्यादि । बलं सामर्थ्यं परिजनः परिवारः कामभोगौ प्रसिद्धौ । एतद्भूयिष्ठा अतिशयेन बहवो येषु । एतैरुपलक्षितैः पूजादिभिरतिशयितभुवनमित्यर्थः ॥१४॥

इस प्रकार सल्लेखना धारण करने वालों के निःश्रेयसरूप फल का प्रतिपादन कर अब अभ्युदयरूप फल का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

(सद्धर्मः) सल्लेखना के द्वारा समुपार्जित समीचीन धर्म, (बलपरिजनकामभोग भूयिष्ठैः) बल, परिवार तथा काम और भोगों से परिपूर्ण (पूजार्थाज्ञैश्वर्यैः) पूजा, अर्थ, आज्ञा तथा ऐश्वर्य के द्वारा (अतिशयितभुवनं) संसार को आश्चर्ययुक्त करने वाले तथा स्वयं (अद्भुतं) आश्चर्यकारी (अभ्युदयं) स्वर्गादिरूप अभ्युदय को (फलति) फलता है ।

टीकार्थ—सल्लेखना धारण करने से उपार्जित हुआ विशिष्ट पुण्यरूप समीचीन धर्म उस आश्चर्यकारी अभ्युदय-इन्द्रादिकपदरूप फल को देता है जो बल, परिजन, काम तथा भोगों से परिपूर्ण पूजा, अर्थ, आज्ञारूप ऐश्वर्य के द्वारा समस्त लोक को अभिभूत करता है ।

विशेषार्थ—सल्लेखना का प्रमुख फल तो मोक्ष प्राप्त करना है । किन्तु मोक्ष प्राप्ति योग्य सुअवसर न मिलने पर उसका गौण फल अभ्युदय है वह फलित होता है । वह जीव स्वर्ग में इन्द्र पदवी प्राप्त करके पूजा, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल परिकरजन, काम भोग की प्रचुरता से समस्त जगत् को अभिभूत करता है । अर्थात् तीन लोक में जो

देखने, सुनने और चिन्तन में भी न आ सके, ऐसा अभ्युदय सुख समीचीन धर्म-साधना का ही फल है ।।१४।।१३५।।

साम्प्रतं योऽसौ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कति प्रतिमा भवन्तीत्याशंकयाह—

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ।।१५।।

देशितानि प्रतिपादितानि । कानि ? श्रावकपदानि श्रावकगुणस्थानानि श्रावकप्रतिमा इत्यर्थः । कति ? एकादश । कैः ? देवैस्तीर्थंकरैः । येषु श्रावकपदेषु । खलु स्फुटं सन्तिष्ठन्तेऽवस्थितिं कुर्वन्ति । के ते ? स्वगुणाः स्वकीयगुणस्थानसम्बद्धाः गुणाः । कैः सह ? पूर्वगुणैः पूर्वगुणस्थानवर्तिगुणैः सह । कथंभूताः ? क्रमविवृद्धाः सम्यग्दर्शनमादिं कृत्वा एकादशपर्यन्तमेकोत्तरवृद्धया क्रमेण विशेषेण वर्धमानाः ।।१५।।

अब सल्लेखना को करने वाला जो यह श्रावक है उसके कितनी प्रतिमाएँ होती हैं, यह आशङ्का उठाकर कहते हैं—

[देवैः] तीर्थंकर भगवान के द्वारा [एकादश] ग्यारह [श्रावकपदानि] श्रावक की प्रतिमाएँ [देशितानि] कही गयी हैं । [येषु] जिनमें [खलु] निश्चय से [स्वगुणाः] अपनी प्रतिमा सम्बन्धी गुण [पूर्वगुणैः सह] पूर्व प्रतिमा सम्बन्धी गुणों के साथ [क्रमविवृद्धाः] क्रम से वृद्धि को प्राप्त होते हुए [संतिष्ठन्ते] स्थित होते हैं ।

टीकार्थ—श्रावक के जो पद-स्थान हैं, वे श्रावक की प्रतिमा कहलाती हैं । तीर्थंकरदेव ने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं कही हैं, उन प्रतिमाओं में अपनी-अपनी प्रतिमाओं से सम्बन्धित गुण पिछली प्रतिमाओं से सम्बन्ध रखकर क्रम से वृद्धि को प्राप्त होते हुए (सम्यग्दर्शन को आदि लेकर ग्यारह प्रतिमा तक) विशेषरूप से बढ़ते जाते हैं । अर्थात् अगली प्रतिमाओं में स्थित पुरुष को पूर्व की प्रतिमा से सम्बन्धित गुणों का परिपालन करना अनिवार्य है ।

विशेषार्थ – भगवान सर्वज्ञ ने एकदेशचारित्र को धारण करने वाले श्रावक के ग्यारह स्थान बतलाये हैं । यह एकदेशचारित्र अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से होता है तथा साथ-साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय के मन्द-मन्दतर-मन्दतम उदय

से श्रावक की प्रतिमाओं में वृद्धि होती जाती है। अन्य ग्रन्थों में श्रावक के तीन भेद बतलाये हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। जो सम्यक्दर्शन के साथ आठ मूलगुणों का अभ्यासरूप से पालन करता है वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। यहां पर यह बात ध्यान में रखनी है कि जब गृहस्थ सम्यग्दर्शन से विशुद्ध होता है तब अहिंसा की सिद्धि के लिए मद्य-मांस-मधु आदि का संकल्पपूर्वक त्याग करता है, क्योंकि उसे इन निन्दनीय वस्तुओं से अरुचि हो जाती है। जैन घरानों में मद्य-मांस आदि का सेवन नहीं करना कुलधर्म कहा जाता है। पाक्षिकश्रावक की श्रेणी में वह आता है जो जिनवचनों पर श्रद्धान करके संकल्पपूर्वक मद्य-मांसादि का त्याग करता है। मात्र कुल परम्परा से इन वस्तुओं के त्यागमात्र से पाक्षिक श्रावक नहीं हो सकता। अत: जैन घरानों में जन्म लेने वालों को भी जिनागम के कथन को जानकर और उस पर श्रद्धा रखकर नियमानुसार मद्यादि का त्याग करना चाहिए। केवल इन वस्तुओं के सेवन न करने मात्र से वे व्रती नहीं माने जा सकते। जो मद्यादिक त्याग का नियमानुसार व्रत लेते हैं, वे कुसंगति में पड़कर भी मद्यादिक का सेवन नहीं करते।

आज होटलों के खान-पान से, कुलधर्म की मर्यादा से मद्य-मांसादि का सेवन नहीं करने वाले भी इन वस्तुओं का सेवन करने लगते हैं। इस प्रकार जो सम्यग्दर्शन के साथ अष्टमूलगुणों का पालन करते हैं, वे **पाक्षिकश्रावक** कहलाते हैं।

जो ग्यारह प्रतिमाओं का निरतिचार पालन करता है वह **नैष्ठिकश्रावक** है। नैष्ठिकश्रावक के ग्यारह भेद निम्न प्रकार हैं—१ दर्शनप्रतिमा, २ व्रतप्रतिमा, ३ सामायिकप्रतिमा, ४ प्रोषधोपवासप्रतिमा, ५ सचित्तत्यागप्रतिमा, ६ रात्रिभुक्तित्याग-प्रतिमा, ७ ब्रह्मचर्यप्रतिमा, ८ आरम्भत्यागप्रतिमा, ९ परिग्रहत्यागप्रतिमा, १० अनुमति-त्यागप्रतिमा, ११ उद्दिष्टत्यागप्रतिमा।

इन ग्यारह स्थानों में श्रावक क्रम-क्रम से आगे-आगे बढ़ सकता है, जो आगे-आगे की प्रतिमाओं को धारण करता है उसे पीछे की प्रतिमाओं का परिपालन करना अनिवार्य है, जिस प्रकार जो ब्रह्मचर्य प्रतिमा का परिपालक है उसे पहली दर्शन प्रतिमा से लेकर ब्रह्मचर्य प्रतिमा तक सभी प्रतिमाओं के व्रत-नियम आदि का पालन करना होगा। इसी प्रकार सभी प्रतिमाओं के अगले-अगले पदों के साथ पिछले सभी पदों का आचरण करना अनिवार्य है।

जो इन सभी व्रतों का परिपालन करता हुआ अन्त समय में समाधिपूर्वक मरण करता है, वह साधक है ।

पहला भेद देशसंयम की प्रारम्भिक अवस्था को बतलाता है । दूसरा भेद उसकी मध्यम अवस्था को बतलाता है और तीसरा भेद उसकी पूर्णदशा को बतलाता है ।।१५।।१३६।।

एतदेवदर्शयन्नाह—

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ।।१६।।

दर्शनमस्यास्तीति दर्शनिको दर्शनिकश्रावको भवति । किं विशिष्टः ? सम्यग्दर्शनशुद्धः सम्यग्दर्शनं शुद्धं निरतिचारं यस्य असंयतसम्यग्दृष्टेः । कोऽस्य विशेषइत्यत्राह—संसारशरीरभोगनिर्विण्ण इत्यनेनास्य लेशतो व्रतांशसंभवात्ततो विशेषः प्रतिपादितः । एतदेवाह—तत्त्वपथगृह्यः तत्त्वानां व्रतानां पंथानो मार्गा मद्यादिनिवृत्तिलक्षणा अष्टमूलगुणास्ते गृह्याः पक्षाः यस्य । पंचगुरु चरणशरणः पंचगुरवः पंचपरमेष्ठिनस्तेषां चरणाः शरणमपायपरिरक्षणोपायो यस्य ।।१६।।

आगे यही दिखाते हैं—

जो (सम्यग्दर्शनशुद्धः) सम्यग्दर्शन से शुद्ध है (संसारशरीरभोगनिर्विण्णः) संसार शरीर और भोगों से विरक्त है (पञ्चगुरुचरणशरणः) पञ्चपरमेष्ठियों के चरणों की शरण जिसे प्राप्त हुई है तथा (तत्त्वपथगृह्यः) आठ मूलगुणों को जो धारण कर रहा है, वह (दर्शनिकः) दर्शनिक श्रावक है ।

टीकार्थ—'सम्यग्दर्शनं शुद्धं निरतिचारं यस्य सः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसका सम्यग्दर्शन शंकादि दोषों से रहित होने के कारण शुद्ध है, अतिचार रहित है । जो संसार, शरीर और भोगों से उदासीन है । 'तत्त्वानां व्रतानां पन्था मार्गो मद्यादिनिवृत्तिलक्षणा अष्टमूलगुणास्तेगृह्याः पक्षा यस्य' व्रतों के मार्गस्वरूप मद्यादि के त्यागरूप आठमूलगुणों को जिसने ग्रहण किया है तथा पञ्चपरमेष्ठियों के चरणों की जिसने शरण ग्रहण की है, जो दुःखों से रक्षा करने के उपायभूत हैं, ऐसा श्रद्धालु दर्शनिक श्रावक कहलाता है ।

विशेषार्थ—जो स्याद्वादरूप परमागम के प्रसाद से निश्चय-व्यवहार दोनों नयों से स्वतत्त्व और परतत्त्व को जानकर श्रद्धान को दृढ़ करता है, जो व्रतों से रहित है वह अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है यही जीव अष्टमूलगुणों का निरतिचार पालन करता है, सप्तव्यसन का त्याग करता है, अष्ट मदों से रहित हुआ अभिमान की मन्दता से समस्त गुणवानों से अपने को लघु मानता है। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय से उसका विषयों में राग है और वह गृहस्थ के समस्त आरम्भ को करता है, यह भी जानता है कि हमारे मोह के प्रभाव से यह सब कार्य हो रहा है, यह त्यागने योग्य है। वह धर्मात्माओं के उत्तमगुणों को ग्रहण करने में अनुराग रखता है, अष्टादस दोषों से रहित सर्वज्ञ वीतराग को ही सच्चा देव मानते हुए उनकी आराधना करता है, दया ही धर्म है, हिंसा में कदाचित् भी धर्म नहीं हो सकता और आरम्भ-परिग्रह रहित ही गुरु होते हैं ऐसे दृढ़ श्रद्धानी को सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जो संसार-शरीर-भोगों से विरक्त है तथा जिसने पंचपरमेष्ठी का ही शरण ग्रहण किया है, वह दर्शनप्रतिमा वाला श्रावक है ॥ १६ ॥ १३७ ॥

तस्येदानीं परिपूर्णदेशव्रतगुणसम्पन्नत्वमाह—

निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि ।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥१७॥

व्रतानि यस्य सन्तीति व्रतिको मतः। केषां ? व्रतिनां गणधरदेवादीनां कोऽसौ ? निःशल्यो-माया-मिथ्या-निदानशल्येभ्यो निष्क्रान्तो निःशल्यः सन् योऽसौ धारयते किं तत् ? निरतिक्रमणमणुव्रतपंचकमपि पंचाप्यणुव्रतानि निरतिचाराणि धारयते इत्यर्थः। न केवलमेतदेव धारयते अपि तु शीलसप्तकं चापि त्रिःप्रकार गुणव्रत-चतुःप्रकार शिक्षाव्रत लक्षणं शीलम् ॥१७॥

आगे वह श्रावक परिपूर्ण देशव्रतरूप गुण से सम्पन्न होता है, यह कहते हैं—

(यः) जो (निःशल्यः) शल्यरहित होता हुआ (निरतिक्रमणं) अतिचार रहित (अणुव्रतपञ्चकमपि) पाँचों अणुव्रतों को (च) और (शीलसप्तकमपि) सातों शीलों को (धारयते) धारण करता है। (असौ) वह (व्रतिनां) गणधरदेवादिक व्रतियों के मध्य में (व्रतिकः) व्रतिक श्रावक (मतः) माना गया है।

टीकार्थ—'व्रतानि यस्य सन्तीति व्रती' जिसके व्रत होते हैं वह व्रती कहलाता है, ऐसा गणधरदेवादिकों ने कहा है। व्रती शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होकर व्रतिक शब्द बना है। माया-मिथ्या-निदान ये तीन शल्य हैं इन तीनों शल्यों के निकलने पर ही व्रती हो सकता है, इन तीन शल्यों से रहित होता हुआ जो अतिचार रहित पाँच अणुव्रतों को धारण करता है, तथा तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के भेद से सात शीलों को भी जो धारण करता है, वह व्रतिकश्रावक कहलाता है।

विशेषार्थ—जिसके सम्यग्दर्शन और मूलगुण परिपूर्ण हैं तथा जो माया, मिथ्यात्व और निदानरूप तीन शल्य से रहित है और इष्ट विषयों में राग तथा अनिष्ट विषयों में द्वेष को दूर करनेरूप साम्यभाव की इच्छा से निरतिचार उत्तर गुणों को बिना किसी कष्ट के धारण करता है, वह व्रतिकश्रावक है।

सम्यग्दर्शन और मूलगुणों का अन्तरंग आश्रय तो जीव का उपयोग मात्र है और बहिरंग आश्रय चेष्टामात्र है, दोनों प्रकार से अतिचार न लगने पर सम्यग्दर्शन और मूलगुण सम्पूर्ण और अखण्ड होते हैं। जब ये सम्पूर्ण हों तभी श्रावक व्रत प्रतिमा का अधिकारी होता है। पहली प्रतिमा में तीन शल्यों का अभाव नहीं हुआ था किन्तु व्रत प्रतिमा का धारक निःशल्य होता है।

शरीर में घुस जाने वाले कांटे को शल्य कहते हैं। क्योंकि वह कष्ट देता है। उसी तरह कर्म के उदय से होने वाला विकार जीव को शारीरिक और मानसिक कष्ट देता है। अतः शल्य के समान होने से उसे शल्य कहते हैं। शल्य के तीन भेद हैं—माया-मिथ्या-निदान। तत्त्वों और देव, शास्त्र, गुरु के विषय में विपरीत अभिप्राय को मिथ्यात्व कहते हैं। ठगने को माया कहते हैं। तप, संयम आदि के प्रभाव से फल प्राप्ति के लिए होने वाली इच्छा विशेष को निदान कहते हैं। निदान प्रशस्त भी होता है और अप्रशस्त भी होता है। प्रशस्त निदान भी दो प्रकार का है। एक मुक्ति निमित्तक प्रशस्त निदान और दूसरा संसार निमित्तक प्रशस्त निदान। कर्मक्षय आदि की इच्छा करना मुक्ति निमित्तक प्रशस्त निदान है। और जैन धर्म की सिद्धि के लिए उच्चजाति आदि की इच्छा करना संसार निमित्तक प्रशस्त निदान है।

आचार्य अमितगति ने कहा है—कर्मों का अभाव, संसार के दुःख की हानि, दर्शन-ज्ञान की सिद्धि को चाहना मुक्ति हेतु निदान है। जिनधर्म की सिद्धि के लिए

जाति, कुल बन्धु-बान्धवों का अभाव और दरिद्रपने को चाहना संसार हेतु निदान है क्योंकि संसार के बिना जाति आदि की प्राप्ति नहीं होती।

अप्रशस्त निदान के दो भेद हैं—एक भोग के लिए और दूसरा मान के लिए। पाँचों इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा भोगार्थ निदान है। अपनी प्रतिष्ठा की चाह करना मानार्थ निदान है। ये दोनों ही निदान संसार में भटकाने वाले हैं। अतः संसार के निमित्त निदान की तो बात ही क्या है। मोक्ष की अभिलाषा भी मोक्ष में रुकावट पैदा करने वाली है इसलिए मुमुक्षुओं को अन्य की अभिलाषा न करके अपनी आत्मा में लीन होना चाहिए।

यदि शल्यों का अभाव न हो तो केवल हिंसा आदि के त्याग करने से व्रती नहीं होता। शल्यों का अभाव होने पर व्रत धारण करने से व्रती होता है।

जिसको सात तत्त्वों की और देव, शास्त्र, गुरु की यथार्थ प्रतीति नहीं, भले ही वह जन्म से जैन हो और उसने स्वर्ग के लोभ से व्रत धारण किये हों, फिर भी वह शास्त्रानुसार व्रती श्रावक या साधु नहीं है। पंच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों को धारण करने वाला ही व्रत प्रतिमा का धारक कहलाता है ॥ १७ ॥ १३८ ॥

अधुना सामायिकगुणसम्पन्नत्वं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह—

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥१८॥

सामयिकः समयेन प्राक्प्रतिपादितप्रकारेण चरतीति सामयिकगुणोपेतः। किंविशिष्टः? चतुरावर्तत्रितयः चतुरो वारानावर्तत्रितयं यस्य। एकैकस्य हि कायोत्सर्गस्य विधाने 'णमो अरहंताणस्य थोसामे' श्चाद्यन्तयोः प्रत्येकमावर्तत्रितयमिति एकैकस्य हि कायोत्सर्गविधाने चत्वार आवर्ता तथा तदाद्यन्तयोरेकैकप्रणामकरणाच्चतुः प्रणामः। स्थित ऊर्ध्वकायोत्सर्गोपेतः। यथाजातो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रह चिन्ताव्यावृत्तः। द्विनिषद्यो द्वे निषद्ये उपवेशने यस्य। देववन्दनां कुर्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्यः। त्रियोगशुद्धः त्रयो योगा मनोवाक्कायव्यापाराः शुद्धा सावद्यव्यापाररहिता यस्य। अभिवन्दी अभिवन्दत इत्येवंशीलः। कथं? त्रिसंध्यं ॥१८॥

वह श्रावक सामायिक गुण से सम्पन्न होता है, यह कहते हैं—

(यः) जो (चतुरावर्तत्रितयः) चार बार तीन-तीन आवर्त करता है, (चतुः प्रणामः) चार प्रणाम करता है, (स्थितः) कायोत्सर्ग से खड़ा होता है, (यथाजातः) बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्यागी होता है, (द्विनिषद्यः) दो बार बैठकर नमस्कार करता है (त्रियोगशुद्धः) तीनों योगों को शुद्ध रखता है और (त्रिसन्ध्यं) तीनों संध्याओं में (अभिवन्दी) वन्दना करता है, वह (सामयिकः) सामायिक प्रतिमाधारी है ।

टीकार्थ—सामायिक का लक्षण पहले बता चुके हैं। उस प्रकार जो आचरण करता है वह सामायिक गुण सहित कहलाता है। यहाँ पर सामायिक प्रतिमा का लक्षण बतलाते हुए उसकी विधि का भी निर्देश किया गया है। सामायिक करने वाला व्यक्ति एक-एक कायोत्सर्ग के बाद चार बार तीन-तीन आवर्त करता है। अर्थात् एक कायोत्सर्ग विधान में 'णमो अरहंताणं' इस आद्य सामायिक दण्डक और 'थोस्सामि हं' इस अन्तिम स्तव दण्डक के तीन-तीन आवर्त और एक-एक प्रणाम इस तरह बारह आवर्त और चार प्रणाम करता है। सामायिक करने वाला श्रावक इस क्रिया को खड़े होकर कायोत्सर्ग मुद्रा में करता है। सामायिक काल में नग्नमुद्राधारी के समान बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह की चिन्ता से परिमुक्त रहता है। देववन्दना करने वाले को प्रारम्भ में और अन्त में बैठकर प्रणाम करना चाहिए। इस विधि के अनुसार वह दो बार बैठकर प्रणाम करता है—मन-वचन-काय इन तीनों योगों को शुद्ध रखता है और सम्पूर्ण सावद्य व्यापार का त्याग करता हुआ तीनों सन्ध्याकालों में देव वन्दना करता है।

विशेषार्थ—सामायिक प्रतिमा वाले के लिए तीनों सन्ध्याकालों—प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल में देववन्दना करने का विधान है। आचार्य वसुनन्दी आदि ने कहा है—

जिणवयण धम्म चेइय परमेट्ठी जिणालयाण णिच्चं पि ।
जं वंदणं तियालं कीरइ सामाइयं तं खु ॥

जिनवचन, जिनधर्म, जिनचैत्य, परमेष्ठी तथा जिनालयों की तीनों कालों में जो वन्दना की जाती है, उसे सामायिक कहते हैं।

सामायिक करने वाला पुरुष सामायिक के पूर्व चतुर्दिग् वन्दना करे। पश्चात् ईर्यापथ शुद्धि बोले—

पडिक्कमामि भन्ते ! इरियावहियाए विराहणाए, अणागुत्ते, आइगमणे णिग्गमणे, ठाणे, गमणे, चंकमणे, पाणुग्गमणे, बीजुग्गमणे, हरियुग्गमणे, उच्चार-पस्सवण-खेल-सिंहाणय-वियडि-पइट्ठावणियाए, जे जीवा एइंदिया वा, बेइंदिया वा, तेइंदिया वा चउइन्दिया वा पंचिंदिया वा णोल्लिदा वा पेल्लिदा वा, संघट्टिदा वा, संघादिदा वा, उद्दाविदा वा, परिदाविदा वा, किरिंच्छिदा वा, लेस्सिदा वा, छिंदिदा वा, भिंदिदा वा, ठाणदो वा, ठाणचंकमणदो वा, तस्स उत्तरगुणं तस्स पायच्छित्तकरणं तस्स विसोहि-करणं जाव अरहंताणं, भयवंताणं, णमोक्कारं, पज्जुवासं करेमि तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि ।

यहाँ पर २७ उच्छ्‌वासों में ९ जाप्य करें ।

ईर्यापथ–आलोचना

ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादा–
देकेन्द्रिय–प्रमुख–जीव–निकायबाधा ।
निर्वर्तिता यदि भवेदयुगान्तरेक्षा,
मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरुभक्तितो मे ।।

इच्छामि भंते ! इरियावहियस्स आलोचेउं, पुव्वुत्तर-दक्खिण-पच्छिम-चउदिसु-विदिसासु, विहरमाणेण जुगंतर-दिट्ठिणा, भव्वेण दट्ठव्वा । प्रमाद-दोसेण, डव-डव चरियाए, पाण-भूद-जीव-सत्ताणं, उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

कृत्य प्रतिज्ञा

नमोस्तु भगवन् ! देव वन्दनां करिष्यामि ।
सिद्धं सम्पूर्ण-भव्यार्थं, सिद्धेः कारणमुत्तमम् ।
प्रशस्त - दर्शन - ज्ञान - चारित्र - प्रतिपादनम् ।।१।।
सुरेन्द्र - मुकुटाश्लिष्ट - पादपद्मांशु - केशरम् ।
प्रणमामि महावीरं, लोकत्रितय-मङ्गलम् ।।२।।
खम्मामि सव्व-जीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्व-भूदेसु, वेरं मज्झं ण केण वि ।।१।।

राग - बंध - पदोसं च हरिसं दीण-भावयं ।
उस्सुगत्तं भयं सोगं, रदि-मरदिं च वोस्सरे ॥२॥
हा ! दुट्ठ-कयं, हा ! दुट्ठ चिंतियं, भासियं च हा ! दुट्ठं ।
अंतो-अंतो डज्झमि, पच्छुत्तावेण वेयंतो ॥ ३ ॥
दव्वे खेत्ते काले, भावे य कदावराह-सोहणयं ।
णिंदण-गरहण-जुत्तो, मण-वच-काएण पडिक्कमणं ॥४॥
समता सर्वभूतेषु, संयमः शुभ भावना ।
आर्त-रौद्र-परित्यागस्तद्धि सामायिकं मतम् ॥५॥

अथ कृत्य विज्ञापना

भगवन् ! नमोस्तु प्रसीदन्तु, प्रभुपादौ वन्देऽहम् ।
एषोऽहं सर्व सावद्य योगाद् विरतोऽस्मि ॥

अथ पौर्वाह्णिक (माध्याह्णिक) (आपराह्णिक) देववन्दना - क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकल-कर्म क्षयार्थं, भाव-पूजा वन्दना-स्तवसमेतं श्री चैत्य भक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं ।

(यहाँ पर सर्व प्रथम भूमि स्पर्शनात्मक पंचांग नमस्कार करें पश्चात् तीन आवर्त और एक शिरोनति कर निम्नलिखित सामायिक दण्डक पढ़ें ।)

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

चत्तारि मंगलं-अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं । चत्तारि लोगुत्तमा-अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो । चत्तारि सरणं पव्वज्जामि-अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।

कृतिकर्म-दण्डक पाठ

अड्ढाइज्ज-दीव-दो-समुद्देसु, पण्णरस-कम्मभूमिसु, जाव अरहंताणं, भयवंताणं, आदियराणं, तित्थयराणं, जिणाणं, जिणोत्तमाणं, केवलियाणं, सिद्धाणं, बुद्धाणं, परि-

णिव्वुदाणं, अंतयडाणं, पारगयाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मणायगाणं, धम्म-वर-चाउरंग-चक्कवट्टीणं, देवाहि-देवाणं, णाणाणं, दंसणाणं, चरित्ताणं तवाणं सया करेमि, किरियम्मं ।

सामायिक-ग्रहण-प्रतिज्ञा पाठ

करेमि भंते ! सामायियं सव्व-सावज्ज-जोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवं, तिविहेण-मणसा-वचसा-काएण ण करेमि, ण कारेमि, अण्णं करंतं पि ण समणुमण्णामि। तस्स भंते ! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि, गरहामि अप्पाणं जाव अरहंताणं, भय-वंताणं पज्जुवासं करेमि, ताव कालं, पाव कम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि ।

(यहाँ तीन आवर्त एवं एक शिरोनति करके २७ उच्छ्वासों में ९ बार णमोकार मन्त्र के जाप पूर्वक कायोत्सर्ग करें । पश्चात् पंचांग नमस्कार करें । तदनन्तर तीन आवर्त और एक शिरोनति करके निम्नलिखित चतुर्विंशति स्तव पढ़ें)

卐 चतुर्विंशति स्तव 卐

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंत जिणे ।
णर-पवर-लोय महिए, विहुय-रय मले महप्पण्णे ।।१।।
लोयस्सुज्जोय-यरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे ।
अरहंते कित्तिस्से चउबीसं चेव केवलिणो ।।२।।
उसह मजियं च वंदे संभव मभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ।।३।।
सुविहिं च पुप्फयंतं सीयल सेयं च वासुपूज्यं च ।
विमल मणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि ।।४।।
कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं ।
वंदे अरिट्ठ-णेमिं तह पासं वड्ढमाणं च ।।५।।
एवं मए अभित्थुआ विहुय-रय-मला पहीण-जर-मरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ।।६।।
कित्तिय वंदीय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा ।
आरोग्ग णाण लाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं ।।७।।

चंदेहिं णिम्मलयरा आइच्चेहिं अहिय पया संता।
सायर मिव गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥

(यहाँ तीन आवर्त और एक शिरोनति करें। पश्चात् दोनों हाथों को मुकुलित कर चैत्य भक्ति पढ़ें।)

❀ चैत्य भक्ति ❀

जयति भगवान्, हेमाम्भोज-प्रचार-विजृम्भिता-
वमर मुकुटच्छायोद्‌गीर्ण प्रभा-परिचुम्बितौ।
कलुष-हृदया, मानोद्‌भ्रान्ताः परस्पर-वैरिणः,
विगत कलुषाः पादौ यस्य, प्रपद्य विशश्वसुः॥

इत्यादि चैत्यभक्ति पढ़ें। पश्चात पञ्चमहागुरुभक्ति के लिए पूर्ववत् पंचांग नमस्कार, तीन आवर्त और एक शिरोनति कर सामायिक दण्डक पढ़ें और ६ बार णमोकार मन्त्र पूर्वक कायोत्सर्ग करें। पश्चात् पंचांग नमस्कार करें। तदनन्तर तीन आवर्त और एक शिरोनति कर चतुर्विंशति स्तव 'थोस्सामि हं जिणवरे' पढ़ें।

(फिर तीन आवर्त एक शिरोनति करें। पश्चात् वन्दना मुद्रा पूर्वक पंच-महागुरु भक्ति पढ़ें।)

पंच महागुरु भक्ति

मणुय णाइंद सुर धरिय छत्तत्तया,
पंचकल्लाण-सोक्खावली पत्तया।
दंसणंणाण झाणं अणंतं बलं,
ते जिणा दिंतु अम्हं वरं मङ्गलं ॥१॥

इत्यादि पञ्चगुरु भक्ति पढ़ें। इसी क्रम से अन्त में समाधिभक्ति पढ़ें।

इस प्रकार व्रती श्रावक त्रिकाल देव वन्दना करे। पहले जो कहा था कि आगे की प्रतिमा धारण करने का अधिकारी वही होता है जो उससे पूर्व की प्रतिमाओं में सुदृढ़ होता है। अतः तीसरी प्रतिमा धारण करने वाले को प्रथम दार्शनिक प्रतिमा

और दूसरी व्रत प्रतिमा के सम्यग्दर्शन, मूलगुण तथा उत्तरगुणों का पूर्ण अभ्यासी अवश्य होना चाहिए। उस अभ्यास के प्रसाद से उसके रागादि और क्षीण होंगे। तथा शुद्ध आत्मा के विकसित हुए ज्ञान से होने वाले सुख का स्वाद भी बढ़े। यही ज्ञान की विशुद्धता है। द्रव्यश्रुत के ज्ञान के साथ भावश्रुतज्ञान भी होना चाहिए। तभी तो वह तीनों सन्ध्याओं में कष्ट आने पर भी साम्यभाव से नहीं डिगता है। मोह और क्षोभ से रहित आत्म परिणाम को साम्य कहते हैं। सामायिक प्रतिमा वाला साम्यभाव का धारी होता है। सामायिक काल में कष्ट आने पर साम्यभाव से विचलित नहीं होना चाहिए।

अनगार धर्मामृत के षडावश्यक अध्याय में जो वन्दना कर्म कहा है, उसे कृतिकर्म कहते हैं। तीनों सन्ध्याओं में कृतिकर्म करने को व्यवहार सामायिक कहते हैं। व्यवहार सामायिक पूर्वक ध्यान होता है। इस ध्यान का लक्षण है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकाग्रता। वह ध्यान ऐसा निश्चल हो कि अन्य उपसर्ग की तो बात ही क्या, यदि वज्र भी आ पड़े तो भी विचलित न हो। ऐसी स्थिरता निश्चय सामायिक है।

जिस महात्मा ने व्यवहार सामायिक पूर्वक निश्चय सामायिक प्रतिमा पर आरोहण किया, उसने सामायिक व्रत रूपी देवालय के शिखर पर कलश चढ़ा दिया।

दूसरी प्रतिमा में जो सामायिक शिक्षाव्रत है उसका शीलव्रत रूप में पालन होता है। उसमें दो घड़ी के समय का और तीन बार सामायिक करने का नियम नहीं रहता, किन्तु सामायिक प्रतिमा में ये नियम रहते हैं ॥१८॥१३९॥

साम्प्रतं प्रोषधोपवासगुणं श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाह—

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषधनियमविधायी प्रणिधिपरः प्रोषधानशनः ॥१९॥

प्रोषधेनानशनमुपवासो यस्यासौ प्रोषधानशनः। किमनियमेनापि यः प्रोषधोपकारी सोऽपि प्रोषधानशनव्रत सम्पन्न इत्याह–प्रोषधनियमविधायी प्रोषधस्य नियमोऽवश्यंभावस्तं विदधातीत्येवंशीलः। क्व तन्नियमविधायी ? पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि द्वयोश्चतुर्दश्योर्द्वयोश्चाष्टम्योरिति। किं चातुर्मास्यादौ तद्विधायीत्याह–मासे मासे। किं

कृत्वा ? स्वशक्तिमनिगुह्य तद्विधाने आत्मसामर्थ्यमप्रच्छाद्य । किंविशिष्ट: ? प्रणिधिपर: एकाग्रतां गत: शुभध्यानरत इत्यर्थ: ।।१६।।

श्रावक के प्रोषधोपवासगुण का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

(य:) जो (मासे मासे) प्रत्येक मास में (चतुर्ष्वपि) चारों (पर्वदिनेषु) पर्व के दिनों में (स्वशक्तिम्) अपनी शक्ति को (अनिगुह्य) न छिपाकर (प्रोषधनियम-विधायी) प्रोषध सम्बन्धी नियम को करता हुआ (प्रणिधिपर:) एकाग्रता में तत्पर रहता है, वह (प्रोषधानशन:) प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी है ।

टीकार्थ—'प्रोषधेनानशनमुपवासो यस्यासौ प्रोषधानशन:' इस विग्रह के अनुसार धारणा-पारणा के दिन एकाशन और पर्व के दिन जो उपवास करता है, वह प्रोषधनियमविधायी कहलाता है । जो बिना नियम के प्रोषध-उपवास करता है वह भी प्रोषधव्रत सम्पन्न कहलाता है । इसके उत्तरस्वरूप में कहते हैं कि प्रोषधोपवास के नियम का परिपालन करने वाला तो अवश्य ही नियमपूर्वक पर्व के दिनों में अर्थात् दो अष्टमी और दो चतुर्दशी के दिनों में प्रोषधोपवास व्रत का परिपालन करता है । तो क्या चातुर्मास के प्रारम्भ से इस व्रत का पालन किया जाता है ? उत्तर देते हैं कि प्रत्येक माह की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार पर्व के चारों दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर उपवास करना होता है । इस प्रतिमा का धारक एकाग्रता से शुभ ध्यान में तत्पर रहता है ।

विशेषार्थ—जिन आचार्यों ने प्रोषध का अर्थ एकाशन न करके पर्व अर्थ किया है उनके मत से 'प्रोषधे पर्वणि अनशनमुपवासो यस्यासौ' अर्थात् जो पर्व के दिनों में उपवास करता है । यहाँ प्रोषधनियमविधायी का विग्रह इस प्रकार है 'प्रोषधस्य पर्वणो नियमं विदधातीति प्रोषधनियमविधायी' अर्थात प्रोषधोपवास प्रतिमा का धारी प्रोषधोपवास के काल में–पर्व के दिनों में पांचों पापों का, अलंकार, शृंगार, अंजन, आरम्भादि का त्याग करता है । शरीर आदि से ममत्व नहीं करता । उपवास के दिन चित्त की एकाग्रता (शुभ ध्यान) करता है ।

आहार त्याग, अंगसंस्कार त्याग, व्यापार त्याग और ब्रह्मचर्य धारण से प्रोषधव्रत को चार प्रकार का कहा है । यहां पर 'स्वशक्तिमनिगुह्य' इस पद से यह

सूचित किया है कि शक्ति के रहते हुए तो उपवास करे परन्तु रोग या वृद्धावस्था के कारण शक्ति क्षीण हो गई हो तो अनुपवास या एकाशन, अल्प आहार या कांजी आहार भी लेकर ध्यान में लीन हो सकता है।

परमकाष्ठा को प्राप्त प्रोषधोपवासियों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—जो अशुभकर्म की निर्जरा के लिए मुनि की तरह कायोत्सर्ग से स्थित होकर पर्व की रात बिताते हैं, और किसी भी परीषह अथवा उपसर्ग द्वारा समाधि से च्युत नहीं होते, उन चतुर्थ प्रतिमाधारी श्रावकों का हम स्तवन करते हैं ऐसा आशाधरजी ने कहा है—

'निशां नयन्तः प्रतिमायोगेन दुरितच्छिदे ।
ये क्षोभ्यन्ते न केनापि तान्नुमस्तुर्यभूमिगान् ।।

।। १९ ।। १४० ।।

इदानीं श्रावकस्य सचित्तविरतिस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

मूलफलशाक शाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि ।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ।।२०।।

सोऽयंश्रावकः सचित्तविरति गुणसम्पन्नः। यो नात्ति न भक्षयति। कानीत्याह—मूलेत्यादि—मूलं च फलं च शाकश्च शाखाश्च कोपलाः करीराश्च वंशकिरणाः कंदाश्च प्रसूनानि च पुष्पाणि बीजानि च तान्येतानि आमानि अपक्वानि यो नात्ति। कथंभूतः सन्? दयामूर्तिः दयास्वरूपः सकरुणचित्त इत्यर्थः ।।२०।।

अब श्रावक के सचित्तविरति-गुण का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

(यः) जो (दयामूर्तिः) दया की मूर्ति होता हुआ (आमानि) अपक्व-कच्चे (मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि) मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, प्रसून और बीज को (न अत्ति) नहीं खाता है (सोऽयं) वह यह (सचित्तविरतः) सचित्त त्यागी है।

टीकार्थ—गाजर, मूली आदि मूल कहलाते हैं। आम, अमरूद आदि फल हैं, पत्ती वाले शाक भाजी कहलाते हैं। वृक्ष की नई कोंपल शाखा कहलाती है। बाँस के अंकुर को करीर कहते हैं, जमीन में रहने वाले अंगीठा आदि को कन्द कहते हैं।

गोभी आदि के फूल को प्रसून कहते हैं और गेहूं आदि को बीज कहा जाता है । ये सब अपक्व अवस्था में सचित्त सजीव रहते हैं अतः दयामूर्ति—दया का धारक श्रावक इन्हें नहीं खाता है ।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त चार प्रतिमाओं का निर्वाह करने वाला दयामूर्ति श्रावक अप्रासुक अर्थात् अग्नि में न पकाये हुए हरित अंकुर, हरितबीज, जल आदि को नहीं खाता । वह सचित्तत्याग प्रतिमाधारी है ।

पं० आशाधरजी ने कहा है जो म्लान नहीं हुई है, आर्द्र अवस्था में है, उसे हरित कहा है । आचार्य समन्तभद्र ने उसे 'आम' शब्द से कहा है । आम का अर्थ होता है कच्चा, जो पका नहीं है । और अप्रासुक का अर्थ पं० आशाधरजी ने किया है जो आग से नहीं पकाया गया है । यद्यपि अप्रासुक को प्रासुक करने के कई प्रकार आगम में कहे हैं—

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिललवणेन मिस्सियंदव्वं ।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुवं भणियं ॥

अर्थ—सुखाना, पकाना, आग पर गर्म करना, चाकू से छिन्न-भिन्न करना, उसमें नमक आदि मिलाना ये सब प्रासुक करने की विधियां हैं । **लाटी संहिता** में कहा है कि सचित्तविरत प्रतिमा में सचित्त भक्षण के त्याग का नियम है, सचित्त को स्पर्श करने का त्याग नहीं है । इसलिए अपने हाथ से उसे प्रासुक करके भोजन में ले सकता है ।

सचित्तविरत को दयामूर्ति क्यों कहा ? इसका समर्थन करते हुए कहा है, पाँचवी प्रतिमा के साधन में तत्पर जो श्रावक प्रयोजनवश हरित वनस्पति को पैर से छूने में भी अत्यन्त घृणा करता है, क्योंकि उसमें अनन्तनिगोद नामक साधारण शरीर वनस्पतिकायिक जीवों का वास है तो क्या वह उस हरित वनस्पति को खायेगा ? अर्थात् नहीं खायेगा ।

आगम में हरित वनस्पति में अनन्त निगोदिया जीवों का वास कहा है । प्रत्येक वनस्पति के दो भेद हैं—सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक । जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रय से साधारण वनस्पतिकायिक जीव रहते हैं उसे सप्रतिष्ठित

प्रत्येक कहते हैं। ऐसी वनस्पति को पंचमप्रतिमा का धारी पैर से भी छूने में ग्लानि करता है।

महापुराण में ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति बतलाते हुए कहा है कि भरतचक्रवर्ती ने परीक्षा के लिए मार्ग में हरित घास बिछवा दी थी। तो जो दयालु विचारवान आगन्तुक थे वे उस पर चलकर नहीं आये। भरत ने उनसे इसका कारण पूछा, तो वे बोले हे देव ! हमने सर्वज्ञ देव के वचन सुने हैं कि हरित अंकुर आदि में अनन्त जीव रहते हैं। इसलिये पाँचवीं प्रतिमा धारण करने वाले सचित्त विरत को दयामूर्ति कहा है। सचित्त विरत श्रावक की दो विशेषताएं आश्चर्य पैदा करने वाली हैं—एक उनका जिनागम के प्रामाण्य पर विश्वास और दूसरे उनका जितेन्द्रियपना। जिस वनस्पति में जन्तु दृष्टिगोचर नहीं होते, उसको भी न खाना उनकी प्रथम विशेषता का समर्थन करता है। और प्राण चले जाने पर भी न खाना उनकी दूसरी विशेषता का समर्थन करता है।

भोगोपभोग परिमाण श्रावक शील के अतिचाररूप से सचित्त भोजन व्रत प्रतिमाधारी के लिए त्याज्य कहा था, किन्तु यहाँ खाये जाने वाले सचित्त द्रव्य में रहने वाले जीवों के मरण से भयभीत पंचम प्रतिमाधारी श्रावक उस सचित्त भोजन का व्रत रूप से त्याग कर देता है ॥२०॥१४१॥

अधुना रात्रिभुक्तिविरतिगुणं श्रावकस्य व्याचक्षाणः प्राह—

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम् ।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥२१॥

स च श्रावको। रात्रिभुक्तिविरतोऽभिधीयते। यो विभावर्यां रात्रौ। नाश्नाति न भुंक्ते। किं तदित्याह-अन्नमित्यादि-अन्नं भक्तमुद्गादि, पानं द्राक्षादिपानकं, खाद्यं मोदकादि, लेह्यं रब्वादि। किंविशिष्टः ? अनुकम्पमानमनाः सकरुणहृदयः। केषु ? सत्वेषु प्राणिषु ॥२१॥

अब श्रावक के रात्रिभुक्तिविरति गुण की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

(यः) जो (सत्वेषु) जीवों पर (अनुकम्पमानमनाः) दयालु चित्त होता हुआ (विभावर्याम्) रात्रि में (अन्नं) अन्न, (पानं) पेय, (खाद्यं) खाद्य और (लेह्यं)

लेह्य–चाटने योग्य पदार्थ को (नाश्नाति) नहीं खाता है (स च) वह (रात्रिभुक्ति-विरत:) रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमाधारी श्रावक (अस्ति) है ।

टीकार्थ—वह श्रावक रात्रि भोजन त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है जो **अन्न**–भात, दाल आदि; पान–दाख आदि का रस; खाद्य–लड्डू आदि और लेह्य–रबड़ी आदि पदार्थों को जीवों पर अनुकम्पा दया करता हुआ रात्रि में नहीं खाता है ।

विशेषार्थ—छठी प्रतिमा रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा है । यहाँ प्रश्न है कि इस प्रतिमा में चार प्रकार के आहार का त्याग करने को कहा है । किन्तु रात्रि में जल तक का त्याग तो पहली दर्शन प्रतिमा में ही हो जाता है तो भोजन का तो कोई प्रश्न ही नहीं है । ऐसी स्थिति में इस प्रतिमा की उपयोगिता क्या हुई ? इसका उत्तर यह है कि इस प्रतिमा के पूर्व की प्रतिमाओं में तो कृत की अपेक्षा ही त्याग था, अर्थात् स्वयं रात्रि में भोजन नहीं करना । परन्तु इस प्रतिमा में कृत-कारित-अनुमोदना, और मन-वचन-काय इन नौ कोटियों से त्याग हो जाता है । अर्थात् इस प्रतिमा का धारक न तो स्वयं रात्रि भोजन करता है और न दूसरों को कराता है और न करते हुए की अनुमोदना ही करता है ।

किन्हीं आचार्यों ने इस प्रतिमा का नाम दिवामैथुन त्याग प्रतिमा रखा है । काम सेवन के दोष, स्त्री के दोष, स्त्री संसर्ग के दोष और अशौच तथा आर्य पुरुषों की संगति ये स्त्री से विरक्त होने के निमित्त हैं । काम सेवन आदि के दोषों का चिन्तन करने से तथा ब्रह्मचारी कामजयी पुरुषों की संगति से स्त्री से विराग उत्पन्न होता है । जब उसका मन उन निमित्तों में एकाग्र न हो जाये अर्थात् उसके मन में स्त्री सेवन न करने के प्रति दृढ़ता आ जावे तब पहले दिन में उसका सेवन न करने का नियम लेने वाला श्रावक छठी प्रतिमा का धारी होता है, यहां पर इतनी विशेषता है कि इस प्रतिमा का धारक मात्र काय से ही नहीं किन्तु मन-वचन-काय और कृत-कारित, अनुमोदना से भी दिन में मैथुन का त्याग करता है वह छठी प्रतिमा का धारक है ।

पहले कहा था कि छठी प्रतिमा के स्वरूप को लेकर ग्रन्थकारों में थोड़ा मत भेद है । छठी प्रतिमा का नाम रात्रिभक्त व्रत भी है । भक्त का अर्थ स्त्री सेवन भी होता है, जिसे भाषा में भोगना कहते हैं और भोजन भी होता है । चारित्रसार आदि ग्रन्थों के मत से जो रात्रि में स्त्री सेवन का व्रत (यानी दिन में स्त्री सेवन का त्याग)

लेता है वह रात्रिभुक्तव्रत है। और इस ग्रन्थ के अनुसार जो रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है वह रात्रिभुक्ति त्यागव्रत है। उसमें कहा है कि जो रात्रि में अन्न, पान, खाद्य, लेह्य चारों प्रकार के आहार को नहीं खाता वह रात्रिभुक्तिविरत है ॥ २१ ॥ १४२ ॥

साम्प्रतम् ब्रह्मविरतत्वगुणं श्रावकस्य दर्शयन्नाह—

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं ।
पश्यन्नंगमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥२२॥

अनङ्गात् कामाद्यो विरमति व्यावर्तते स ब्रह्मचारी। किं कुर्वन् ? पश्यन्। किं तत् ? अङ्गं शरीरं। कथंभूतमित्याह--मलेत्यादि मलं शुक्रशोणितं बीजं कारणं यस्य। मलयोनिं मलस्य मलिनतायाः अपवित्रत्वस्य योनिः कारणं। गलन्मलं गलन् स्रवन् मलो मूत्रपुरीषस्वेदादिलक्षणो यस्मात्। पूतिगंधि दुर्गन्धोपेतं। बीभत्सं सर्वावयवेषु पश्यतां बीभत्सभावोत्पादकं ॥२२॥

अब श्रावक के अब्रह्मविरतनामक गुण को दिखाते हुए कहते हैं—

(मलबीजं) शुक्रशोणितरूप मल से उत्पन्न (मलयोनिं) मलिनता का कारण (गलन्मलं) मलमूत्रादि को झराने वाले (पूतिगन्धि) दुर्गंध से सहित और (बीभत्सं) ग्लानि को उत्पन्न करने वाले (अङ्गं) शरीर को (पश्यन्) देखता हुआ (यः) जो (अनङ्गात्) काम सेवन से (विरमति) विरत होता है (सः) वह (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी अर्थात् ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक है।

टीकार्थ—जो स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के शरीर को देखकर कामादिक से विरक्त होते हैं, वे ब्रह्मचारी हैं। यह शरीर कैसा है ? मल—शुक्र—शोणितरूप मल का कारण है। मलयोनि—अपवित्रता का कारण है। इस शरीर से मल, मूत्र, पसीना आदि झरते रहते हैं। यह दुर्गन्ध से सहित है इसके सभी अंगों को देखकर ग्लानि ही उत्पन्न होती है।

विशेषार्थ—ब्रह्म के अनेक अर्थ हैं। चारित्र, आत्मा, ज्ञानादि। 'ब्रह्मणि आत्मनि चरतीति ब्रह्मचारी' जो आत्मा में चरण करता है यानी अपने ज्ञाता द्रष्टा

स्वभाव में लीन रहता है, वह ब्रह्मचारी है। अर्थात् निश्चय से तो आत्मा में रमण करने वाला ब्रह्मचारी है, और व्यवहार से जो स्त्री मात्र के सेवन का त्यागी है, वह ब्रह्मचारी है। स्त्री मात्र से आशय केवल मनुष्य जाति की स्त्रियों से ही नहीं है, अपितु देवांगना और पशु स्त्रियां तथा काष्ठ, पाषाण आदि में निर्मित एवं चित्रों में अंकित प्रतिकृतियाँ भी ली जाती हैं। उनके सेवन का त्याग काय मात्र से नहीं अपितु मन-वचन से भी उनके सेवन का त्याग होना चाहिए।

जिस पदार्थ से राग घटाना हो उसके बीभत्सस्वरूप का चिन्तन करना आवश्यक होता है। यहां शरीर से राग घटाना है इसलिये आचार्य ने शरीर की अपवित्रता एवं इसके बीभत्सरूप का वर्णन किया है। वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो शरीर घृणा का ही स्थान है क्योंकि इसकी उत्पत्ति माता-पिता के शुक्र-शोणितरूप अपवित्र उपादान से हुई है। यह अपवित्रता का कारण है, इसके नव द्वारों से सदैव अपवित्र मल झरता रहता है, यह दुर्गन्धयुक्त है, तथा देखने वालों को भी ग्लानि उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार शरीर की अपवित्रता का विचार कर शरीर से राग घटाकर विषय सेवन से निवृत्त हो जाना ब्रह्मचारी का लक्षण है। अतः ब्रह्मचारी को शरीरादि के राग को घटाकर आत्मसाधना के लिए अपने स्वरूप की ओर दृष्टि करनी चाहिए।

शरीर के यथार्थ स्वरूप का विचार कर जो ऐसे शरीर के प्रति उत्पन्न हुई काम वासना से विरक्त होता है वह सप्तम प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी कहलाता है। यह अपनी विवाहिता स्त्री का भी सेवन नहीं करता, राग उत्पन्न करने वाले वस्त्राभरण नहीं पहनता, शृंगारकथा, हास्यकथा, काव्य नाटकादि का पठन श्रवण यानि रागवर्धक सभी वस्तुओं का त्याग कर देता है।

निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों का नाम लेने मात्र से ब्रह्मराक्षस आदि क्रूर प्राणी भी शान्त हो जाते हैं, देवता भी सेवकों की तरह व्यवहार करते हैं, तथा उन्हें विद्या और मन्त्र भी सिद्ध हो जाते हैं ॥२२॥१४३॥

इदानीमारम्भविनिवृत्तिगुणं श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाह—

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥२३॥

यो व्युपारमति विशेषेण उपरतः व्यापारेभ्यः आसमन्तात् जायते असावारम्भविनिवृत्तो भवति । कस्मात् ? आरम्भतः । कथंभूतात् ? सेवाकृषिवाणिज्याः प्रमुखा आद्या यस्य तस्मात् । कथंभूतात् ? प्राणातिपातहेतोः प्राणानामतिपातो वियोजनं तस्य हेतोः कारणभूतात् । अनेन स्नपनदानपूजाविधानाद्यारंभादुपरतिर्निराकृता तस्य प्राणातिपातहेतुत्वाभावात् प्राणिपीडापरिहारेणैव तत्सम्भवात् । वाणिज्याद्यारम्भादपि तथा सम्भवस्तर्हि विनिवृत्तिर्न स्यादित्यपि नानिष्टं प्राणिपीडाहेतोरेव तदारम्भात् निवृत्तस्य श्रावकस्यारम्भविनिवृत्तत्वगुणसम्पन्नतोपपत्तेः ।।२३।।

अब श्रावक के आरम्भनिवृत्ति नामक गुणका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

(यः) जो (प्राणातिपातहेतोः) प्राणघात के कारण (सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखात्) सेवा, खेती तथा व्यापार आदि (आरम्भतः) आरम्भ से (व्युपारमति) निवृत्त होता है (असौ) वह (आरम्भविनिवृत्तः) आरम्भत्याग प्रतिमा का धारक है ।

टीकार्थ—जो आरम्भादि से सब ओर से निवृत्त होता है वह आरम्भनिवृत्त कहलाता है । आरम्भ में नौकरी खेती तथा व्यापार आदि प्रमुख हैं । आरम्भादि का त्याग क्यों किया जाता है ? इसके समाधान में 'प्राणातिपातहेतोः' यह हेत्वर्थक विशेषण दिया है, कि जो आरम्भ प्राणघात का कारण है इसलिये इससे निवृत्त होना चाहिए । इस विशेषण के देने से यह सिद्ध हो जाता है कि आरम्भत्याग प्रतिमाधारी श्रावक अभिषेक, दान-पूजन आदि के लिए आरम्भ कर सकता है । उससे निवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्राणघात का कारण नहीं है, यह कार्य प्राणि हिंसा को बचाकर ही किया जाता है । यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि जिस व्यापारादि में हिंसा नहीं होती उसे वह कर सकता है क्या ? इसके उत्तर में कहा है कि ऐसे आरम्भ से उसकी निवृत्ति न हो यह हमें अनिष्ट नहीं है, क्योंकि जो आरम्भ प्राणि पीड़ा का हेतु है उससे निवृत्त होने वाले श्रावक के यह आरम्भत्याग प्रतिमा होती है ।

विशेषार्थ—पहले की सात प्रतिमाओं के संयम में पूर्ण निष्ठ जो श्रावक प्राणियों की हिंसा का कारण होने से खेती, नौकरी, व्यापार आदि आरम्भों को मन-वचन-काय से न स्वयं करता है और ना दूसरों से कराता है वह आरम्भविरत है ।

रोजगार-धन्धों के कार्यों को आरम्भ कहते हैं । क्योंकि उससे जीवघात होता है । ऐसा श्रावक दान-पूजा आदि का आरम्भ तो कर सकता है क्योंकि ये प्राणघात

के कारण नहीं हैं। प्राणियों की पीड़ा को बचाकर करने से ही दान-पूजा सम्भव होती है। यदि व्यापार आदि में भी प्राणियों का घात नहीं होता तो उसका त्याग नहीं कराया जाता, किन्तु इन कार्यों में तो हिंसा है ही। अतः यहां धार्मिक कार्यों का निषेध नहीं है। आरम्भ का त्याग श्रावक मन-वचन-कायपूर्वक, कृत-कारित से करता है। अनुमोदना का त्याग नहीं करता, क्योंकि पुत्रादिकों को अनुमति से बचना कभी-कभी अशक्य हो जाता है।

स्वामी समन्तभद्र ने मन-वचन-काय या कृत-कारित का निर्देश नहीं किया है। जो हिंसा के कारण सेवा, खेती, व्यापार आदि आरम्भ का त्यागी है, वह आरम्भविरत है ऐसा कहा है।

धनोपार्जन करने के साधन व्यापारादि सम्बन्ध से जितने भी पापारम्भ होते हैं, उनका त्याग करे और स्त्री पुत्रादि तथा धनादि समस्त परिग्रह का विभाग करके अल्प धन स्वयं रखे। उसे अपने शरीर के साधन, भोजन-औषधि आदि में लगावे, अन्य साधर्मियों के दुःख आदि के आने पर उनका भी धनादि देकर उपकार करे, यह दान-पूजा का आरम्भ स्वयं कर सकता है। ऐसा टीका से विदित होता है। तब स्वयं भोजन बनाकर भी खा सकते हैं और पात्रदानादि भी कर सकते हैं।

स्वामी समन्तभद्राचार्य के 'सेवाकृषिवाणिज्य प्रमुखात्' और 'प्राणातिपात हेतोः' इन दो विशेषणों से पशु पालनादि, तथा व्यापार आदि को ग्रहण करने की विवक्षा है। क्योंकि ये कार्य हिंसा प्रधान हैं। इसलिये आरम्भ शब्द से व्यापार ही अभीष्ट है सूनादि नहीं।

लाटी संहिता में कहा है—

प्रक्षालनं च वस्त्राणां प्रासुकेन जलादिना।
कुर्यात् स्वस्य हस्ताभ्यां कारयेद्वा सधर्मणा ॥

अर्थात्—कपड़े धोना, जलादि भरना आदि कार्य स्वयं अपने हाथ से कर सकता है और दूसरे साधर्मियों से करा सकता है ॥२३॥१४४॥

अधुना परिग्रहनिवृत्तिगुणं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह—

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः ।
स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥२४॥

परि समन्तात्, चित्तस्थः परिग्रहो हि परिचित्त परिग्रहस्तस्माद्विरतः श्रावको भवति । किं विशिष्टः सन् ? स्वस्थो मायादिरहितः । तथा सन्तोषपरः परिग्रहाकांक्षा-व्यावृत्त्या सन्तुष्टः तथा । निर्ममत्वरतः । किं कृत्वा ? उत्सृज्य परित्यज्य । किं तत् ? ममत्वं मूर्च्छां । क्व ? बाह्येषु दशसु वस्तुषु । एतदेव दशधा परिगणनं बाह्यवस्तूनां दर्श्यते ।

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् ।
शयनासने च यानं कुप्यं भाण्डमिति दश ॥

क्षेत्रं सस्याधिकरणं च डोहलिकादि । वास्तु गृहादि । धनं सुवर्णादि । धान्यं व्रीह्यादि । द्विपदं दासीदासादि । चतुष्पदं गवादि । शयनं खट्वादि । आसनं विष्टरादि । यानं डोलिकादि । कुप्यं क्षौमकार्पासिककौशेयकादि । भाण्डं श्रीखण्डमंजिष्टाकांस्य-ताम्रादि ॥ २४ ॥

अब श्रावक के परिग्रहत्याग गुणका वर्णन करते हुए कहते हैं ।

(दशसु) दश (बाह्येषु) बाह्य (वस्तुषु) वस्तुओं में (ममत्वं) ममताभाव को (उत्सृज्य) छोड़कर (निर्ममत्वरतः) निर्ममत्वभाव में लीन होता हुआ जो (स्वस्थः) आत्मस्वरूप में स्थित तथा (सन्तोषपरः) सन्तोष में तत्पर रहता है (सः) वह (परिचित्तपरिग्रहात्) सब ओर से चित्त में स्थित परिग्रह से (विरतः) विरत होता है ।

टीकार्थ—'परिसमन्तात् चित्तस्थः परिग्रहो हि परिचित्त परिग्रहः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो परिग्रह निरन्तर चित्त में स्थित रहता है ऐसा ममकाररूप परिग्रह परिचित्तपरिग्रह कहलाता है । ऐसे परिग्रह से विरत वही श्रावक हो सकता है जो स्वस्थ–मायाचारादि से रहित हो, तथा सन्तोष धारण में तत्पर हो, परिग्रह की आकांक्षा से निवृत्त हो, निर्ममत्व हो, अर्थात् जिसने दश प्रकार के बाह्यपरिग्रह के ममत्व का त्याग कर दिया है ।

अब दस प्रकार का बाह्यपरिग्रह बतलाते हैं—

क्षेत्र–धान्य की उत्पत्ति का स्थान ऐसे डोहलिका आदि स्थानों को खेत कहते हैं। (जिस खेत में चारों ओर से बांध बाँधकर पानी रोक लेते हैं ऐसे धान्य के छोटे-छोटे खेतों को डोहलिका कहते हैं।) **वास्तु**–मकान आदि। **धन**- सोना-चांदी आदि। **धान्य**–चावलादि। **द्विपद**–दासी-दासादि। **चतुष्पद**–गाय आदि। **शयन**–पलंगादि और आसन-बिस्तर आदि। **यान**–पालकी आदि। **कुप्य**–रेशमी-सूती कोशादि के वस्त्र। **भाण्ड**–चन्दन, मजीठ, कांसा तथा तांबे आदि के बर्तन। यह दस प्रकार का परिग्रह है। इसका त्यागी परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी होता है।

विशेषार्थ—परिग्रह में जो ममत्वभाव होता है उसके त्यागपूर्वक परिग्रह के त्याग को परिग्रहविरत कहते हैं। 'ये मेरे नहीं हैं' और न मैं इनका हूं' इसका मतलब है कि न मैं इनका स्वामी और भोक्ता हूं, और न ये मेरे स्वत्व और भोग्य हैं। इस संकल्पपूर्वक परिग्रह का त्याग किया जाता है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने भी कहा है कि दस प्रकार के बाह्यपरिग्रहों में ममत्वभाव को छोड़कर निर्ममत्वभाव में मग्न सन्तोषी श्रावक परिग्रहविरत है। चारित्रसार में कहा है कि परिग्रह क्रोधादि कषायों की, आर्त और रौद्रध्यान की, हिंसादि पांच पापों की, तथा भय की जन्मभूमि है यह धर्म और शुक्लध्यान को पास भी नहीं आने देता, ऐसा मानकर दस प्रकार के बाह्यपरिग्रह से निवृत्त सन्तोषी श्रावक परिग्रह त्यागी होता है।

किन्तु **आचार्य वसुनन्दी** कहते हैं कि जो वस्त्र मात्र परिग्रह के अतिरिक्त शेष सब परिग्रह को छोड़ देता है, और वस्त्र में भी ममत्व नहीं करता वह नवम प्रतिमा का धारी श्रावक है।

लाटी संहिता में कहा है—जिसमें स्वर्ण आदि द्रव्य का सर्वथा त्याग माना गया है वह गृहस्थ नवमी प्रतिमावाला है। इसके पहले स्वर्ण आदि की संख्या घटायी मात्र थी, अब केवल अपने एक शरीर के लिए वस्त्र, मकान आदि स्वीकृत है। अथवा धर्म के साधन मात्र स्वीकार हैं। शेष सब छोड़ देता है। इससे पहले मकान, स्त्री आदि का स्वामी था, अब वह निशल्य होकर जीवन पर्यन्त के लिए सब प्रकार से छोड़ देता है। ग्रन्थकार ने 'सन्तोषपरः' विशेषण दिया है क्योंकि बाह्यपरिग्रह के त्याग का कारण सन्तोष है। जब तक सन्तोष नहीं होता तब तक त्याग नहीं हो सकता।

जितना भी परिग्रह उसने अपने लिए निश्चित किया है, उसमें ही सन्तुष्ट होकर अपने व्रतों की रक्षा कर सकता है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान से सम्पन्न नवम प्रतिमाधारी श्रावक समस्त चेतन-अचेतन परिग्रह को छोड़कर ममत्वभाव से होने वाले संयम में शिथिलता को दूर करने के लिए उपेक्षा का चिन्तन करते हुए कुछ समय तक घर में रहे। इस प्रकार से वह उदासीनता का अभ्यास करते हुए कुछ समय तक घर में रहता है। ममत्वभाव होने से ही अभी वह आरम्भ आदि में पुत्र आदि को अनुमति देता है। अपने शरीर को ढकने के लिए मात्र वस्त्र धारण करता है किन्तु उसमें भी मूर्च्छा नहीं रखता ।।२४।।१४५।।

साम्प्रतमनुमतिविरतिगुणं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह—

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसु वा ।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ।।२५।।

सोऽनुमतिविरतो मन्तव्यः यस्य खलु स्फुटं नास्ति । काऽसौ ? अनुमतिरभ्युपगमः । क्व ? आरम्भे कृष्यादौ । वा शब्दः सर्वत्र परस्परसमुच्चयार्थः । परिग्रहे वा धान्यदासीदासादौ । ऐहिकेषु कर्मसु वा विवाहादिषु । किंविशिष्टः समधीः रागादि रहित बुद्धिः ममत्वरहित बुद्धिर्वा ।।२५।।

अब श्रावक के अनुमति त्याग गुण का वर्णन करते हुए कहते हैं—

(खलु) निश्चय से (आरम्भे) खेती आदि के आरम्भ में (वा) अथवा (परिग्रहे) परिग्रह में (वा) अथवा (ऐहिकेषु कर्मसु) इस लोक सम्बन्धी कार्यों में (यस्य) जिसके (अनुमतिः) अनुमोदना (न अस्ति) नहीं है वह (समधीः) समान बुद्धि का धारक (अनुमतिविरतः) अनुमतित्याग प्रतिमाधारी (मन्तव्यः) माना जाना चाहिए ।

टीकार्थ—जो खेती आदि आरम्भ और धन-धान्य-दासी-दास आदि परिग्रह तथा इस लोक सम्बन्धी विवाह आदि कार्यों में अनुमति नहीं देता है तथा इष्ट, अनिष्ट पदार्थों में समभाव रखता हुआ रागादि रहित होता है, उसे अनुमतित्याग प्रतिमा का धारक जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि आरम्भ-परिग्रह और विवाह आदि ऐहिक कार्यों में जिसकी अनुमति नहीं है उसे अनुमतिविरत जानो। **चारित्रसार** में आहार आदि आरम्भों में अनुमति न देने वाले को अनुमति विरत कहा है। आचार्य वसुनन्दी ने कहा है जो स्वजनों और परजनों के पूछने पर भी अपने गृह सम्बन्धी कार्यों में अनुमति नहीं देता है, वह अनुमति विरत है। **'लाटी संहिता'** में भी ऐसा ही कहा है।

इसकी विशेष विधि कहते हैं—

यह अनुमतिविरत श्रावक चैत्यालय में रहकर स्वाध्याय करे। मध्याह्नकाल की वन्दना के पश्चात् बुलाने पर अपने पुत्रादि के या जिस किसी धार्मिक के घर भोजन करे।

आरम्भत्याग प्रतिमा में तो नया धन कमाने का त्याग करता है, परिग्रहत्याग प्रतिमा में परिग्रह के स्वामित्व का त्याग करता है। तथा अनुमतित्याग प्रतिमा में उत्तराधिकारी पुत्र या बन्धु आदि किसी भी व्यापार या गृह कार्यों में सलाह नहीं देता है, चाहे हानि हो या लाभ वह तो मध्यस्थभाव से रहता है, चित्त में हर्ष-विषाद नहीं करता। एक बार ही भोजन-पान करता है। इस प्रतिमा का धारी पारलौकिक धार्मिक कार्यों में अनुमति दे सकता है। ऐसा समभावी अनुमतित्याग दशम प्रतिमा का धारक होता है।

ज्ञानाचार आदि पांच आचारों के पालने में तत्पर दशम प्रतिमाधारी श्रावक घर से निकलने की इच्छा हो जाने पर गुरुजन, बन्धु-बान्धव और पुत्रादि से यथायोग्य पूछे। प्रवचनसार के चारित्र प्रकरण के प्रारम्भ में अमृतचन्द्राचार्य ने अध्यात्म शैली में इसकी विधि कही है, वहां से देखना चाहिए।

इस प्रकार दार्शनिक आदि नैष्ठिक श्रावकों में मुख्य अनुमति विरत श्रावक घर त्यागने पर्यन्त की चर्या को समाप्त करके आत्मशोधन के लिये ग्यारहवें उद्दिष्ट विरत स्थान को प्राप्त करे ॥२५॥१४६॥

इदानीमुद्दिष्टविरति लक्षणगुणयुक्तत्वं श्रावकस्य दर्शयन्नाह—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥ २६ ॥

उत्कृष्ट उद्दिष्टविरति लक्षणैकादशगुणस्थानयुक्तः श्रावको भवति । कथंभूतः ? चेलखण्डधरः कौपीनमात्रवस्त्रखण्डधारकः आर्यलिंगधारीत्यर्थः । तथा भैक्ष्याशनो भिक्षाणां समूहो भैक्ष्यं तदश्नातीति भैक्ष्याशनः । किं कुर्वन् ? तपस्यन् तपः कुर्वन् । किं कृत्वा ? परिगृह्य गृहीत्वा । कानि ? व्रतानि । क्व ? गुरूपकण्ठे गुरुसमीपे । किं कृत्वा ? इत्वा गत्वा । किं तत् ? मुनिवनं मुन्याश्रमं । कस्मात् ? गृहतः ॥२६॥

अब श्रावक उद्दिष्टत्याग गुण से युक्त होता है, वह दिखलाते हुए कहते हैं—

जो (गृहतो) घर से (मुनिवनं) मुनियों के वनको (इत्वा) जाकर (गुरूपकण्ठे) गुरु के पास (व्रतानि) व्रत (परिगृह्य) ग्रहण कर (भैक्ष्याशनः) भिक्षा भोजन करता हुआ (तपस्यन्) तपश्चरण करता है तथा (चेलखण्डधरः) एक वस्त्र-खण्ड को धारण करता है वह (उत्कृष्टः) उत्कृष्ट श्रावक है ।

टीकार्थ—उद्दिष्टत्याग नामक ग्यारहवीं प्रतिमा का धारी श्रावक उत्कृष्ट कहलाता है । यह कौपीन-लंगोट, मात्र खण्डवस्त्र का धारक होता है । 'भिक्षाणां समहो भैक्ष्यं' इस प्रकार समूह अर्थ में अण् प्रत्यय होने से भैक्ष शब्द बना है । इस प्रतिमा का धारी भिक्षा से भोजन करता है । अर्थात मुनियों की तरह गोचरी के लिए निकलता है । अथवा किसी पात्र में गृहस्थों के घरों से उदरपूर्ति के योग्य भोजन एकत्र करता है और अन्त में एक श्रावक के घर में जलादि लेकर भोजन करता है । इस प्रतिमा का धारक घर छोड़कर मुनियों के पास मुनि आश्रम में चला जाता है और व्रतों को धारण करता है ।

विशेषार्थ—उद्दिष्टविरत उत्कृष्ट श्रावक अपने उपदेश से बना भोजन ग्रहण नहीं करता । ग्यारहवीं प्रतिमाधारी का मोह अभी किंचित् जीवित है उसी का यह फल है कि वह पूर्ण जिनरूप मुनिमुद्रा धारण करने में असमर्थ है । दशम और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक उत्कृष्ट है, फिर भी ग्यारहवीं प्रतिमाधारी को एवंभूतनय से उत्कृष्ट कहा है और अनुमतिविरत को नैगमनय से उत्कृष्ट कहा है । अर्थात् ग्यारहवीं प्रतिमावाला तो वर्तमान में उत्कृष्ट है, किन्तु अनुमतिविरत आगे उत्कृष्ट होने वाला है, इस दृष्टि से उत्कृष्ट है । इस प्रतिमा का धारक अपने उद्देश्य से बना भोजन स्वीकार नहीं करता है, इसका अभिप्राय है कि वह नवकोटि से विशुद्ध भोजन को ही स्वीकार करता है । तथा भोजन की तरह अपने उद्देश्य से निर्मित उपधि, शय्या आसन आदि को भी स्वीकार नहीं करता ।

आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने प्रत्येक प्रतिमा का स्वरूप केवल एक श्लोक में ही कहा है। उन्होंने इस उत्कृष्ट श्रावक का भी स्वरूप एक श्लोक से ही कहा है कि घर से मुनियों के निकट वन में जाकर गुरु के पास व्रत ग्रहण करके जो भिक्षा भोजन करता है, तपस्या करता है, और खण्डवस्त्र धारण करता है वह उत्कृष्ट श्रावक है।

चारित्रसार पृ० १९ पर कहा है—उद्दिष्टविरत श्रावक अपने उद्देश्य से बनाये गये भोजन, उपधि, शय्या, वस्त्र आदि ग्रहण नहीं करता। एक वस्त्र धारण करता है, भिक्षाभोजी है, दिन में एक बार बैठकर हस्तपुट में भोजन करता है। रात्रि में प्रतिमा-योग धारण करता है, आतापन आदि योग धारण नहीं करता।

आचार्य अमितगति ने कहा है कि उत्कृष्टश्रावक वैराग्य की परमभूमि और संयम का घर होता है। यह सिर दाढ़ी और मूंछ के बालों का मुण्डन करता है। मात्र लंगोटी (ऐलक) या फिर लंगोटी और चादर (क्षुल्लक) रखता है। एक ही स्थान पर अन्न, जल ग्रहण करता है। यह पात्र हाथ में लेकर धर्म लाभ कहकर घर-घर से भिक्षा याचना करता है। इस प्रकार अमितगति के अनुसार उत्कृष्ट श्रावक या तो अकेली लंगोटी रखता है या खण्ड वस्त्र के साथ लंगोटी रखता है। आचार्य वसुनन्दी के श्रावकाचार में इसी आधार पर उसके दो भेद किये हैं प्रथम उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक एक लंगोटी और एक उत्तरीय वस्त्र धारण करता है अर्थात् खण्डवस्त्र जिससे सिर से पैर तक पूरा अंग न ढ़के। मस्तक ढके तो पैर न ढके, और पैर ढके तो मस्तक न ढके, उसे खण्डवस्त्र कहते हैं। वह अपने दाढ़ी मूंछ और सिर के बालों को कैंची या छूरे से कटावे। जीव-जन्तुओं की रक्षा के लिए कोमल वस्त्र या मयूर-पिच्छी से स्थान, उपकरण आदि को मार्जन करके उठावे, रखे। निश्चल बैठकर पात्र में भोजन करे, तथा हाथ में पात्र लिये हुए श्रावक के घर जाकर उसके आंगन में खड़े होकर 'धर्मलाभ' कहकर भिक्षा की प्रार्थना करे। अथवा मौनपूर्वक अपना शरीर श्रावक को दिखाकर भिक्षा के मिलने या न मिलने में समभाव रखते हुए शीघ्र ही उस घर से दूसरे घर में आ जावे। अपनी उदरपूर्ति के लायक भिक्षा मिलने पर जहां प्रासुक जल प्राप्त हो वहां शोधन कर भोजन कर लेवे। आचार्य वसुनन्दी ने कहा है कि यदि इस प्रकार घर-घर भिक्षा मांगना न रुचे तो एक घर में ही मुनियों के पश्चात् दाता के घर जाकर भोजन करे। अन्तराय आने पर भोजन-पान का त्याग करे। दूसरा उत्कृष्ट श्रावक ऐलक है, इसकी चर्या क्षुल्लक के समान ही है। किन्तु ऐलक मात्र लंगोट रखते हैं, सिरके, दाढ़ी-मूंछ के बालों को हाथों से उखाड़ते हैं, एषणा के दोषों

से रहित करपात्र में ही भोजन करते हैं, ये मुनि के समान मयूरपिच्छी और कमण्डलु रखते हैं। ये सभी परस्पर 'इच्छामि' उच्चारण द्वारा विनय व्यवहार करते हैं। ये दोनों ही क्षुल्लक, ऐलक, रेल, मोटर आदि वाहन में बैठकर यात्रा नहीं करते हैं, पैदल विहार करते हैं। इसी प्रकार स्त्रीपर्याय में भी दो उत्कृष्ट पद हैं। एक आर्यिका पद दूसरा क्षुल्लिका का पद। क्षुल्लिका सोलह हाथ की सफेद साड़ी और चद्दर रखती है इस प्रकार दो वस्त्र रखने की आज्ञा है। आर्यिका सोलह हाथ की एक साड़ी धारण करती है इसे उपचार से महाव्रती कहा है। क्षुल्लिका की सब क्रिया क्षुल्लक के समान ही है ॥ २६ ॥ १४७ ॥

तप: कुर्वन्नपि यो ह्यागमज्ञ: सन्नेवं मन्यते तदा श्रेयोज्ञाता भवतीत्याह—

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति ॥२७॥

यदि समयं आगमं जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा ध्रुवं निश्चयेन श्रेयोज्ञाता उत्कृष्टज्ञाता स भवति। किं कुर्वन् ? निश्चिन्वन्। कथमित्याह—पापमित्यादि—पापमधर्मोऽराति: शत्रुर्जीवस्यानेकापकारकरत्वात् धर्मश्च बन्धुर्जीवस्यानेकोपकारकत्वादित्येवं निश्चिन्वन्।

जो आगम का ज्ञाता तप करता हुआ ऐसा मानता है वही श्रेष्ठ ज्ञाता होता है, यह कहते हैं—

(पापम्) पाप ही (जीवस्य) जीवका (अराति) शत्रु है और (धर्म:) धर्म ही जीवका (बन्धु:) हितकारी है (इति) इस प्रकार (निश्चिन्वन्) निश्चय करता हुआ वह श्रावक (यदि) (समयं) आगम को (जानीते) जानता है तो वह (ध्रुवं) निश्चय से (श्रेयोज्ञाता) श्रेष्ठज्ञाता अथवा कल्याण का ज्ञाता (भवति) होता है।

टीकार्थ—यदि श्रावक आगम को जानने वाला है तो उसको यह निश्चय है कि पाप-अधर्म-मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र जीव का शत्रु है क्योंकि यह अनेक प्रकार से अपकार करने वाला है और धर्म-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्ररूप परिणति अनेक उपकार का कारण होने से जीव की बन्धु है। तब वह श्रेष्ठ ज्ञाता होता है।

विशेषार्थ—संसार में इस जीव को दु:ख देने वाला अन्य कोई शत्रु नहीं है, अपने ही विषय-कषायादिक विभाव भावों से पापकर्मों का उपार्जन होता है और उसके

फलस्वरूप अनेक प्रकार के शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक दुःख मिलते रहते हैं। इसलिये जीव का शत्रु पाप है। अन्य बाह्यद्रव्य तो निमित्तमात्र हैं। जो कोई भी अन्य जन दुर्वचन बोलते हैं, या धन, दौलत अथवा आजीविका का हरण करने वाले हैं, मारने वाले, वध-बन्धन में डालने वाले हैं, वे तो मात्र निमित्त हैं वास्तव में, तो मेरे अपने पाप कर्म के उदय से सभी प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं। किन्तु अज्ञ प्राणी आगम वचनों पर श्रद्धा नहीं करके बाह्यनिमित्तों में ही हर्ष-विषाद करता रहता है।

इसी प्रकार इस जीव का धर्म के समान कोई उपकारक बन्धु नहीं है। अज्ञानी प्राणी पुण्यकर्म के उदय के बिना अन्य को उपकारक मानता है। आगम ज्ञान से तो चारित्र की शोभा है, चारित्र से ज्ञान की शोभा है, इसलिये श्रावकों को चाहिए कि वे ज्ञान की वृद्धि के लिए आगम का सतत अभ्यास करें। क्योंकि आगम का ज्ञाता ही ऐसा श्रद्धान कर सकता है कि जीवका शत्रु पाप है और बन्धु धर्म है। क्योंकि सुख-दुःख के साक्षात् कारण ये ही हैं, अतः बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करना मेरा कर्त्तव्य नहीं है। ऐसा निश्चय करने से वह श्रेष्ठ ज्ञाता कहलाता है ।।२७।१४८।।

इदानीं शास्त्रार्थानुष्ठातुः फलं दर्शयन्नाह—

येन स्वयं वीतकलंक विद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्ड भावं।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ।।२८।।

येन भव्येन स्वयं आत्मा स्वयंशब्दोऽत्रात्मवाचकः नीतः प्रापितः। कमित्याह– वीतेत्यादि, विशेषेण इतो गतो नष्टः कलंको दोषो यासां ताश्च ता विद्यादृष्टि क्रियाश्च ज्ञानदर्शनचारित्राणि तासां करण्डभावं तं भव्यं आयाति आगच्छति। कासौ? सर्वार्थसिद्धिः धर्मार्थकाममोक्षलक्षणार्थानां सिद्धिर्निष्पत्तिः कर्त्री। कयेवायाति? पतीच्छयेव स्वयम्बर विधानेच्छयेव। क्व? त्रिषु विष्टपेषु त्रिभुवनेषु ।।२८।।

अब शास्त्र के अध्ययन का फल दिखलाते हुए कहते हैं—

(येन) जिसने (स्वयं) अपने आत्मा को (वीतकलंकविद्यादृष्टिक्रियारत्न-करण्डभावम्) निर्दोष ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप रत्नों के करण्डभाव-पिटारापने को (नीतः) प्राप्त कराया है, (तं) उसे (त्रिषुविष्टपेषु) तीनों लोकों में (पतीच्छयेव) पति की इच्छा से ही मानों (सर्वार्थसिद्धिः) धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप समस्त अर्थों की सिद्धि (आयाति) प्राप्त होती है।

टीकार्थ—यहां पर स्वयं शब्द आत्मा का वाचक है। जिसके कलंकदोष विशेषरूप से नष्ट हो गये हैं उसे वीतकलंक कहते हैं। यह वीतकलंक विशेषण विद्या-ज्ञान-दृष्टि-दर्शन और क्रिया-चारित्र इन तीनों के साथ लगता है। जिस भव्य ने अपनी आत्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी रत्नों का करण्ड-पिटारा बनाया है अर्थात् जिसकी आत्मा में ये प्रकट हो गये हैं उसे सर्व अर्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप समस्त अर्थों की सिद्धि उस प्रकार हो जाती है जिस प्रकार पति की इच्छा रखने वाली कन्या स्वयंवर विधान में अपनी इच्छा से पति को प्राप्त करती है।

विशेषार्थ—जिस पुरुष ने अपनी आत्मा को कलंक यानी अतिचार रहित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नों के लिए पिटारे स्वरूप बनाया है। अर्थात् रत्नत्रय धारण करने का पात्र बनाया है उसे तीनों लोकों की सर्वोत्कृष्ट अर्थ की सिद्धि स्वयमेव प्राप्त हो जाती है।

जब तक रत्नत्रय की ऐक्य परिणतिरूप निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती उसके पहले व्यवहार रत्नत्रय जघन्य भाव को प्राप्त होता है क्योंकि उसके साथ रागांश की बहुलता पायी जाती है, इसलिये वह देवायु आदि पुण्य प्रकृतियों के बन्ध का कारण कहा गया है परमार्थ से पुण्य प्रकृतियों के बन्ध का कारण रत्नत्रय के साथ रहने वाला रागांश ही है, रत्नत्रय नहीं। जैसे गर्म घी जला देता है, किन्तु वास्तव में घी नहीं जलाता, जलाने वाली तो वह अग्नि है जिसने घी को गर्म कर दिया है। उसी प्रकार रत्नत्रय बन्ध का कारण नहीं है किन्तु उसके साथ रहने वाला रागांश बन्ध का कारण है।

इस प्रकार जघन्य भावको प्राप्त हुआ रत्नत्रय, धर्म अर्थ और काम का साधक है और उत्कृष्ट रत्नत्रय मोक्षका साधक है। इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कथा या उसी धर्म का फल यहां अन्त में बतलाया है। तथा ग्रन्थ का नाम भी सूचित किया है ॥ २८ ॥ १४९ ॥

रत्नकरण्डकं कुर्वतश्च मम यासौ सम्यक्त्व सम्पत्तिर्वृद्धिगता सा एतदेव कुर्यादित्याह—

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव,
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु।

कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता-
ज्जिनपति पद पद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥२६॥

मां सुखयतु सुखिनं करोतु । कासौ ? दृष्टिलक्ष्मीः सम्यग्दर्शनसम्पत्तीः । किंविशिष्टेत्याह—जिनेत्यादि जिनानां देशतः कर्मोन्मूलकानां गणधरदेवादीनां पतयस्तीर्थंकरास्तेषां पदानि सुबन्ततिङन्तानि पदा वा तान्येव पद्मानि तानि प्रेक्षते श्रद्दधातोत्येवंशीला । अयमर्थः—लक्ष्मीः पद्मावलोकनशीला भवति, दृष्टिलक्ष्मीस्तु जिनोक्तपदपदार्थ प्रेक्षणशीलेति । कथंभूता सा ? सुखभूमिः । सुखोत्पत्तिस्थानं । केव कं ? कामिनं कामिनीव यथा कामिनी कामभूमिः कामिनं सुखयति तथा मां दृष्टिलक्ष्मीः सुखयतु । तथा सा मां भुनक्तु रक्षतु । केव ? सुतमिव जननी । किंविशिष्टा ? शुद्धशीला जननी हि शुद्धशीला सुतं रक्षति नाशुद्ध शीला दुश्चारिणी । दृष्टिलक्ष्मीस्तु गुणव्रत शिक्षाव्रत लक्षणशुद्ध सप्तशीलसमन्विता मां भुनक्तु । तथा सा मां सम्पुनीतात् सकलदोषकलंकं निराकृत्य पवित्रयतु । किमिव ? कुलमिव गुणभूषा कन्यका । अयमर्थः कुलं यथा गुणभूषा गुणाऽलंकारोपेता कन्या पवित्रयति श्लाघ्यतां नयति तथा दृष्टिलक्ष्मीरपि गुणभूषा अष्टमूल गुणैरलंकृता मां सम्यक्पुनीतादिति ॥२६॥

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतम्,
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः ।
सश्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको,
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमान् प्रभेन्दुर्जिनः ॥१॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामी विरचितोपासकाध्ययनटीकायां पंचमः परिच्छेदः ।

समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि 'रत्नकरण्डक' ग्रन्थ की रचना करते हुए मेरी जो यह सम्यक्त्वरूप सम्पत्ति वृद्धि को प्राप्त हुई है वह, यही कार्य करे; यह कहते हैं—

(जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी) जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों का दर्शन करने वाली (दृष्टिलक्ष्मीः) सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी (सुखभूमिः) सुखकी भूमि होती हुई (मां) मुझे उस तरह (सुखयतु) सुखी करे जिस तरह कि (सुखभूमिःकामिनी कामिनमिव) सुख की भूमि कामिनी कामी पुरुष को सुखी करती है । (शुद्धशीला) निर्दोष शील-तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत से युक्त होते हुए (मां) मुझे उस तरह (भुनक्तु) रक्षित करे जिस तरह कि (शुद्धशीला जननी सुतमिव) निर्दोष शील—

पातिव्रत धर्म का पालन करने वाली माता पुत्र को रक्षित करती है। और (गुणभूषा) मूलगुणरूपी अलंकारों से युक्त होती हुई (मां) मुझे उस तरह (संपुनीतात्) पवित्र करे जिस प्रकार कि (गुणभूषाकन्यका कुलमिव) शीलसौन्दर्य आदि गुणों से युक्त कन्या कुल को पवित्र करती है।

टीकार्थ—'जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी' इस शब्द में जो पद शब्द है उसके दो अर्थ हैं—एक सुबन्त, तिङन्तरूप पद शब्द समूह, और दूसरा चरणकमल। यह अर्थ इस प्रकार है--तीर्थंकरभगवन्त के शब्द रूप कमलों का श्रद्धान करने वाली, अथवा तीर्थंकर भगवान के चरण कमलों का अवलोकन करने वाली अर्थात् उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखने वाली सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मुझे सुखी करे। जिस प्रकार विषयसुख की भूमि कामिनी कामीपुरुष को सुखी करती है, उसी प्रकार आत्मोत्थसुख की भूमि सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मुझे सुखी करे। जिस प्रकार शुद्धशीला-निर्दोष सदाचारिणी माता अपने निर्दोष पुत्र की रक्षा करती है, किन्तु दुराचारिणी माता नहीं। उसी प्रकार शुद्धशीला–निरतिचार गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप सप्तशील से युक्त सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मेरी रक्षा करे। तथा जिस प्रकार गुणभूषा–शील, अलंकारों आदि से विभूषित कन्या अपने कुल को पवित्र एवं प्रशंसनीय बनाती है, उसी प्रकार गुणभूषा–अष्टांग आदि से युक्त सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मुझे अच्छी तरह पवित्र करे, मुझे कर्मकलंक से रहित करे।। २६ ।।

येनाज्ञानतमो इति—जिन्होंने भव्य जीवों के चित्त में स्थित समस्त अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट कर दिया है, तथा सम्यग्ज्ञानरूपी किरणों के द्वारा समस्त गृहस्थ धर्मरूप मार्ग को प्रकट किया है, जो श्री रत्नत्रयरूप पिटारे को प्रकाशित करने के लिए सूर्य हैं पक्ष में भाव से कर्ता होने के कारण रत्नकरण्ड नामक ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिए सूर्य हैं। संसाररूपी नदी को सुखाने वाले हैं। समन्तभद्र–कल्याणों से परिपूर्ण मुनियों की रक्षा करने वाले हैं। पक्ष में इस ग्रन्थ के कर्त्ता समन्तभद्रस्वामी के रक्षक हैं। अनन्तचतुष्टयरूप श्री से सहित हैं तथा प्रभा–कान्ति से जो चन्द्रमा हैं ऐसे जिनेन्द्र देव जयवन्त रहें।

विशेषार्थ—इस लोक में सम्पूर्णदर्शनरूपी लक्ष्मी से ही अपने आपको सुखी करने, रक्षित करने और पवित्र करने की प्रार्थना की गई है। क्योंकि सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी प्राप्त होने के पश्चात् ही समीचीन ज्ञान और देशव्रत और महाव्रत का समारोप हो सकता है, जिसको देशचारित्र और सकलचारित्र कहा जाता है। अनादिकाल से

यह जीव आत्मनिधि को भूलकर चतुर्गतिरूप संसार में भटकता हुआ अनन्तदुःख उठा रहा है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को अपने गुप्त गड़े हुए धन का भान न होने से वह एक भिखारी के समान दुःखी होता रहता है किन्तु धन का पता लगते ही वह अपने को सेठ समझने लगता है, तथा उसका दुःख दारिद्रय समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार वास्तविकरूप से जीव को अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान-भान हो जाता है तो अज्ञान जनित सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं।

जिस प्रकार खेत की रक्षा के लिए बाड़ लगाई जाती है, उसी प्रकार अणुव्रतों की रक्षा के लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप सप्त शीलों की बाड़ लगाई जाती है। इन बारह व्रतों का परिपालन करने वाला देशव्रती कहलाता है। यह सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी जब देशव्रत से सहित होती है तब इस जीव को नरक तिर्यंच गति के दुःखों से छुटकारा मिल जाता है।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कर्मकाण्ड गाथा ३३४ में कहा है—'अणुवदमह-व्वदाइं ण लहदि देवाउगं मोत्तुं' देवायु के बिना अन्य तीन आयु का बन्ध होने पर जीव अणुव्रत, महाव्रत धारण नहीं कर सकता है। अर्थात् अणुव्रती देवायु का ही बन्ध करता है। इसलिए स्वर्ग सुखों को प्राप्त कर लेता है, पश्चात् वहां से आने पर उसे मनुष्यगति प्राप्त होती है। सम्यग्दृष्टि जीव जब तक मोक्ष नहीं जाता तब तक देव और मनुष्य इन दो गतियों में संचरण करता रहता है, नरक–तिर्यंचगति के दुःखों से उसकी सुरक्षा होती रहती है। और जब वही जीव महाव्रतों का परिपालन करता है, अर्थात् सकलसंयम का धारक हो जाता है तो उसके चारित्र में सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करने का सामर्थ्य आ जाता है। समन्तभद्रस्वामी ने भी अपनी आत्मा को द्रव्यकर्म, भावकर्म रहित निष्कलंक बनाने की भावना व्यक्त की है और यह अवस्था सम्यग्दर्शन सहित सम्यक्चारित्र के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्मी में ही तीनों रत्न समाविष्ट हो सकते हैं ॥२६॥१५०॥

इस प्रकार प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा विरचित, समन्तभद्रस्वामी द्वारा विरचित
उपासकाध्ययन की टीका में पञ्चम परिच्छेद सल्लेखना
प्रतिमाधिकार पूर्ण हुआ ॥ ५ ॥

*** समाप्त ***